भाषा-विज्ञान समीक्षा

अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-६

आलोचनात्मक अध्ययन

भाषा-विज्ञान समीक्षा

(भाषा-विज्ञान विषय पर सर्वांगपूर्ण पुस्तक)

नवीन संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण

लेखक :

प्रो० हेमदेव शर्मा, एम० ए०

प्रकाशक

अशोक प्रकाशन

नई सड़क, दिल्ली-6

प्रकाशक
अशोक प्रकाशन
नई सड़क, दिल्ली-6
फोन-3262976

नवीन संस्करण : 2002
मूल्य : 5.0.00

मुद्रक : ग्लोब ऑफसेट प्रिन्टर्स, 1165, टोकरीवालान
गाटिया महल, दिल्ली-6.

नवीन संस्करण

भाषा-विज्ञान के संस्करण का हाथों-हाथ बिक जाना ही
इसकी उपयोगिता का प्रमाण है। अतः हम उत्साहपूर्वक
इस पुस्तक का संशोधित एवं परिवर्धित
संस्करण भाषा-विज्ञान के पाठकों के समक्ष
प्रस्तुत कर रहे हैं। हमें विश्वास है
कि यह संस्करण अपेक्षाकृत
अधिक उपादेय सिद्ध
होगा।

—प्रकाशक

विषय-सूची

परिशिष्ट

परिशिष्ट

प्रश्न १—भाषा विज्ञान की परिभाषा दीजिए। वह कला है अथवा विज्ञान?

भाषा-विज्ञान

भाषा-विज्ञान दो शब्दों से निर्मित है—भाषा और विज्ञान। भाषा मनुष्य के परस्पर विचार-विनिमय का साधन है। मानव अपने कतिपय ध्वनि-यंत्रों का प्रयोग कर उनसे कई प्रकार की ध्वनियों का उच्चारण कर उनके द्वारा अपने भावों तथा विचारों का प्रकाशन करता हैं। यह विचार-विनिमय और भाव-प्रकाशन प्राय: ध्वन्यात्मक रूप में होता है। विज्ञान का अर्थ शास्त्रीय ज्ञान तथा अध्ययन है। विज्ञान का कार्य किसी वस्तु का सम्यक् परीक्षण करना, सिद्धांत निर्धारित करता तथा कारणों का पूर्ण समाधान करना हैं। भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करना भाषा-विज्ञान का प्रमुख कार्य है। भाषा-विज्ञान या भाषा-शास्त्र मानव-भाषा के समस्त रूपों, चाहे वे सभ्य या असभ्य जातियों के द्वारा प्रयुक्त होते हों, विकसित या अविकसित स्थिति में हों उन सबका सम्यक् विवेचन करता है। एक भाषा-वैज्ञानिक किसी भाषा का अध्ययन उस की भाव-व्यंजना का साधन मानकर करता है। वह एक ओर प्रागैतिहासिक काल की भाषा का अध्ययन करता हैं; दूसरी ओर प्राचीन भाषाओं, देशी प्राकृत रूपों तथा आधुनिक प्रचलित भाषाओं एवं विभाषाओं का अध्ययन करता है।

भाषा-विज्ञान का अध्ययन करने की प्राय: तीन प्रणालियाँ पाई जाती हैं—

१. वर्णनात्मक या विवरणात्मक प्रणाली।

२. ऐतिहासिक प्रणाली।

३. तुलनात्मक प्रणाली।

विवरणात्मक प्रणाली में प्राय: जीवित भाषाओं का ही अध्ययन होता है, प्राचीन भाषा भी इस क्षेत्र में आ सकती है। इस पद्धति के अन्तर्गत किसी

निश्चित काल में किसी भाषा में कौन-कौन् सी ध्वनियां थीं (या हैं) उनकी प्राकृतिक प्रवृत्तियां क्या थीं, किस प्रकार के रूपों का प्रयोग होता था, उनकी पद-रचना तथा वाक्य-गठन की क्या परिपाटी थी ?—आदि का समीक्षात्मक परिचय उपस्थित किया जाता है। भाषा-विज्ञान के विद्वान् इस प्रणाली में भाषा के ध्वनि, रूप, वाक्य तथा संघटना का अध्ययन करते हैं।

भाषा-विज्ञान के अध्ययन की दूसरी रीति ऐतिहासिक है। किसी भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन करते समय हम विवरणात्मक प्रणाली की सर्वथा अवहेलना नहीं कर सकते क्योंकि ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान एक प्रकार से किसी भाषा के विभिन्न कालों का विवरणात्मक अध्ययन का परिणाम है। कालानुसार भाषा में परिवर्तन या विकार होते रहते हैं। इस विकार के कारण या दशाएँ क्या हैं ? परिस्थितियों के भाषा परिवर्तन में योग क्या है ? ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान इन सभी प्रश्नों का समाधान उपस्थित करता है। इसमें भाषा के पूरे जीवन, उसके इतिहास और विकास पर ध्वनि, रूप आदि की दृष्टि से विचार किया जाता है।

तुलनात्मक प्रणाली भाषा-अध्ययन का तीसरा मार्ग है। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके कारण भाषा-विज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक हो गया है। इस प्रणाली में किसी भाषा के ऐतिहासिक तथा वर्णनात्मक दोनों पद्धतियों के अध्ययन को प्रस्तुत करते हुए सभी देशों एवं सभी वर्गों की भाषाओं का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया जाता है। उपर्युक्त दोनों पद्धतियों का समाहार तथा समन्वय इस तुलनात्मक पद्धति की विशेषता है। इसमें ऐतिहासिक या पद-रचना की दृष्टि से परस्पर सम्बन्धित दो या अधिक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। यही नहीं, विभिन्न प्रकृति की भाषाओं की तुलना भी इसके अन्तर्गत की जा सकती है। परन्तु अधिकांश तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग एक ही परिवार या वंश से सम्बद्ध भाषाओं की ध्वनियों, पदरचना, शब्द-कोश तथा वाक्य-रचना के साम्य और वैषम्य के अध्ययन के लिए किया जाता है। यह एक ही भाषा के परवर्ती रूपों के साथ तुलनात्मक दृष्टि से किया गया हो या अनेक भाषाओं के साथ। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश या ब्रजभाषा, अवधी खड़ी बोली का तुलनात्मक अध्ययन एक कोटि का होगा; संस्कृत, ग्रीक तथा लेटिन का दूसरी श्रेणी

का। ऐतिहासिक क्रम को ध्यान में रखते हुए एक साथ अनेक भाषाओं की विकसित दशा का भी तुलनात्मक परिचय किया जाता है।

भाषा-विज्ञान के अध्ययन के दो रूप हैं—एक तो भाषाओं का वर्णनात्मक, तुलनात्मक या ऐतिहासिक अध्ययन और दूसरे अध्ययन के आधार पर भाषा की उत्पत्ति, उसकी प्रारम्भिक अवस्था, उसके विकास तथा गठन के सम्बन्ध में सामान्य सिद्धांतों का अध्ययन और निर्धारण। ये दोनों रूप एक दूसरे के सहायक हैं।

परिभाषा

डॉ० श्यामसुन्दरदास—'भाषा-विज्ञान भाषा की उत्पत्ति, उसकी बनावट तथा उसके ह्रास की व्याख्या करता है।'

—भाषा-रहस्य

'सच पूछा जाय तो विना तुलना के अध्ययन वैज्ञानिक हो ही नहीं सकता इसी तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को ही भाषा-विज्ञान कहते हैं।'

—भाषा-विज्ञान

डॉ० भोलानाथ तिवारी—'भाषा-विज्ञान वह विज्ञान है जिसमें भाषा—विशिष्ट, कई और सामान्य का वर्णनात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन और तद्विषयक सिद्धांतों का निर्धारण किया गया हो।'

डॉ० गुणे—'किसी विशिष्ट परिवार के तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का ध्येय उस परिवार की भाषाओं की पारस्परिक समानताओं को ज्ञात करना तथा उनकी व्याख्या करना है।'

भाषा-विज्ञान विज्ञान है या कला

जैसा कि भाषा-विज्ञान नाम से विदित होता है कि यह भाषा का विज्ञान है, कोई व्यक्ति सहज ही अनुमान कर सकता है कि यह अवश्य ही विशुद्ध रूप में विज्ञान है। परन्तु विज्ञान में विशेष ज्ञान के अतिरिक्त कुछ अन्य विशेषताएँ भी हैं। समुचित रूप में विज्ञान का कार्य किसी वस्तु का सम्यक् परीक्षण करना, कारणों का पता लगाना तथा तुलना तथा प्रयोग के द्वारा सिद्धांत निश्चित करना है। ये नियम तथा सिद्धांत सार्वभौतिक और सार्वकालिक होते हैं। उन में विकल्प तथा अपवाद के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं है। 'हवा गर्म होने से हल्की हो जाती है' आदि-आदि नियम शाश्वत तथा निश्चित हैं। परन्तु

भाषा-विज्ञान विज्ञान कहे जाने पर भी उसमें इस निश्चयात्मिका वृत्ति का अभाव है। ये नियम विज्ञान के नियमों की भाँति सर्वत्र अकाट्य नहीं हैं। भाषा-विज्ञान के नियमों में एकाधिक अपवाद भी मिलते हैं। भाषा परिवर्तनशील है; अतः कभी-कभी नियम-विरुद्ध नये शब्द और ध्वनियाँ भी देशकाल और वातावरण के प्रभाव से आ जाती हैं। परिणामस्वरूप विज्ञान की भाँति इसके नियम सर्वत्र, सार्वकालिक और शाश्वत नहीं हैं। 'मर्म' और 'कर्म' रूप की दृष्टि से समान हैं, किन्तु एक का विकास 'मरम' के तथा दूसरे का 'काम' के रूप में हुआ है। यह विषम विकास शुद्ध वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। ऐसी परिस्थिति में हमें विकल्प और अनुमान पर आश्रित होना पड़ता है।

कला का एकमात्र लक्ष्य मनोरंजन तथा सौन्दर्य की सृष्टि करना है। सुन्दरता का उपासक अपनी तृप्ति के लिए कला की क्रोड़ में आसरा लेता है। परन्तु भाषा-विज्ञान का प्रधान कार्य इससे सर्वदा भिन्न है। वह न तो मनोरंजन का साधन है और न सुन्दर कृति ही है। दूसरे कला व्यक्ति की कृति है तो भाषा समाज की सम्पत्ति, दोनों में कोई साम्य नहीं। भाषा-विज्ञान विज्ञान के अधिक निकट है। विज्ञान की भाँति भाषा-विज्ञान भी सिद्धांत अथवा नियम निर्धारण से सम्बन्ध रखता है। जिस प्रकार विज्ञान में किसी वस्तु का सम्यक् परीक्षण करके उसके सम्बन्ध में नियम निर्धारित किये जाते हैं, उसी प्रकार भाषा-विज्ञान में भी भाषा के उत्पत्ति, रचना, विकास आदि सभी तत्वों के विश्लेषण से सामान्य नियम निश्चित कर लिये जाते हैं। भाषा की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत करना ही भाषा विज्ञान का कार्य है।

इस प्रकार भाषा-विज्ञान भौतिक शास्त्र, गणित, रसायन शास्त्र की भाँति अपवादरहित तथा विकल्परहित ज्ञान न होते हुए भी कला नहीं कहा जा सकता है, अपितु, विज्ञान के सान्निध्य के कारण इसे विज्ञान कहना ही उचित है।

प्रश्न २—भाषा-विज्ञान और व्याकरण के सम्बन्ध की सम्यक् मीमांसा कीजिए। भाषा विज्ञान से व्याकरण और साहित्य के अध्ययन और अध्यापन में कहाँ तक सहायता मिलती है, स्पष्ट कीजिए। (दि० वि० १९५१)

'व्याकरण' शब्द का प्रयोग भाषा-विज्ञान से प्राचीनतर है। व्याकरण का शब्दार्थ 'खंड-खंड करके' शुद्ध रूप प्रदर्शित करना है। भाषा तथा पद के शुद्धाशुद्ध का विवेक व्याकरण ही कराता है। प्राचीन काल में प्रायः यह भ्रांति हो गई थी कि विद्वज्जन भाषा-विज्ञान तथा तुलनात्मक व्याकरण में किंचित् भेद नहीं समझते थे। इसमें दोनों की पारस्परिक समानता ही अभेद का कारण थी। परन्तु यथार्थतः इस साम्य की अपेक्षा दोनों में पर्याप्त अन्तर है। इस समानता और अन्तर को नीचे स्पष्ट करते हैं।

समानता

(१) भाषा दोनों के मध्य की एक कड़ी है। भाषा की उत्पत्ति, बनावट और विकास तथा ह्रास का विवेचन करना भाषा-विज्ञान का प्रमुख कार्य है। व्याकरण भी भाषा के शुद्ध स्वरूप तथा उसकी बनावट पर प्रकाश डालता है। भाषा के सम्यक् ज्ञान के लिये व्याकरण सीखा जाता है। उस ज्ञान की जिज्ञासा की शांति के लिये भाषा-विज्ञान का अध्ययन किया जाता है। अतः दोनों अन्योन्याश्रित है।

(२) वर्णनात्मक, ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक—ये तीन भेद भाषा-विज्ञान और व्याकरण दोनों के ही हैं। इस दृष्टि से इन दोनों में पर्याप्त साम्य है। विवरणात्मक रूप व्याकरण तक सीमित रह गया और शेष भाषा-विज्ञान की कोटि में लिये जाते हैं।

अन्तर

(१) भाषा-विज्ञान भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है। यथार्थ रूप में वह 'विज्ञान' है। जहां तक व्याकरण भी भाषा का विवेचन करता है वहां तक वह विज्ञान की कोटि में आ सकता है। परन्तु इसका व्यावहारिक रूप कला से अपनी अविच्छिन्न सम्बन्ध जोड़ देता है। उसके आधार पर हम भाषा का शुद्ध रूप में बोलना, समझना और लिखना आदि सीखते हैं। व्याकरण इस दृष्टिकोण से भी कला है कि वह शब्दों की साधुता और असाधुता पर भी विचार करता है। स्वीट् महोदय ने इस कारण व्याकरण को भाषा की कला कहा है।

(२) भाषा-विज्ञान प्रगतिवादी है। यह नवीन रूपों को सहज ही में ग्रहण

करता है। भाषा के जीवित तथा-प्रचलित रूप से भाषा-विज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः भाषा-विज्ञान का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक और उदार है। विकसित या अविकसित, प्राचीन या अर्वाचीन भाषा का प्रत्येक शब्द अपना समान महत्व रखता है। भाषा-विज्ञान का कार्य सामान्य रूप से भाषाओं का दिग्दर्शन तथा विवेचन करना है। 'प्रत्येक भाषा विकसित होती है' इस सिद्धान्त पर भाषा-विज्ञान विश्वास करता है। इसके ठीक विपरीत व्याकरण पुरातन-वादी पद्धति को अपनाता है। विद्वान् सदैव व्याकरण के प्राचीन सिद्ध रूपों को ही साधु और शिष्ट मानते हैं, नव-निर्मित शब्द उन्हें खटकते हैं और वे इन्हें 'अपभ्रष्ट' उपाधि से विभूषित करते हैं। संस्कृतेतर नव-विकसित भाषा जिस में अधिकतर संस्कृत के तद्भव शब्दों का प्रयोग किया गया था, पुरातनवादी वैयाकरणों ने ऐसी भाषा को प्राकृत भाषा अर्थात् जन-साधारण की भाषा का नाम दिया। क्योंकि उसमें 'धर्म' का 'धम्म' और 'कर्म' का 'कम्म' नवीन शब्द रूपों का प्रयोग होने लगा था। आगे चलकर प्राकृत के साहित्य-पद पर आसीन हो जाने पर एक नवविकसित भाषा अस्तित्व में आई। उसे भी इन प्राचीन-वादी वैयाकरणों ने अपभ्रंश भाषा अर्थात् बिगड़ी हुई भाषा नाम दिया। आगे प्राकृत और अपभ्रंश के रूपों को भी साधु मानना पड़ा। आज भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत ध्वनि-विचार में हिन्दी के अधिकतर अकारांत शब्द व्यंजनांत माने जाने लगे हैं, क्योंकि आजकल हिन्दी-भाषा-भाषियों का उच्चारण 'राम' न होकर 'राम्' है। यदि यह परिवर्तन भाषा में कर दिया जाय तो वैयाकरण क्रोधित हो उठेंगे और संभवतः इसका तिरस्कार भी हो। चाहे अन्त में यह तथ्य उन्हें स्वीकार करना पड़े।

(३) व्याकरण भाषा-विज्ञान के पद-चिन्हों का अनुगमन करता है। भाषा के नये विकसित रूपों का ज्ञान भाषा-विज्ञान कराता है और कालान्तर में व्याकरण उसको सिद्ध करता है। व्याकरण भाषा की शुद्धि-अशुद्धि पर विचार करता है और भाषा-विज्ञान सामान्य रूप से उसका तर्क-सम्मत अध्ययन कर सिद्धांत निरूपण करता है। 'भाषा का वर्तमान रूप क्या है? यह वैयाकरण बतलाता है, उसका भाव क्या है? साहित्यिक सिखाता है, पर भाषा-वैज्ञानिक एक पग आगे बढ़कर भाव के साधन की मीमांसा करता है।'

(४) व्याकरण भाषा-विज्ञान के लिए सामग्री प्रस्तुत करता है। व्याकरण भाषा के निष्पन्न तथा सिद्ध रूपों को सामने रख देता है। यह भाषा के व्यावहारिक पक्ष का ही विवरण उपस्थित करता है। भाषा-विज्ञान विवेचन और शोध प्रधान है। उसका लक्ष्य रूप आदि के कारण और विकास की विवेचना है। व्याकरण भाषा के नियमों और उपनियमों का वर्णन करता है, पर भाषा-विज्ञान उसके विकास तथा कारण की खोज कर समुचित व्याख्या करता है। व्याकरण केवल एक रूप को उपस्थित करता है जबकि भाषा-विज्ञान देश, काल और परिस्थितियोंवश उसमें हुए परिवर्तन की जाँच करता है। ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन से वह उसके मूल रूप तक पहुँच जाता है। भाषा-विज्ञान की यही चेष्टा रहती है कि शब्दों के आधुनिक तथा निष्पन्न रूपों के कारणों को खोज कर इतिहास से उसके मिलते-जुलते रूपों को निकालकर प्रमाण दे। अतः भाषा-विज्ञान का प्रमुख ध्येय 'क्यों', 'कैसे' और 'कब' की जिज्ञासा शान्त करता है और व्याकरण केवल 'क्या' के प्रश्न का उत्तर देता है।

(५) व्याकरण का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित तथा संकुचित है। व्याकरण विशेष काल की किसी एक भाषा का विवेचन करता है परन्तु भाषा-विज्ञान एक साथ अनेक भाषाओं, शास्त्रों, कलाओं और विज्ञानों के अध्ययन की सहायता से सामान्य नियमों का निर्धारण करता है। अतः भाषा-विज्ञान का क्षेत्र अधिक व्यापक और विशाल है। वह व्याकरण का विकसित रूप है तथा व्याकरण का परम सहायक है। वह व्याकरण का भी व्याकरण है। दोनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। व्याकरण का क्षेत्र संकीर्ण है और उसका कार्य वर्णन करना है जबकि भाषा-विज्ञान व्यापक है और उसका कार्य व्याख्या करना है।

(६) व्याकरण भाषा की रूप-रचना और वाक्य-गठन का विवरण देती है, किन्तु भाषा-विज्ञान ध्वनि, अर्थ, शब्द-समूह और लिपि आदि का भी विवेचन, करता है।

भाषा-विज्ञान और साहित्य

भाषा-विज्ञान से साहित्य के अध्ययन और अध्यापन में पर्याप्त सहायता

मिलती है। दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवित भाषाओं के जीवित रूपों को छोड़कर भाषा का अध्ययन करने के लिए भाषा-विज्ञान साहित्य की सहायता लेता है। वह साहित्य का चिरऋणी है। प्राचीन रूपों के ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन के लिए समस्त सामग्री साहित्य से उधार लेता है तथा तद्विषयक नियमों और सिद्धान्तों की रचना करता है। साहित्य में ही भाषा के विविध तथा विकसित रूप रक्षित रहते हैं। साहित्य के अभाव में भाषा-विषयक खोज प्रायः असम्भव नहीं तो दुरूह अवश्य है। क्योंकि साहित्य भाषा के विविध रूपों का अक्षय भण्डार है।

भाषा-विज्ञान हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक विकास और मूल प्रकृति को जानने के लिए अपभ्रंश, प्राकृत, संस्कृत तथा वैदिक साहित्य की ओर निहारता है। यदि हमारे पास भाषा का क्रमबद्ध साहित्य उपलब्ध न रहे तो भाषा-विज्ञान का कोई कार्य निष्पन्न न हो। यदि आज संस्कृत, अवेस्ता तथा ग्रीक साहित्य का अस्तित्व न होता तो भाषा-विज्ञान इन भाषात्रय के पारस्परिक तथा पारिवारिक सम्बन्ध न जान पाता। साहित्य में प्रयुक्त भाषा के द्वारा ही हमें विभिन्न शब्दों और रूपों के परिवर्तन का ज्ञान होता है। इसी समुन्नत और विशाल साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप भाषा-विज्ञान का कार्य अत्यन्त समृद्ध और सम्पन्न हो चुका है।

साहित्य और भाषा-विज्ञान का अटूट सम्बन्ध है। साहित्य के अध्ययन मे भाषा-विज्ञान का महत्वपूर्ण योग है। भाषा-विज्ञान साहित्य के क्लिष्ट अर्थों एवं विचित्र प्रयोगों को स्पष्ट कर देता है। उच्चारण-सम्बन्धी अनेक समस्याओं पर तथा ध्वनियों पर भाषा-विज्ञान ने अपूर्व प्रकाश डाला है। शब्दार्थ-परिवर्तन आदि के कारणों की खोज इसी वाङ्मय के आधार पर ही हो रही है। इसी प्रकार दोनों एक दूसरे के सहायक हैं। भाषा-विज्ञान की तुलनात्मक प्रणाली ने व्युत्पत्ति-शास्त्र को अनुपम देन दी है, जिससे साहित्य में प्रयुक्त शब्दों की व्युत्पत्ति संभव हो सकी है।

प्रश्न ३—भाषा-विज्ञान के प्रमुख अंगों का परिचय दीजिए तथा उसकी उपयोगिता का विवेचन कीजिए। (दि० वि० १९५८, आ० वि० १९६२)

भाषा-विज्ञान में भाषा से सम्बद्ध सभी विषयों तथा समस्याओं पर विचार

किया जाता है। जिस प्रकार मानव-शरीर में सभी अंगों का अपना-अपना महत्व है, उसी प्रकार से भाषा के सर्वांगीण शास्त्रीय अध्ययन के लिए भाषा सम्बन्धी प्रत्येक पहलू अनिवार्य है। यह अवश्य है कि कुछ अंग अधिक महत्वपूर्ण हैं और कुछ कम। परन्तु सभी आवश्यक हैं, उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता। अतः इन अंगों का विभाजन प्रधान और गौण दो वर्गों में किया जा सकता है।

प्रधान

(१) **वाक्य-विज्ञान** (Syntax)—इसको वाक्य-विचार से भी सम्बोधित किया जाता है। वाक्य ही भाषा के माध्यम से विचार-विनिमय का साधन है; अतः यह अधिक स्वाभाविक और महत्वपूर्ण माना जाता है। इसके तीन रूप हैं—

(अ) **वर्णनात्मक वाक्य-विज्ञान**—इसमें वाक्यों का विवरणात्मक परिचय रहता है—

(आ) **ऐतिहासिक वाक्य-विज्ञान**—इस विभाग के अन्तर्गत किसी भाषा के आदिकाल से अब तक के वाक्य-संघटना के सिद्धान्तों पर विचार करना पड़ता है। वाक्य-रचना का परिचय प्राप्त करते समय मानव-समाज का मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी आवश्यक है। इसलिए यह अधिक जटिल शाखा है।

(इ) **तुलनात्मक वाक्य-विज्ञान**—इस वाक्य-विज्ञान में किन्हीं दो या अधिक भाषाओं की तुलना करनी पड़ती है। इस विभाग में अनेक भाषाओं का पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। अतः यह अत्यन्त कठिन है और इसका विकास यथेष्ट नहीं हो पाया है। वाक्य-विश्लेषण के अध्ययन के पूर्ण-विकास भाषा-विज्ञान में वांछनीय है।

(२) **रूप-विज्ञान** (Morphology)—इसके अन्य नाम पद-विज्ञान तथा पद-विचार भी हैं। भाषा का रूपात्मक विवेचन अधिक विस्तार से हुआ क्योंकि वाक्य-विज्ञान की अपेक्षा यह सहज-ग्राह्य तथा सरल है। भाषा-विज्ञान के अग के अन्तर्गत धातु, उपसर्ग, प्रत्यय और विभक्ति आदि का अध्ययन किया जाता है। इस क्षेत्र में व्याकरण का अत्यधिक योग रहता है।

(३) **ध्वनि-विज्ञान (Phonology)**—अनेक ध्वनियों के मेल से ही शब्द की रचना होती है। ध्वनि-विज्ञान के अन्तर्गत ध्वनियों के विभिन्न पक्षों पर विचार किया जाता है। इसके तीन भाग माने जाते हैं—

(क) **ध्वनि-यन्त्रों का अध्ययन**—ध्वनियों के उच्चारण में मुंह के जो-जो भाग व्यवहृत होते हैं, तथा उनकी जिस-जिस दशा में जो-जो ध्वनि उच्चरित होती है, इस सबका अध्ययन होता है; इसी के साथ ध्वनियों के उच्चारण-समय किए गए बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयत्नों तथा ध्वनियों के स्थान आदि का विवेचन होता है।

(ख) **ध्वनियों का अध्ययन**—इस भाग के अन्तर्गत किसी निश्चित भाषा की ध्वनियों की विवेचना की जाती है। उनमें स्वर, व्यंजन तथा अन्य अवान्तर भेदों का विश्लेषण कर उनके स्थान तथा करण की विवेचना की जाती है। ध्वनियों की सूक्ष्म प्रकृति के ज्ञान प्राप्त करने के लिए यान्त्रिक साधनों का उपयोग किया जाता है। इसी अंग के अन्तर्गत व्यस्त-ध्वनियों तथा उनके संयुक्त रूपों का भी अध्ययन किया जाता है, तथा अनेक ध्वनियाँ समस्त रूप में एक दूसरी ध्वनि में कैसे विकार कर देती हैं, इसका निर्धारण कर तत्तत् भाषा के सम्बन्ध में नियमों की अवतारणा की जाती है।

(ग) **ध्वनियों के परिवर्तन-सम्बन्धी नियमों का अध्ययन**—इसके अन्तर्गत ध्वनियों के अनेक प्रकार के परिवर्तन की मीमांसा करते हैं तथा तदनुकूल नियम निबद्ध करते हैं। संस्कृत से प्राकृत में या हिन्दी में कौन-कौन-सी ध्वनियों का किस-किस प्रकार का परिवर्तन हुआ, यह देखकर उसके आधार पर निश्चित ध्वनि-नियमों की अवतारणा की जाती है। ग्रिम-नियम का संबध इसी से है। इस अध्ययन के दो रूप हैं—ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक।

४. **अर्थ-विज्ञान (Semantics)**—इस अंग में शब्दार्थ-सम्बन्धी और उसके विकास के कारणों पर विचार किया जाता है। अर्थ-विचार के अन्तर्गत दो बातें आती हैं—व्युत्पत्ति-विचार और भाषा के बौद्धिक नियमों का अनुशीलन। अर्थ-विज्ञान के साधारणतः दो अंग माने जा सकते हैं—

१. **सैद्धान्तिक अर्थ-विज्ञान**—इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रश्न शब्द तथा

अर्थ के सम्बन्ध में उपस्थिति होता है। कुछ भाषा-शास्त्री शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य मानते हैं, कुछ नहीं। इसमें अर्थ-प्रतीत पर भी विचार किया जाता है।

२. **व्यावहारिक अर्थ-विज्ञान**—इसमें अर्थ-प्रकार और शब्द-शक्तियों से उसके सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है।

(५) **शब्द-भण्डार** (Vocabulary)—शब्द-भण्डार का वैज्ञानिक अध्ययन किसी भाषा की संघटना या रचना में बड़ा काम देता है। भाषा में विजातीय तत्वों का निर्धारण शब्द-भण्डार से ही होता है। कभी-कभी नवनिर्मित शब्द भी बोल-चाल की भाषा के अंग बन जाते हैं और उनका वैज्ञानिक अध्ययन होने लगता है। व्युत्पत्ति तथा कोश-निर्माण भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। शब्दों का तुलात्मक अध्ययन भी निर्वचन की दृष्टि से किया जाता है।

गौण

(१) **भाषा की उत्पत्ति**—भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत निर्धारित किए गए हैं। परन्तु उनके मत किसी न किसी दोष से आच्छन्न हैं। अधिकांश विद्वानों के मतों के समन्वयवाद पर मान्यता प्रदान की है।

(२) **भाषाओं का वर्गीकरण**—भाषाओं के परिवार तथा समुदाय का निश्चय भाषाओं के तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन के उपरान्त किया जाता है, तदनुसार उनको विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जाता है। तथा साथ ही अर्थ या ध्वनि सम्बन्धी अनेक प्रश्नों पर भी प्रकाश डाला जाता है। भाषाओं का पारिवारिक तथा आकृतिमूलक वर्गीकरण इसी श्रेणी में आता है।

(३) **व्युत्पत्ति-शास्त्र** (Etymology)—यह अत्यन्त मनोरंजक विषय है। भाषा के शास्त्रीय अध्ययन में इससे सहायता मिलती है। ध्वनि, अर्थ और रूप का समन्वित तथा विकसित अर्थ निर्वचन के लिए प्रयुक्त होता है।

(४) **भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज** (Linguistic Palaentology)—भाषा का गवेषणात्मक अध्ययन एक देश की प्राचीनतम तथा प्रागैतिहासिक कालीन संस्कृति का पता लगाने में अत्यधिक सहायक होता है। ऐसा युग जो इतिहास के पृष्ठों के परे की वस्तु है। भाषा के आधार पर

उसका समुचित परिचय प्राप्त किया जा सकता है। प्राचीन भाषा का विश्लेषण तथा अनुशीलन करते समय तद्युगीन सभ्यता के महत्वपूर्ण संकेत प्राप्त हो जाते हैं। यह अभी एक नवजात शिशु के रूप में है, परन्तु इसके श्लाघ्य कार्य का निरीक्षण कर हम भविष्य में इससे इस क्षेत्र में अमूल्य खोज के लिए अनेक आशाएँ कर सकते हैं।

(५) लिपि (Script)—लिपि एक प्रकार से भाषा का परिधान है। मनुष्य-मात्र की विचाराभिव्यक्ति तथा भाव-व्यंजना को साकार करने में इस का बड़ा हाथ है। अतः इसका सम्बन्ध भाषा के लिखित रूप से है। भाषा-विज्ञान लिपि का वैज्ञानिक अध्ययन करता है और उसके उद्भव और विकास की समीक्षा भी करता है। भाषा-विज्ञान ध्वनि-विचार की सहायता से लिपि में संशोधन कर इसको अधिक वैज्ञानिक और उपयोगी बनाने के लिए प्रयत्नशील है।

भाषा-विज्ञान की उपयोगिता

प्रत्येक वस्तु की अपनी उपयोगिता तथा अर्हता होती है। जो वस्तु जितनी ही उपयोगी होगी, उससे मानव तथा समाज का उतना ही कल्याण होगा। मानव-जाति तथा संस्कृति की समृद्धि तथा कल्याण करना विज्ञान मात्र का उद्देश्य है। भाषा-विज्ञान का योग भी इस सम्बन्ध में उपेक्षणीय नहीं है। भाषा-विज्ञान के अध्ययन से हमें निम्नोक्त लाभ हैं—

(१) मानव विवेकप्रधान प्राणी है। भाषा तथा शब्द विषयक अनेक प्रश्न उनके मस्तिष्क में घूमते रहते हैं। उसका इस प्रकार का कौतूहल साहित्य तथा व्याकरण का अध्ययन करते समय अधिक बढ़ जाता है। भाषा-विज्ञान इस कौतूहल तथा जिज्ञासा को तृप्त करने की चेष्टा करता है और साथ ही भाषा-सम्बन्धी अनेक समस्याओं का समाधान उपस्थित करता है।

(२) भाषा-विज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त विशाल और विस्तृत है। वह किसी भाषा के बन्धन को स्वीकार नहीं करता, वरन् वह विश्व के किसी कोने की भाषा को अपने विराट् रूप में आत्मसात् कर लेता है। साथ ही इसका सम्बन्ध अनेक शास्त्रों तथा विज्ञानों से है। इतिहास, मनोविज्ञान, पुरातत्व,

समाज-शास्त्र आदि की सहायता से यह अपने अध्ययन को वैज्ञानिक तथा तर्क-सम्मत बना देता है अतः यह ज्ञान की वृद्धि करता है।

(३) भाषा-विज्ञान, व्याकरण और साहित्य का चिर-सम्बन्ध है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में शाब्दिक तथा साहित्यिक अध्ययन में हमें किसी विशेष जाति या मानव-समाज के मानसिक स्तर का परिचय मिलता है और उस विचार-धारा के विकास से हम अवगत हो जाते हैं। प्रत्येक जाति की विचार-अभिव्यक्ति का साधन भाषा है। भाषा का सम्यक् अध्ययन भाषा-विज्ञान करता है।

(४) भाषा-विज्ञान पाठकों की दृष्टि को अधिक व्यापक और उदार बनाता है। यही कारण है कि यह अपने व्यापकत्व के कारण एक राष्ट्र की सीमित परिधि को लाँघ कर विश्व-बन्धुत्व तथा मानव मात्र की ऐक्य-भावना का संचार करता है। वह सभी भाषाओं के प्रति सम, उदार तथा आदर की दृष्टि रखता है। अतः संसार की समस्त भाषाओं का समान रूप से अध्ययन करने से मानव मात्र की एकता की भावना स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है।

(५) विश्व के लिए एक सामान्य भाषा का विकास तथा निश्चय करने में भाषा-विज्ञान का अध्ययन परम उपयोगी है। जैसे 'एसरपरेन्तो' भाषा।

(६) ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक सभ्यता और संस्कृति के आँकलन में हमें भाषा-विज्ञान से अनुपम सहायता मिलती है। हम सहज में ही इसके अध्ययन द्वारा अज्ञात तथा अंधकारमय अतीत के अन्तस्तल में प्रवेश कर मानवीय संस्कृति और सभ्यता के रहस्य और भेदों का अनावरण कर देते हैं। जिस युग का इतिहास इतिहास को भी ज्ञात नहीं, भाषा-विज्ञान उस काल का इतिहास लिखने में समर्थ है। आर्यों के निवास-स्थान की खोज करने में भाषा-विज्ञान ने सबसे अधिक सहायता की है।

(७) प्राचीन साहित्य का अर्थ, ध्वनियों के उच्चारण तथा शब्दों के प्रयोग सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का उत्तर हमें भाषा-विज्ञान के अध्ययन से प्राप्त होता है। इसी के द्वारा भाषा-शास्त्रियों ने मूल या आदिम भारोपीय अक्षरमाला तथा शब्दों को शोध कर उसकी आनुमानिक रचना की है।

(८) भाषा-विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर तुलनात्मक

विज्ञान की अनेक शाखाओं की उत्पत्ति हुई है । जैसे तुलनात्मक नीति और धर्म विज्ञान। अनेक जातियों के धर्म तथा मतों का तुलनात्मक अध्ययन होने लगा है ।

(९) विदेशी ध्वनियों की शिक्षा ग्रहण करने में भाषा-विज्ञान के अध्ययन से लाभ होता है । उनके ठीक रूप तथा सहजग्राह्य प्रणाली से हम अवगत हो जाते हैं ।

(१०) भाषा और लिपि को अधिक शुद्ध और व्यापक बनाने में इसका अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है । भाषा-विज्ञान भाषा-सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करता है । दोषों का परिहार तथा गुणों की वृद्धि करके यह भाषा को अधिक समुन्नत और समृद्ध बनाता है । भाषा, ध्वनि और अर्थ के परिवर्तन के कारणों की खोज करता है ।

प्रश्न ४—सिद्ध कीजिए 'भाषा-विज्ञान की परम्परा बहुत प्राचीन काल से अविच्छिन्न चली आती है ।'

अथवा

भाषा-विज्ञान तथा भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के सम्बन्ध में जो कार्य भारतीय विद्वानों के द्वारा हुआ है, उसका आलोचनात्मक परिचय दीजिए ।

यह एक तथ्य है कि भारतवर्ष में भाषा-विज्ञान की परम्परा बहुत प्राचीन काल से अविच्छिन्न चली आ रही है । भाषा-सम्बन्धी अध्ययन के संकेत हमें भारत में उपलब्ध साहित्य से ही मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं । भारत का सबसे प्राचीन उपलब्ध वाङ्मय वैदिक-साहित्य माना जाता है । अतः भारतीय भाषा-अध्ययन की धारा का उद्गम उसी महान् स्रोत से है । वैदिक काल में इतना ज्ञात था कि वाक्य के खण्ड हो सकते हैं जैसा कि कृष्ण-यजुर्वेद संहिता में वर्णित देव और इन्द्र के उपाख्यान से विदित है जिसमें देवों ने इन्द्र से उनके कथन के टुकड़े कर देने के लिए प्रार्थना की थी । ये सकेत उनके भाषा-ज्ञान पर ही प्रकाश डालते हैं । व्यवहार रूप में सर्वप्रथम कार्य ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही मिलता है ।

ब्राह्मण-ग्रन्थ तथा प्रातिशाख्य

संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण-ग्रंथों का काल माना जाता है। इन ग्रंथों में यदा-कदा ध्वनि और अर्थ का उल्लेख किया गया है। धातुओं के अर्थ को समझाने का यह प्रथम प्रयास है। वैदिक संहिताओं का पद-पाठ भाषा-विज्ञान के विकास में एक नवीन अध्याय जोड़ देता है। इसमें सन्धि, समास और स्वराघात के आधार पर संहिताओं को पद रूप में किया गया है। प्रत्येक संहिता का पद-पाठ पृथक्-पृथक् ऋषि ने किया। शाकल्य ऋषि ऋग्वेदीय पद-पाठ के, गार्ग्य सामवेदीय के तथा माध्यन्दिन यजुर्वेदीय के पद-पाठकार थे। वेदों की ध्वनि तथा उच्चारण की दृष्टि से परम्परागत परिपाटी को अक्षुण्ण बनाने के लिए वेदों की प्रतिशाखा का अध्ययन होने लगा। वेदों के शुद्ध उच्चारण और नियत ध्वनि की रक्षा के लिए विद्वानों ने प्रतिशाखानुसार जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये उन्हें प्रातिशाख्य कहते हैं। यह उपलब्ध प्रातिशाख्य पाणिनि के उत्तरकाल की रचनाएँ हैं और प्राचीन प्रातिशाख्य पर आधारित हैं। पदों के नाम आख्यात, उपसर्ग और निपात भेद, ध्वनियों का प्रौढ़ वर्गीकरण तथा स्वराघात, मात्रा-काल और उच्चारण विषयक नियमों पर हुआ।

निघण्टु और यास्क (८०० ई० पू०)

प्रातिशाख्यों के बाद निघण्टु की रचना हुई। यास्क ने निरुक्त के रूप में निघण्टु की व्याख्या की है। इस समय एक ही निघण्टु प्राप्त है। निघण्टु वेदों के क्लिष्ट शब्दों की सूची मात्र है। यास्क ने उसके प्रत्येक शब्द को लेकर वेदों से उद्धरण देकर व्युत्पत्ति तथा अर्थ पर विचार किया है। अर्थ-विज्ञान के क्षेत्र में यह प्रथम प्रयास है। निरुक्तकार यास्क ने शाकटायन, शाकल्य आदि अनेक भाषा-शास्त्रियों का उल्लेख किया है तथा उनके मतों को भी उद्धृत किया है। शब्दों की व्याख्या के साथ-साथ भाषा की उत्पत्ति, गठन और विकास का स्पष्टीकरण किया है। इस पर्यवेक्षण से ज्ञात होता है कि भाषा-विज्ञान का विकास इस समय तक पर्याप्त हो चुका था।

मुनित्रय—पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि

पाणिनि के पूर्व वैयाकरणों में आपिशलि, काशकृत्स्न और इन्द्र माने जाते

हैं। इन्होंने व्याकरण के विशद और स्पष्ट रूप का विकास किया कि इनके उत्तरकालीन पाणिनि ने एक उच्च कोटि के व्याकरण की रचना कर दी। पाणिनि की अनुपम कृति अष्टाध्यायी है, जिसमें आठ अध्याय और प्रति अध्याय में चार पद हैं। सूत्र-संख्या प्रायः चार सहस्र है। 'अष्टाध्यायी' में संस्कृत भाषा को इस प्रकार नियमबद्ध किया है कि परवर्ती आचार्यों के लिए उसमें लेशमात्र भी परिवर्तन करना असम्भव नहीं तो जटिल अवश्य था। पाणिनि-कृत अर्थ, ध्वनि और तुलनात्मक व्याकरण की सामग्री ने भाषा-विज्ञान की क्रमागत परम्परा को अधिक प्रौढ़ और अटूट बना दिया है। वैदिक और लौकिक संस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन पाणिनि-काल में विशद रूप से हुआ। पाणिनि के पश्चात् जिनेन्द्रबुद्धि, भर्तृहरि, कात्यायन और पतंजलि के नाम आदर से लिए जाते हैं। इन सभी भाषाविदों ने अधिकांशतः अष्टाध्यायी की आलोचना, प्रत्यालोचना, टीका तथा टिप्पणी की है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में अपना कोई भी मौलिक ग्रंथ इन्होंने भेंट नहीं किया। अतः पाणिनि का व्यक्तित्व और भाषा-क्षेत्र पर उसका प्रभाव अप्रतिम है।

वार्तिककार कात्यायन (२०० ई० पू०) पाणिनि के समकालीन थे। पाणिनि के मत की आलोचना इन्होंने सूत्रात्मक शैली में की है और उन सूत्रों को वार्तिक कहा जाता है। वार्तिक में पाणिनि की 'अष्टाव्यायी' के १५०० सूत्रों की आलोचना की है। कात्यायन ने पाणिनि के पारिभाषिक शब्दों में भी कुछ परिवर्तन किया है। इसमें कुल चार हजार वार्तिक हैं। एक प्रकार से यह अष्टाध्यायी का सहायक ग्रंथ है।

पतंजलि (१५० ई० पू०) की कृति महाभाष्य है। उन्होंने पाणिनि का पक्ष लेकर कात्यायन की आलोचना की और उनके आक्षेपों का उत्तर तर्कपूर्ण रीति से दिया है। उनके नियमों को 'इष्टि' कहा जाता है। कुछ नियमों की रचना पाणिनि के सूत्रों में कालानुसार सुधार करने के लिए भी की गई। पतंजलि ने अपनी अप्रतिम, शैली में भाषा का दार्शनिक विवेचन अत्यन्त सुन्दर किया है। शब्द, अर्थ तथा ध्वनि के सम्बन्ध का वैज्ञानिक अध्ययन 'महाभाष्य' में मिलता है। पाणिनि कात्यायन और पतंजलि को संस्कृत 'व्याकरण के मुनि-त्रय' की संज्ञा से विभूषित किया गया है।

टीकाकार

अष्टाध्यायी टीका वामन तथा जयादित्य (७०० ई०) लेखक-द्वय ने की। उसे 'काशिका' के नाम से अभिहित किया गया। जिनेन्द्रबुद्धि ने काशिका की टीका 'काशिका-न्यास' नाम से की। काशिका की टीकाओं में हरिदत्त की 'पदमंजरी' भी सुन्दर बन पड़ी है। महाभाष्य की टीकाओं में भर्तृहरि की 'वाक्य-पदीय' पुस्तक प्रमुख है जिसमें भाषा के दार्शनिक पक्ष पर विचार किया गया है।

कौमुदीकार

टीकाकारों के उपरान्त कौमुदीकारों का समय आता है। अष्टाध्यायी को अधिक सुबोध बनाने के लिए टीका के पुरातन निर्मोक का त्याग किया गया और नवीन-पद्धति का उपक्रम किया गया जो कौमुदी के नाम से विख्यात हुआ। इस नूतन शैली का सर्वप्रथम ग्रंथ विमल सरस्वती की रचना 'रूपमाला' है। प्रत्याहार, संज्ञा, संधि, तद्धित और समास के व्यवस्थित क्रम का इस ग्रंथ में सूत्रपात किया गया है। भट्टोजी दीक्षित कृत 'सिद्धान्त-कौमुदी' भाषा-विज्ञान में संस्कृत भाषा की सर्वाधिक महत्व की रचना है। इसकी लोकप्रियता ने अष्टाध्यायी को भी उपेक्षित बना दिया है। अन्य वैयाकरणों में हेमचन्द्र का शब्दानुशासन तथा बोपदेव का मुग्धबोध भी उल्लेखनीय है।

शब्द की अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का तात्विक और भाषा-विषयक विवेचन ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, रस-गंगाधर आदि ग्रन्थों में मिलता है।

प्राकृत भाषाएँ

संस्कृत के पश्चात् प्राकृत, पाली तथा अपभ्रंश भाषाओं का विकास हुआ। उनका अध्ययन कर वैयाकरणों ने उन्हें भी व्याकरण के जटिल नियमों में बांध दिया। पाली भाषा में कच्चायन, मोग्गलान रचित व्याकरण संस्कृत के पद-चिन्हों पर लिखे गये। हेमचन्द्र के 'शब्दानुशासन' के आठवें अध्याय में प्राकृतों पर विचार किया गया है। वररुचि का 'प्राकृत-प्रकाश' प्राकृत भाषा का पुरातन व्याकरण है। इन भाषा ग्रन्थों में प्राकृतों के तुलनात्मक अध्ययन को प्रमुख रूप से अपनाया गया है।

आधुनिक युग

भारत में भाषा-विज्ञान का आधुनिक रूप में अध्ययन यूरोप के संसर्ग से प्राप्त हुआ है। यूरोपीय विद्वानों ने भारतीय भाषाओं के अध्ययन में विशेष कार्य किया है। विशप कोल्डवेल ने 'द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण', जान बीम्स ने 'भारतीय आर्य-भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' तथा डी० ट्रम्प ने 'सिन्धी का तुलनात्मक व्याकरण की रचना कर उपर्युक्त भाषाओं को एक वैज्ञानिक दृष्टि दी। डॉ० टर्नर का नैपाली कोश तथा डॉ० केलॉग का हिन्दी भाषा व्याकरण प्रमुख हैं। अन्य प्रान्तीय भाषाओं में डॉ० हार्नली ने भोजपुरी पर, ग्रियर्सन ने बिहारी भाषा पर, जूल ब्लॉक ने मराठी भाषा पर महत्वपूर्ण कार्य किया है।

वर्तमान युग में भाषा-विज्ञान सम्बन्धी कार्य करने वालों में स्व० रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर का नाम चिरस्मरणीय है। उन्होंने संस्कृत व्याकरण की परम्परा को रखते हुए योरोपीय विद्वानों के सिद्धान्तों का गहन अध्ययन किया है तथा प्राचीन तथा आधुनिक आर्य-भाषाओं की शोधपूर्ण मीमांसा की है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा आर्येन्द्र शर्मा का नाम मूल भारोपीय भाषा के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। चटर्जी का बंगाली भाषा के विकास का कोश भी अनेक दृष्टियों से भाषा-विज्ञान की सम्पत्ति है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (ब्रज), बाबूराम सक्सेना (अवधी), मोहद्दीन कादरी (हिन्दुस्तानी ध्वनि), उदयनारायण तिवारी (भोजपुरी), सुभद्र झा (मैथिली), हरदेव (हिन्दी अर्थ-विचार) भी प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री हैं।

प्रश्न ५—आधुनिक भाषा-विज्ञान के आरम्भिक इतिहास का दिग्दर्शन कराइए।

अथवा

उन्नीसवीं शताब्दी में भाषा-विज्ञान के प्रारम्भ तथा विकास का श्रेय किन प्रमुख यूरोपीय विद्वानों को दिया जाता है। इन विद्वानों की प्रमुख रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दीजिये।

योरुप का भाषा-विषयक विवेचन इतना पुरातन नहीं जितना भारत का है। इसका एकमात्र कारण पुरातन साहित्य के अध्ययन की व्यवस्थित शृंखला

का अभाव था। अतः भाषा तत्वों का विश्लेषण एवं वैज्ञानिक अध्ययन योरुप में भारत की अपेक्षा अधिक देर से हुआ। योरुप के भाषा-सम्बन्धी अध्ययन के दो भेद किये जा सकते हैं—प्राचीन और आधुनिक।

प्राचीन

सर्वप्रथम ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात के शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में विश्वास प्रकट किया है। प्लेटो ने अपने गुरु सुकरात के भाषा के अंकुर को अधिक पल्लवित किया। ग्रीक ध्वनियों के घोष और अघोष के रूप में वर्गीकरण का यह प्रथम प्रयास था। भाषा विचार के अन्तर का स्पष्टीकरण तथा व्युत्पत्ति का संकेत प्लेटो की कृतियों में मिलता है। तत्ववेत्ता अरस्तू ने भी प्लेटो के कार्य को आगे बढ़ाया। अरस्तू ने पदों का विभाजन कर संज्ञा तथा क्रिया के रूपां को अधिक स्पष्ट करने की चेष्टा की है। ये वर्ण को अविभाज्य ध्वनि मानते हैं। अरस्तू द्वारा दी गई स्वर की परिभाषा (स्वर वह है जिसकी ध्वनि बिना जिह्वा या ओष्ठ के उच्चरित हो) कुछ अंशों में वैज्ञानिक कही जा सकती है।

ग्रीक

ग्रीक भाषा के सर्वप्रथम वैयाकरण थ्रेक्स थे। यूरोप में स्वर और व्यंजनों की उचित परिभाषा सबसे पहले इन्होंने ही दी है। कर्त्ता, क्रिया, काल, लिंग, पुरुष और वचन के पारस्परिक सम्बन्ध की स्पष्ट अभिव्यक्ति इनके व्याकरण में प्राप्त होती है। इस कृति की उपादेयता अब भी कम नहीं है।

लैटिन

ग्रीस और रोम के सम्पर्क के फलस्वरूप दोनों संस्कृतियों का मेल हुआ। ग्रीक पद्धति के आधार पर लैटिन का भी सम्यक् अध्ययन होने लगा और उस भाषा के व्याकरण लिखने की प्रवृत्ति जागरूक हुई। पन्द्रहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध विद्वान् लारेन्स वाल ने प्रथम प्रामाणिक लैटिन व्याकरण लिखा। वरो और प्रिस्किअन के व्याकरण भी उपयोगिता की दृष्टि से उत्तम हैं। ईसाई धर्म के प्रसार के तथा रोम तथा ग्रीस में ओल्ड टेस्टामेण्ट के अध्ययन के कारण ग्रीक, लैटिन और हिब्रू भाषाओं के तुलनात्मक विवेचन का श्रीगणेश होने लगा।

धार्मिक भावना से प्रेरित होकर अनेक विद्वान् इस क्षेत्र की ओर बढ़े। ध्वनि-साम्य की जिज्ञासा-तृप्ति के हेतु सीरिअन तथा अरबी भाषा का भी अध्ययन होने लगा। नवीन युग के कुछ पूर्व जागरण आन्दोलन (Renaissance) के कारण सभी मनुष्यों का ध्यान अपनी-अपनी प्राचीन भाषा की ओर प्रवृत्त हो गया। परिणामस्वरूप कोश और व्याकरण का सूत्रपात नवीन रूप से हुआ।

इसके पश्चात् अठारहवीं शताब्दी में योरोपीय भाषाविदों ने भाषा के उद्-गम और विकास सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करना आरम्भ किया। भाषा की उत्पत्ति के विषय में रूसो ने निर्णय-सिद्धान्त की उद्भावना की। कॅंडिलक नें भाषा का उद्गम भावाभिव्यंजक स्वाभाविक ध्वनियों से माना है। परन्तु दोनों का व्यावहारिक रूप से अधिक महत्व नहीं है। जे० जी० हर्डर ने १७७२ में 'भाषा की उत्पत्ति' निबन्ध लिखा जिसमें भाषा की दैवी उत्पत्ति का खण्डन किया। उसका मत था- —मनुष्य ने भाषा नहीं बनाई परन्तु आवश्यकतानुसार भाषा का सहज विकास हुआ। डी० जेनिश ने आदर्श-भाषा-प्रतियोगिता में ग्रीक, लैटिन तथा अन्य यूरोपियन भाषाओं को तुलनात्मक प्रणाली से परखने का प्रयास किया।

आधुनिक (१९वीं शताब्दी)

उन्नीसवीं सदी भाषा-विज्ञान के समुचित विकास का युग था। भारतीय भाषा के अध्ययन और संसर्ग के फलस्वरूप भाषा का व्यापक तथा गहन अध्य-यन होने लगा। यूरोपीय विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन कर प्राचीन भाषाओं ग्रीक और लैटिन से तुलना कर नवीन तथ्यों का अन्वेषण किया। १७९६ में रायल एशियाटिक सोसाइटी की आधारशिला रखते हुए सर विलियम जोन्स ने ग्रीक और लैटिन से संस्कृत का साम्य स्थापित कर उसके अपेक्षाकृत महत्व और श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। इन भाषाओं के अतिरिक्त गाथिक, केल्टिक और प्राचीन फारसी भाषा के एक मूल स्रोत का सम्भावना पर विश्वास प्रकट किया। जोन्स के इस महान् कार्य का निदर्शन कोल ब्रुक ने संस्कृत भाषा पर अनेक निबन्ध लिखकर किया। इस कार्य के परिणामस्वरूप पाश्चात्य यूरोपीय देशों में संस्कृत का अध्ययन शोध-दृष्टि से होने लगा।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जर्मन विद्वान श्लेगेल ने तुलनात्मक

व्याकरण की परम्परा की नींव डाली तथा कुछ ध्वनियों के नियम का सूत्रपात भी किया। उनका महत्वपूर्ण ग्रंथ 'भारतीय भाषा और ज्ञान' है। उन्होंने भाषाओं के विभाजन का प्रयास सर्वप्रथम किया। उनके बड़े भाई अडोल्फ श्लेगेल ने संस्कृत और सगोत्रीय भाषाओं को संयोगात्मक और वियोगात्मक दो उपवर्गों में बाँटा। हम्बोल्ड्ट महोदय ने भाषा के ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टिकोण के ऊ।र बल दिया। इस दृष्टिकोण के व्यापकत्व के कारण उनको तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का पिता कहा गया है। भाषा विभाजन के समय चीनी भाषा के पार्थक्य पर विचार प्रकट किया।

इस युग के रैक्स, ग्रिम और बॉप भाषा-शास्त्री-त्रय प्रमुख हैं। रैक्स ने नार्स भाषा की उत्पत्ति तथा ग्रीनलैंड की भाषा के विकास पर उपयोगी दृष्टि-कोण प्रस्तुत किया। इनका मत था कि लिखित सामग्री के अभाव में किसी देश के इतिहास का परिचय भाषा-गठन एवं शब्द-समूह के आधार पर किया जा सकता है। द्रविड़ भाषाओं को संस्कृत से भिन्न बतलाते हुए इन्होंने अनेक भाषाओं के व्याकरण की रचना की। १८१६ में याकोब ग्रिम का देवभाषा व्याकरण जर्मन भाषा के ऊपर उच्च कोटि का अनूठा व्याकरण है। इसी में ग्रिम नियम का वर्णन है। इसमें ध्वनि-नियमों पर एक नव्य दृष्टि डाली है तथा वाक्य पर भी प्रशंसनीय कार्य किया है। फ्रान्त्स बॉप भाषा-विज्ञान के प्रधान स्तम्भों में से एक है। 'धातु-प्रक्रिया' नामक इनकी पुस्तक में ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता, जर्मन तथा संस्कृत के विविध रूपों की तुलनात्मक मीमांसा की गई है। अनेक भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण की रचना के साथ ही संस्कृत का गम्भीर अध्ययन इन्होंने भाषाओं के मूल को खोजने के लिए किया। बॉप ने संस्कृत तथा ग्रीक भाषाओं के स्वाराघात पर भी एक वैज्ञानिक अवलोकन किया है। बॉप का सबसे बड़ा सिद्धान्त वाक्य यह था कि भाषा-विज्ञान के नियम अपनी एक निश्चित परिधि के भीतर ही सत्य हैं।

इस समय तक भाषा-विज्ञान का ठोस स्वरूप सामने आने लगा था। भाषा के पर्यालोचन की पर्याप्त सामग्री को विभिन्न विद्वानों के अध्ययन ने अधिक समृद्ध बना दिया था। संस्कृत तथा प्राचीन भाषाओं के अध्ययन के अतिरिक्त भाषाओं के वर्गीकरण के विभिन्न पहलुओं तथा प्रत्ययों की सार्थकता पर भी

विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ। व्युत्पत्ति-शास्त्रज्ञ पॉट ने तुलनात्मक ध्वनियों का कोष्टक तैयार किया। इनके अनन्तर आगस्ट श्लाइखर ने आर्य-भाषा का पुनर्निर्माण जर्मन के तुलनात्मक व्याकरण की रचना करके किया। वर्गीकरण को अधिक सूक्ष्म बनाने का इन्होंने प्रयत्न किया। इस क्षेत्र में कुर्टिअस का नाम भी उल्लेखनीय है।

भाषा-विज्ञान को अधिक लोकप्रिय बनाने का कार्य फ्रैड्रिख मैक्समूलर ने किया; इनकी शैली इतनी रोचक थी कि बहुत से लेखक उससे प्रभावित होकर भाषा-विज्ञान की ओर उन्मुख हुए। १८६१ में उनके व्याख्यान प्रकाशित हुए जो अनेक व्यक्तियों के लिए प्रेरणा के स्रोत बने। मैक्समूलर का सबसे बड़ा कार्य भाषा का उद्गम और विकास, विकास के कारण तथा भाषा की प्रकृति और वर्गीकरण है। वे प्रधानतः साहित्यिक और दार्शनिक व्यक्ति थे। भारतीय भाषा, साहित्य एवं दर्शन को विश्व में उच्च पद पर आसीन करने वाले वे ही थे। अर्थ-विचार, आर्यों का मूल स्थान तथा नागरी लिपि का प्रचार, ये तीन कार्य जो पहिले उपेक्षित थे, इनके द्वारा ख्याति को प्राप्त हुए।

इस दिशा में मैक्समूलर के प्रतिद्वन्द्वी अमेरिकन विद्वान् विलियन ड्वाइट ह्विटनी हैं। इनके ग्रंथ 'भाषा और भाषा का अध्ययन', 'भाषा और जीवन का विकास' तथा 'मैक्समूलर और भाषा-विज्ञान' ये तीन हैं। ह्विटनी भाषा को मानवीय उद्योग के फलस्वरूप विकसित मानता था। उसने मैक्समूलर के काल्पनिक सिद्धान्तों की समीक्षा कर उनको विशुद्ध रूप प्रदान किया।

नवयुग

भाषा-विज्ञानियों की नव्य-शाखा का उदय १९वीं सदी के तृतीय चरण में हुआ। हेमैन स्टाइन्थाल ने भाषा-विज्ञान के अध्ययन में तर्कशास्त्र और मनोविज्ञान को भी स्थान दिया। कार्ल ब्रुगमन् के अनुनासिक सिद्धान्त के उदय से ग्रिम-नियम की अनेक शंकाओं एवं अपवादों का समाधान हो गया है। ग्रासमेन, वर्नर तथा जेस्पर्सन का नाम ध्वनि के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण है। ग्रासमेन नियत तथा वर्नर-नियम ने ग्रिम-नियम के अपवाद दूर करने का अथक प्रयत्न किया है। जेस्पर्सन के भाषा की उत्पत्ति, वाक्य-विज्ञान तथा अंग्रेजी व्याकरण महत्वपूर्ण कार्य हैं। १८८० में हर्मन पाल ने भाषा-परिवर्तन के कारणों पर

प्रकाश डाला। टर्नर, स्वीट, टकर, ग्रे तथा ब्लूमफील्ड आदि विद्वानों ने भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में सैद्धान्तिक विवेचना को जन्म दिया है।

प्रश्न ६—भाषा की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न प्रचलित मतों का उल्लेख करते हुए, कारण सहित व्याख्या कीजिए कि कौन सा मत अधिक तर्क संगत है ?

भाषा मनुष्य की बहुमूल्य सम्पत्ति है। यह ज्ञान का सर्वोत्कृष्ट साधन है। मानव के अन्तस्तल में सहज उत्कण्ठा उत्पन्न होती है कि भाषा का मूल स्वरूप क्या है और इसका उद्भव किस प्रकार हुआ ? सृष्टि के आदिकाल से भाषा-विषयक कौतूहल की तृप्ति के लिए कोई निश्चित समाधान प्रस्तुत नहीं किया गया। आधुनिक युग में भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक उद्भावनाएँ तथा मतों की स्थापना की गई है। भाषा के उद्गम तक पहुँचने के दो मार्ग खोजे जाते हैं—प्रत्यक्ष मार्ग तथा परोक्ष मार्ग।

प्रत्यक्ष मार्ग

प्रत्यक्ष मार्ग के अन्तर्गत सभी वाद या सिद्धान्त सीधे भाषा की उत्पत्ति को पकड़ने का प्रयास करते हैं और अनेक भाषा-विषयक संकेतों का सहारा लेकर अपना मत पुष्ट करते हैं।

१. दैव उत्पत्ति (Divine Theory)—यह मत प्राचीनतम है। मानवीय सृष्टि के साथ ही पूर्ण तथा समर्थ भाषा का भी सृजन हुआ। जिस प्रकार मनुष्य की श्वास-प्रश्वास की क्रिया जन्म से ही सहजजात है, उसी प्रकार बिना किसी चेष्टा के वह इस सम्पन्न दैवी वाक् का प्रयोग भी करने लगा है। 'दैवी वाक् का अर्थ है देवों के द्वारा रचित वाणी। शास्त्रों में कहा गया है 'दैवी वाचमजयन्त देवाः'। ईश्वर ने सर्वप्रथम ईश्वरीय ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए पुरातन ऋषियों में इस दिव्य वाक् को प्रस्फुटित किया। परम्परानुसार यह भाषा उस युग से अद्यावधि अनेक दशाओं को पार करती हुई चली आ रही है। इस मत की दृष्टि में उस भाषा का निर्माण शब्दों और धातुओं आदि के द्वारा हुआ। इस मत में तर्क-वितर्क के लिए कोई स्थान नहीं था, क्योंकि मत के प्रवर्तक धार्मिक भावना को लेकर चले हैं। प्रत्येक धर्मावलम्बी अपने आदि ग्रंथ को ईश्वर-कृत मानता है और अपनी भाषा को आदि भाषा।

भारत में संस्कृत को देवभाषा तथा वेदों को अपौरुषेय समझा जाता है। इसी प्रकार ईसाई प्राचीन विधान (Old Testament) की भाषा को, बौद्ध पाली को ईश्वर की प्रथम भाषा मानते हैं आधुनिक भाषाओं का उद्भव इन्हीं से हुआ है।

खण्डन

(क) ईश्वर की दी हुई एक ही बोली होनी चाहिए थी। ईश्वर-प्रदत्त भाषा आरम्भ से विशिष्ट, सम्पन्न, परिमार्जित तथा तर्क-युक्त और शुद्ध होनी चाहिए थी। परन्तु हम देखते हैं कि भाषा का विकास धीरे-धीरे होता है।

(ख) मिस्र के राजा सेमेटिक्स के परीक्षण से ज्ञात होता है कि एकांत में रखे गए दो नवजात शिशुओं के मुख से फ्रीजियन शब्द 'बेकोस' निकला जिसका अर्थ है 'रोटी'। यह शब्द रोटी लाने वाले प्रहरी के मुख से अनजान में निकल गया था। बादशाह अकबर के इसी प्रकार के प्रयोग से बच्चे गूँगे पाये गए। इससे यह निष्कर्ष निकला कि कोई भी शिशु भाषा लेकर नहीं आता।

२. **धातु-सिद्धान्त या डिंग-डांगवाद (Ding-Dong-Theory)**—मैक्स-मूलर की यह भाषा-विषयक उद्भावना अपूर्व है। उसका मत था कि प्रत्येक धातु का टुकड़ा किसी वस्तु से टकराने पर एक विशेष कम्पनमय ध्वनि करता है। वह ध्वनि अन्य ध्वनियों से भिन्न होती है। सृष्टि के आरम्भ में इसी प्रकार की एक विभावना शक्ति मनुष्य में थी। जब वह किसी वस्तु के सम्पर्क में आता उनके मुख से उस वस्तु के लिए एक ध्वनि प्रकट हो जाती थी। यह एक नैसर्गिक शक्ति थी जो भाषा का विकास होने पर लुप्त हो गई। विभिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध में ये ध्वनात्मक अभिव्यक्तियाँ 'धातु' थीं। आरम्भ में धातुओं की संख्या बहुत बडी थी। धीरे-धीरे ये ध्वनि-रूप लुप्त हो गए, केवल ४००-५०० धातु शेष रहे। उन्हीं से भाषा की उत्पत्ति हुई। यह मत ध्वनि और अर्थ में एक रहस्यमय सम्बन्ध मानता था।

खंडन

मैक्समूलर की भाषा के उद्भव की यह धारणा किसी ठोस प्रमाण के अभाव में केवल कल्पना पर ही आधारित है। मनुष्य के अन्दर उद्भाविका शक्ति का कोई आधार नहीं है। भारोपीय तथा सेमेटिक परिवारों में ही धातुओं की स्थिति है, अन्य भाषा-परिवारों में धातु जैसी कोई वस्तु नहीं है। भाषा के लिए

धातु प्रत्यय, उपसर्ग आदि भी अनिवार्य तत्व हैं, परन्तु इसमें उसका कुछ भी उल्लेख नहीं हुआ है। नामों से आख्यात (धातु) उत्पन्न हुए हैं। इन तर्कों के आधार पर यह मत निराधार है।

३. सांकेतिक उत्पत्ति—इसे प्रतीकवाद, स्वीकारवाद, विमर्शवाद तथा निर्णय-सिद्धान्त भी कहा जाता है। आदिकाल में जब मानव-समाज का अंग-संचालन तथा संकेतों द्वारा भावाभिव्यक्ति का कार्य सम्पन्न न हो सका तब सम्पूर्ण मानव-समुदाय ने प्रौढ़ विचार-विनिमय के लिए एकत्रित होकर अपनी इस अवस्था पर विचार किया। वहाँ वस्तु या क्रियाओं आदि के लिए, ध्वनि-संकेत, सांकेतिक नाम तथा विभिन्न शब्द निश्चित कर स्वीकार किये। आज की भाषा उन्हीं ध्वनि-संकेतों का परिवर्तित रूप है।

आलोचना

(क) समझौते के समय भाषा के अभाव में मनुष्यों ने विचार-विनिमय में किस साधन का प्रयोग किया होगा ?

(ख) अचानक ही वस्तु तथा ध्वनियों के नामकरण के सम्बन्ध में कौन-सी शक्ति उनको सूझी।

(ग) उनकी हस्त-सचालन आदि-आदि संकेतों द्वारा कार्य होते हुए भाषा की क्या आवश्यकता थी ? अतः यह मत भी विद्वानों को स्वीकार न हुआ।

४. ध्वनि-अनुकरण सिद्धान्त—(क) इसके अन्य नाम शब्दानुकृतिवाद, अनुकरण मूलकतावाद, भों-भों-वाद (Bow-Wow Theory) आदि हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य ने पशु-पक्षियों की ध्वनि सुनकर उनके अनुकरण पर नये शब्द बना लिए और इसी आधार पर भविष्य में भाषा का विकास हुआ। जैसे, कौवे की काँ-काँ ध्वनि के आधार पर 'काक' की रचना हुई। उसी प्रकार म्याऊँ, कोकिल, पों-पों, में में, मिमियाना, बिबियाना, हिनहिनाना, घुर्राना, दहाड़ना, गिरने की ध्वनि से पत्—पत्र, बहते हुए शब्द करने से नद्—नदी आदि शब्द तथा धातुओं की रचना हुई।

(ख) अनुरणन सिद्धान्त या अनुरणन मूलकतावाद भी एक प्रकार से ध्वनि अनुकरण है। यहाँ प्रायः निर्जीव वस्तुओं की ध्वनि का अनुकरण होता है जैसे झनझनाना, तड़तड़ाना, कल-कल छल-छल, खट-खट आदि। अंग्रेजी में murmur, thunder, jazz, आदि शब्द इसी प्रकार के हैं।

मीमाँसा

(१) इस प्रकार के शब्दों का अनुपात बहुत थोड़ा है, अमरीका की मेकेंजी के किनारे तो इनका नितान्त अभाव है।

(२) मनुष्य अपनी ध्वन्यात्मक शक्ति के होते हुए पशु-पक्षियों पर अवलम्बित क्यों रहा ?

आधुनिक विद्वान् इस मत को सर्वदा त्याज्य नहीं मानते, क्योंकि भाषा में अनेक शब्द अनुकरण के द्वारा उत्पन्न होते हैं।

५. **मनोभावाभिव्यंजकतावाद**—इसे मनोभावाभिव्यक्तिवाद, मनःप्रेरणा-वाद तथा पूह-पूह-वाद (Pooh-Pooh) आदि संज्ञाओं से संबोधित किया जाता है। इस मत के अनुसार मानव से अन्य प्राणियों की भाँति भावावेग के अवसर पर सुख, दुःख, आश्चर्य, घृणा आदि को हा, हाय, ओह, पूह, अहह, धिक्, धत्, फाई, छिः आदि जैसे शब्द सहज ही निकल जाया करते हैं। ये ध्वनियाँ मनोवेगों को प्रकट करती हैं। धीरे-धीरे इन्हीं शब्दों से भाषा विकसित हुई।

समीक्षा

ये शब्द न्यून तथा परिमित संख्या में हैं। इन विस्मयादि-बोधक शब्द का अस्तित्व वाक्य से पृथक् है तथा सभी भाषाओं में एक समान नहीं है। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार में भिन्न-भिन्न हैं; जैसे छिः-छिः और फाई-फाई। आधुनिक शब्द स्वाभाविक न होकर सांकेतिक हैं।

६. **यो-हे-हो वाद**—इसे श्रम-परिहरण-मूलकतावाद कहते हैं। इसके जन्मदाता न्वाइर (Noire) का मत था कि शारीरिक श्रम का कार्य करते समय श्वास-प्रश्वास की तीव्र गति से स्वर-तन्त्रियों में एक प्रकार का कम्पन होने लगता है। उस समय कुछ ध्वनियाँ उच्चरित होकर मानव के श्रम-परिहार में सहायक होती हैं। प्रायः देखा जाता है कि धोबी वस्त्र धोते हुए 'हियो' या 'छियो' कहते हैं। मल्लाह थकान के लिए 'यो-हे-हो' कहते हैं। भाषा में इनकी संख्या अत्यल्प है, अर्थ की दृष्टि से भी कोई महत्व नहीं।

७. **टा-टा सिद्धान्त तथा संगीतवाद (Sing-Song Theory)**—टा-टा-वाद के अनुसार मानव काम करते समय अनजाने वाले उच्चारण अवयवों से

काम करने वाले अवयवों की गति का अनुकरण करता था और इस अनुकरण में शब्दों का उच्चारण हो जाया करता था। इन शब्दों से धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ। संगीतवाद में भाषा की उत्पत्ति आदिम मानव के संगीत से मानी जाती है। वह आदिम मानव भावुक अधिक रहा होगा और संभव है गुनगुनाने में उसे आनन्द आता रहा हो। ये दोनों सिद्धान्त अनुमान पर अधिक आधारित हैं, यथार्थता पर कम। इन दोनों में शारीरिक संकोच, अक्षिनिकोच आदि अस्पष्ट भाव-प्रकाशन के साधन रहे हैं।

८. **विकासवाद का समन्वित रूप**—प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानविद् स्वीट् ने कुछ सिद्धान्तों का समन्वित रूप लेकर भाषा की उत्पत्ति पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। प्रारम्भिक रूप में भाषा भाव-संकेत या इंगित (gesture) और ध्वनि-समवाय पर आधारित थी। ध्वनि-समवाय ही शब्दों के विकास का स्रोत माना जाता है। स्वीट् ने आदिम भाषा को तीन वर्गों में विभाजित किया था—अनुकरणात्मक शब्द माउ (मिस्री), काक (संस्कृत), कुक्कू (अंग्रेजी) तथा घुग्घू (हिन्दी) आदि है। सब भाषाओं में ध्वनि-सादृश्य को स्वीकार किया गया। (२) मनोभावाभिव्यंजक शब्द जैसे—आह, वाह, धिक्, छी: धातुएँ डेनिश 'fy' सं० पृ, धिक्कारना आदि। (३) प्रतीकात्मक (Symbolic)—आदिम शब्द-समूह में इन शब्दों का बाहुल्य रहा होगा। संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि अनेक प्रकार के शब्द रहे होंगे।

संज्ञा—बच्चे के द्वारा उच्चरित मामा, पापा शब्दों को माता-पिता अपने लिए प्रयुक्त समझ लेते हैं और एक प्रकार से ये भी प्रतीकात्मक ध्वनियों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। धीरे-धीरे पीने में 'सिप' या 'सप' की ध्वनि अंग्रेजी क्रिया का प्रतीक बन गई। अरबी में 'शरब' और हिन्दी में 'शरबत', संस्कृत की 'पिबति' हिन्दी—पीना ऐसे ही प्रतीक रूप हैं। सर्वनाम में संस्कृत 'त्वम्' ग्रीक 'to' लैटिन 'tu,' हिन्दी 'तू' इसी कोटि में आती हैं।

उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों के अभाव में कुछ शब्दों का समाधान उपचार (ध्वनि के मुख्यार्थ का बाध होने पर सदृश अर्थ का बोध) के द्वारा किया गया।

उदाहरणार्थ—अंग्रेजी का पाइप (pipe) आज नल या हुक्के की नली के लिए प्रयुक्त होता है, पहिले इसका प्रयोग वाद्य विशेष के लिए होता था। इसी

प्रकार संस्कृत की —कुप्, ···व्यय् और —रम् मूलरूप में काँपने, हिलने और स्थिर होने में प्रयुक्त होती थीं, उपचार से उनका प्रयोग क्रमशः क्रोधित, दुःखित और आनन्दित होने के अर्थ में हो गया।

निष्कर्ष

प्रारम्भ में मनुष्य शब्दों को वाक्यों के रूप में प्रयोग करता था; जैसे रोते हुए बच्चे के 'माँ' उच्चारण करने का तात्पर्य 'माँ मुझे दूध पिला दे' होता था। जैसे-जैसे शब्दकोश बढ़ा, शारीरिक संकेत कम हो गये। आदि जटिल ध्वनियाँ प्रयत्न लाघव के अनुसार परिवर्तित होकर सरल तथा सुलभ बन गईं। इस प्रकार सामाजिक विकास के साथ भाषा का विकास हुआ। समाज में व्यवहृत शब्द उत्तम व्याकरण के नियम-निर्माण का साधन बने।

परोक्ष मार्ग

भाषाओं के वर्तमान स्वरूप से ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के फलस्वरूप भाषा के प्रारंभिक रूप का अनुमान कर लेना परोक्ष मार्ग कहलाता है। वैज्ञानिकों ने भाषा के उद्गम तक पहुँचने के लिए निम्नोक्त रीति से शोध-कार्य किया है—

(१) लड़कों की भाषा से मूल भाषा की प्रकृति जानना।

(२) प्राचीन असभ्य लोगों की भाषा का अध्ययन।

(३) भाषाओं के क्रमिक इतिहास का अध्ययन।

(१) लड़कों की भाषा—व्यक्तिगत अध्ययन से समाजगत या जातिगत विकास की रूपरेखा खींची जा सकती है। इसके आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि आदि मानव ने भी शिशु के भाषा सीखने के ढंग पर भाषा सीखी होगी। शिशु-भाषा का अध्ययन आदि-भाषा के ज्ञान में सहायक हो सकता है। बाल-उद्गार तथा क्रीड़ाएँ प्राकृतिक होती है परन्तु शिशु के सम्मुख भी माता-पिता तथा समाज की भाषा रहती है, जिसका वह सहज में ही अनुकरण कर सकता है।

(२) असभ्य जातियों की भाषा—संसार के कुछ अविकसित तथा असभ्य प्रदेशों में कुछ जातियां प्रारम्भिक अवस्था में ही रह रही हैं। संभवतः आधुनिक

भाषाओं की अविकसित भाषाओं से तुलना करने पर आदि भाषा के संकेतों का परिचय प्राप्त हो सके। हो सकता है, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में इन आदि-वासियों पर भी आधुनिक प्रभाव पड़ा हो। अतः यह अध्ययन भी केवल अनुमान का विषय है।

(३) भाषागत ऐतिहासिक खोज—यह पद्धति सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। साहित्यिक भाषा से आदि भाषा का न्यूनाधिक परिचय मिल जाता है। उदाहरण-स्वरूप हिन्दी से अपभ्रंश, प्राकृत, संस्कृत तथा अवेस्ता के क्रमिक अध्ययन से वह कुछ न कुछ आदि भाषा के सम्बन्ध में अनुमान लगा सकता है।

अन्त में सारांश यह है कि विकासवाद के समन्वित सिद्धान्त से भाषा की उत्पत्ति की उद्भावना को अधिकांश आधुनिक विद्वानों ने स्वीकार किया है। अतः यही मत अधिक तर्कसंगत है।

भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी स्मरणीय पद्य—

> ईश्वर, इंगित, वाऊ वाऊ; मन:प्रेरणा, धातु।
> यो-हे-हो, डिंगडांग दस, विकसित, मिलकर बातु॥

प्रश्न ७—'एक भाषा-विज्ञानी के लिए साहित्यिक भाषा की अपेक्षा बोलियाँ अधिक महत्वपूर्ण हैं।' आलोचना करते हुए बोली, विभाषा, भाषा और राष्ट्रभाषा का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

भाषा

भाषा विचार-विनिमय का साधन है। प्रायः भाषा मनुष्य के स्फुट तथा साभिप्राय ध्वनि-संकेतों का नाम है। सामान्य रूप से इसकी परिभाषा यह है कि 'विचारों की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों के व्यवहार को भाषा कहते हैं।' सृष्टि के आदि-काल से विचारों की यह अभिव्यक्ति होती रही है तथा उसकी धारा अविच्छिन्न रूप से निरन्तर गति के साथ प्रवाहित होती रहेगी। प्राणी की भावाभिव्यक्ति का महत्वपूर्ण अंग होने के कारण मानव के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा मानव के आन्तरिक विचारों का बाह्य कलेवर है। इसकी अन्य परिभाषा इस प्रकार है, 'मनुष्य-मनुष्य के बीच, वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए

व्यक्त-ध्वनि-संकेतों का जो व्यवहार होता है उसे भाषा कहते हैं।' भाषा, वक्ता और श्रोता दोनों के विचारों की अभिव्यक्ति का साधन है। दोनों ही इसमें लाभान्वित होते हैं। भाषा समाज-सापेक्ष वस्तु है। समाज में प्रत्येक कार्य-संचालन के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। व्यवहार रूप में यह सार्थक ध्वनि संकेतों का समाहार है। व्यापक अर्थ में भाव-प्रकाशन के सभी माध्यमों – इंगित या संकेत, स्वर-विकार, भाव-भंगिमा, बल और प्रभाव को भाषा ही कहा जायेगा परन्तु अधिकांश रूप में समाज द्वारा स्वीकृत तथा व्यवहृत ध्वनियों के लिए ही भाषा का प्रयोग किया जाता है। पशु-पक्षी आदि की भावाभिव्यक्ति इसका विषय है।

भाषा अनेक अर्थों में व्यवहृत होती है। सामान्य बोली को भी भाषा कहते हैं. जैसे गूंगे के पास भाषा नहीं है। इसका प्रयोग सामान्य भाषा के लिए भी होता है। संसार की अनेक भाषाओं का वर्गीकरण किया गया है। बोली के अर्थ में भी भाषा प्रयुक्त होती है; जैसे उसकी भाषा बुन्देली है। भाषा-विज्ञान के पाठकों के लिए भाषा का महत्व कम नहीं है। संसार की समस्त भाषाओं को कुछ परिवारों में विभाजित कर दिया गया है। प्रत्येक परिवार में भाषा-वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग में कुछ सजातीय भाषाएँ हैं। प्रत्येक भाषा के अन्तर्गत अनेक विभाषाएँ हैं और तदनन्तर बोलियाँ। अतः भाषा, विभाषा और बोलियाँ ही भाषा-विज्ञान के अध्ययन का प्रमुख विषय हैं।

बोली

सबसे प्रथम हम बोली को लेते हैं। बोलियों के एक प्रकार से समुचित विकास का नाम ही विभाषा तथा भाषा है। बोलचाल में प्रयुक्त होने वाले भाषा के स्थानीय रूप को बोली कहते हैं। दूसरे रूप में इसे घरू बोली भी कहते हैं क्योंकि यह घर या समाज में भावों के आदान-प्रदान के काम आती है। कुछ भी अंशों में यह साहित्यिक नहीं कही जा सकती। इसका क्षेत्र छोटा होता है। डा० भोलानाथ तिवारी ने बोली की परिभाषा इस प्रकार दी है—"बोली किसी भाषा के एक ऐसे सीमित क्षेत्रीय रूप को कहते हैं, जो ध्वनि, रूप, वाक्य-गठन, अर्थ, शब्द-समूह तथा मुहावरे आदि की दृष्टि से उस भाषा के परिनिष्ठित तथा अन्य क्षेत्रीय रूपों से भिन्न होती है, किन्तु

इतना भिन्न नहीं कि अन्य रूपों के बोलने वाले उसे समझ न सकें।"

विभाषा

किसी स्थानीय बोली में जब साहित्य का निर्माण होने लगता है तो उसका क्षेत्र अधिक व्यापक और विस्तृत हो जाता है, उस दशा में उसे 'विभाषा' कहते हैं। यह विभाषा 'उपभाषा' भी कहलाती है। विभाषा की सीमा अपने प्रान्त तक ही सीमित रहती है। इस प्रकार यह प्रान्त भर की बोलचाल तथा साहित्य के विचार-विनिमय का माध्यम रहता है। ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि विभाषाएँ तथा प्रान्तीय भाषाएँ हैं।

राष्ट्र-भाषा

जब एक बोली या विभाषा का क्षेत्र व्यापक हो जाता है और उसका प्रयोग पूरे क्षेत्र से संबंधित कार्यों के लिए होता है तथा अधिक उन्नत होकर महत्वपूर्ण बन जाती है तब धीरे-धीरे वह राष्ट्र-भाषा का पद ग्रहण कर लेती है। ऐसी आदर्श भाषा ही एक देश की प्रतिनिधि भाषा हो जाती है तथा आस-पास की विभाषा तथा बोलियों पर उसका अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार की भाषा सम्पूर्ण राष्ट्र या देश में तथा अन्य भाषा क्षेत्र में भी उसका प्रयोग सार्वजनिक कामों आदि में होने लगता है तो वह राष्ट्र-भाषा के किरीट को धारण कर अन्य भाषाओं की साम्राज्ञी बन जाती है। आज की खड़ी बोली ने ब्रज, अवधी और भोजपुरी सभी को प्रभावित किया है। वह अपने परिवार के अहिन्दी प्रान्तों (राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल आदि) में भी धीरे-धीरे व्यवहृत की जा रही है।

भाषा, बोली आदि में परस्पर अन्तर

एक भाषा के अन्तर्गत कई बोलियाँ होती हैं। बोली का क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा और भाषा का बड़ा होता है। बोली का साहित्यिक रूप ही विभाषा या उपभाषा कहलाता है। जब एक विशिष्ट उपभाषा उन्नत और प्रभावशील होकर राष्ट्र-व्यापी बन जाती है तो राष्ट्रभाषा का रूप धारण कर लेती है। इसमें देश की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक परिस्थितियों का योग होता है।

बोलियों के महत्व प्राप्ति के कारण – १. कुछ बोलियाँ अन्य बोलियों के

लुप्त हो जाने के कारण महत्वपूर्ण समझी जाती हैं तो भाषा कहलाती हैं, यथा 'ब्राहुई' तथा 'मुण्डा' भाषा ।

२. साहित्य की श्रेष्ठता के कारण बोलियाँ महत्वपूर्ण हो जाती हैं । यथा बंगला ।

३. धार्मिक श्रेष्ठता से भी बोली का महत्व बढ़ जाता है । 'राम' और 'कृष्ण' की भक्ति के प्रभाव से अवधी और ब्रज को अधिक महत्व मिला तथा वे सदियों तक साहित्यिक भाषाएँ रहीं ।

४. विकसित समाज तथा बोलने वालों के कारण बोली महत्वपूर्ण बन जाती है । यथा अंग्रेजी आज एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है ।

५. राजनीति बोली के प्रमुख एवं महत्वपूर्ण होने का विशेष कारण है । राजनीति के केन्द्र की बोली विकसित तथा समृद्ध होकर भाषा का रूप ग्रहण कर लेती है । दिल्ली-मेरठ के समीप की खड़ी बोली ने अवधी, ब्रज जैसी विकसित भाषाओं को दबाकर राष्ट्र-भाषा का पद प्राप्त किया है । अन्य उदाहरण पेरिस की फ्रेंच तथा लन्दन की अंग्रेजी बोलियाँ हैं ।

भाषा-शास्त्री के लिए बोली का अपेक्षाकृत अधिक महत्व है । साहित्यिक भाषा से भाषावेत्ता के लिए बोली का अधिक महत्व है । इसका स्पष्ट कारण यह है कि बोली की स्थिति स्वाभाविक तथा प्राकृतिक होती है और उसका विकास भी स्वाभाविक होता है । साहित्यिक भाषा सदैव व्याकरण के नियम तथा उपनियमों में बँध जाती है और उसकी नैसर्गिक गति और स्वाभाविक विकास रुक जाता है । साहित्यिक भाषा बन्धन में बँध कर अपनी गति मंद कर देती है । व्याकरण के दृढ़ बंधन के कारण भाषा का प्रवाह रुक जाता है और इस प्रकार से भाषा की प्रकृति मर जाती है । परिवर्तन प्रकृति का नियम है । जहाँ परिवर्तन रुका भाषा का वहीं अन्त हुआ । समाज परिवर्तनशील है अतः एक भाषाविद् भी परिवर्तनशील समाज की स्वाभाविक भाषा का अध्ययन करना चाहता है, जिससे वह भाषा के नैसर्गिक रूप का अध्ययन कर भाषा की प्रकृति,-प्रवृत्ति तथा उसके विकास के सम्बन्ध में परिचित हो जाय और अपने सिद्धान्तों का सहज ही विवेचन कर सके ।

प्रश्न ८—भाषा परिवर्तनशील क्यों कही जाती है। परिवर्तन के मुख्य-मुख्य कारणों की विवेचना उदाहरण सहित कीजिए।

अथवा

भाषा के बाह्य तथा आभ्यन्तर रूपों में विकास और परिवर्तन के कारणों पर प्रकाश डालिए।

संसार के कण-कण में प्रतिपल परिवर्तन हो रहा है। प्रत्येक वस्तु ही क्या मानव संस्कृति, सभ्यता तथा दर्शन में भी शनैः-शनैः परिवर्तन दृष्टिगत होता है। किसी वस्तु के परिवर्तन का हमें आभास मिल जाता है क्योंकि वह परिवर्तन अति शीघ्र होता है परन्तु कभी-कभी इसका परिवर्तन कालान्तर में दृष्टिगत होता है। किसी अवस्था पर हम उनके आभास का दर्शन कर पाते हैं। परिवर्तन के इस शाश्वत चक्र में भाषा भी अन्तर्हित है। अतएव भाषा में परिवर्तन ही उसका विकास है। परिवर्तनशीलता की प्रभविष्णुता अचूक और अमोघ है। यह विकास भाषा के समस्त रूपों में होता है। ध्वनि, पद, रूप, अर्थ और वाक्य भी भाषा के परिवर्तन-चक्र के अरे (Spokes) हैं। इनमें भी चक्र की गति के साथ परिवर्तन होता रहता है। भाषा परम्परागत वस्तु है। उसकी धारा प्रवाहित तथा परिवर्तनशील होने पर भी स्थायी और नित्य है। वह अपने एक उद्गम स्थान से सृष्टि के आदिकाल से लेकर अब तक एकता के आधार पर अविच्छिन्न रूप से बह रही है। कालान्तर में यह भाषा अपने आदि स्वरूप से इतनी परिवर्तित हो गई है कि उसके प्राचीन और अर्वाचीन रूप में जमीन-आसमान का अन्तर दिखाई देता है। कहां वैदिक संस्कृत और कहाँ आज की हिन्दी !

भाषा के इस परिवर्तन को ही विकास कहते हैं। वैयाकरण इसे ह्रास, अवनति तथा अपभ्रष्ट या घिसे हुए रूप के नाम से पुकारते हैं। परन्तु भाषा-विज्ञानवेत्ता अपनी उदार दृष्टि के कारण विकास की संज्ञा से विभूषित करते हैं। विकास का अर्थ भाषा की उन्नत या परिमार्जित अवस्था नहीं है, वरन् नवीनता का परिणाम मात्र है। जिस प्रकार मानव की अवस्थाओं की परिपक्वता का विकास होता है, उसी प्रकार भाषा की दशाओं का विकास होता है।

उदाहरणार्थ उपाध्याय का 'झा' रह जाना अवनति न होकर भाषा शास्त्र की दृष्टि से विकास मात्र ही है।

भाषा में परिवर्तन अधिकांशतः परम्परा तथा जन-संसर्ग की विभिन्नता के कारण होता है। भाषा की शिक्षा मानव तथा समाज के संसर्ग से मिलती है। समय-क्रम से यह परिवर्तन धीरे-धीरे होता है। एक भारतीय शिशु अंग्रेजी महिला के सम्पर्क के कारण अँग्रेजी ही बोलेगा। संसर्ग तथा सम्पर्क की यह भाषा साहित्यिक न होकर सर्व-साधारण की भाषा होती है जिसे 'बोली' की संज्ञा दी जाती है। प्राचीन सर्वसाधारण की भाषा से ही हिन्दी भाषा की उत्पत्ति हुई है। काल-भेद तथा अन्य संस्कृतियों के सम्पर्क से उसके मूल रूप में अन्तर आ जाता है। यह एक वर्तमान तथ्य है। भाषा नित्य है तथा निरन्तर परिवर्तित होती रहती है।

भाषा के विकास या परिवर्तन के कारण

भाषा-शास्त्रज्ञों ने भाषा-सम्बन्धी इस विकास के कारणों के खोजने का प्रयास किया है। प्रवृत्ति तथा भाषा के आधार पर इन को दो वर्गों में विभक्त किया गया है। एक आभ्यन्तर वर्ग तथा दूसरा बाह्य वर्ग।

(क) आभ्यन्तर वर्ग

आभ्यन्तर वर्ग के अन्तर्गत भाषा की स्वाभाविक गति तथा प्रयोक्ता की शारीरिक तथा मानसिक योग्यता से सम्बन्धित कारण आते हैं। वे कारण ये हैं:—

(१) प्रयोग से घिस जाना—अधिक प्रयोग के फलस्वरूप शब्दों में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें 'स्वयभू' कहा जाता है। इसमें शब्द स्वमेव तथा स्वयं सचलित शक्ति के द्वारा विकसित होकर छोटे तथा सरल होते हैं। यह परिवर्तन स्वाभाविक होता है। यथा—त्वया का तू, क्नो (Know) का 'नो' 'मास्टर साहब' का 'मास्साब' आदि।

(२) बलाघात—जिस ध्वनि या अर्थ पर अधिक बल दिया जाता है वह अन्य ध्वनियों या अर्थों को या तो निर्बल बना देता है या नष्ट कर देता है। इससे वर्ण सभी लुप्त या शक्तिहीन हो जाता है। इस कारण भी भाषा-विकसित

होती है। जैसे आभ्यन्तर में 'भ्य' पर बल है अतः आरम्भ का 'अ' समाप्त होकर 'भीतर' बन गया। बाजार में बजार तथा उपाध्याय से 'झा' इस प्रकार के रूप है। संस्कृत के भांडार तथा भंडार दो रूप बलाघात के ही फलस्वरूप हैं।

(३) **प्रयत्न-लाघव या मुख-सुख**—यह कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि भाषा में ९० प्रतिशत परिवर्तन इसी के आधार पर होते हैं। यह मानव की सहज प्रवृत्ति है कि वह थोड़े से प्रयत्न से अधिक कार्य की सिद्धि करना चाहता है। इसी प्रयत्न लाघव (कम प्रयास) के प्रयोग के द्वारा व्यक्ति सरलता के लिए शब्द को लघु या सहज उच्चरित बना डालते हैं। इस तरह शब्दों का दीर्घाकार रूप संक्षिप्त और सरल रूप में परिवर्तित हो जाता है। उच्चारण की दृष्टि से शब्दों को सहज और मधुर बना देना ही 'मुख-सुख' है। इस प्रकार प्रायः व्यक्तिवाचक संज्ञायें, सर्वनाम तथा अभिवादन के शब्द विकसित होकर लघु रूप धारण कर लेते हैं।

उदाहरणार्थ—अनाज से नाज, एकादश से ग्यारह (स्वर-लोप), स्थान से थान (व्यंजन-लोप), स्काउट से इस्काउट, कृपा से किरपा (स्वरागम), अस्थि से हड्डी (व्यंजनागम), वाराणसी से बनारस (वर्ण-विपर्यय), शर्करा से शक्कर, कलक्टर से कलट्टर (समीकरण), काक से काग (विषमीकरण), उष्ट्र से ऊँट, श्वास से साँस (अकारण अनुनासिकता) आदि।

(४) **भावातिरेक**—यह भी प्रयत्न लाघव का एक प्रकार से भेद है। भाव के आधिक्य तथा स्नेहाभिभूति से ध्वनि का रूप विकृत हो जाता है। इसमें अतिशय तथा दाम्पत्य प्रेम का अधिक प्रयोग होता है, 'कृष्ण का कन्हैया' या 'कान्हा', 'पांव' का 'पाइयाँ', बाँह का 'बहियाँ' आदि।

(५) **मानसिक स्तर**—भाषा, प्रयोक्ता के मानसिक स्तर में परिवर्तन होने से विचारों में परिवर्तन हो जाता है। विचारों की अभिव्यंजना भाषा के माध्यम से होती है। अतः भाषा में भी परिवर्तन हो जाता है। किसी जाति अथवा देश की मानसिक अवस्था की उच्चता तथा निम्नता की कल्पना से भाषा में अन्तर हो जाता है। यथा—जर्मन विद्वान् जर्मनी को अंग्रेजी से अधिक सौष्ठव-संयुक्त तथा गतिशील मानते हैं। बंगाली भाषा संयुक्त व्यंजनों की हीनता के कारण मधुर तथा स्त्रीत्व से सुन्दर है। यह मानसिक अवस्था का

द्योतक है कि मद्रासी कठिन-से-कठिन व्यजन को शीघ्रता से खटाखट बोल जाता है।

(६) **अनुकरण की अपूर्णता**—भाषा एक परम्परा तथा अर्जित सम्पत्ति है। अनुकरण के द्वारा मनुष्य भाषा को सीखता है। सम्यक् तथा शुद्ध अनुकरण की स्थिति में भाषा में न्यूनतम परिवर्तन होता है परन्तु अनुकरण की अपूर्णता में उच्चारण में अन्तर आ जाता है और फलस्वरूप ध्वनि में परिवर्तन हो जाता है। यह अपूर्ण तथा अशुद्ध अनुकरण की प्रवृत्ति का स्पष्ट दर्शन प्रायः आठ-दस पीढ़ी के अनन्तर होता है। इससे एक भाषा चिरकाल में एक बड़े अंश में विकसित या परिवर्तित हो जाती है।

अनुकरण की अपूर्णता निम्न कारणों से होती है—

(क) **शारीरिक विभिन्नता**—उच्चारण अंग तथा आस्य-प्रयत्नों के समान न होने के कारण से अनुकरण पूर्ण तथा शुद्ध नहीं हो पाता और कुछ काल के अनन्तर भाषा में परिवर्तन हो जाता है। एक व्यक्ति का शरीर अन्य व्यक्ति के शरीर से गठन तथा संस्थान की दृष्टि से पृथक् होता है। तदनुसार मस्तिष्क के झुकाव तथा उच्चारण अंग की भिन्नता से 'ध्वनि-उच्चारण' में भी अन्तर आ जाता है। कुछ विद्वानों ने इसका खंडन भी किया और कहा कि भारतीय सन्तान यूरोप में शुद्ध अंग्रेजी बोलते हैं। परन्तु भाषा के गठन आदि में कोई भेद नहीं पैदा होता। यह निश्चित है कि पीढ़ी दर पीढ़ी भाषा में भिन्नता अवश्य आ जाती है।

(ख) **ध्यान की कमी**—यह ध्यान की कमी आलस्य तथा प्रमादवश होती है। उचित ध्यान न देने से उच्चारण के अनुकरण में भिन्नता आ जाती है जो कालान्तर में भाषा-परिवर्तन का कारण बन जाती है।

(ग) **अशिक्षा तथा अज्ञान**—इन दोनों के कारण से भी अनुकरण उचित रूप से पूर्ण नहीं हो पाता है। इसके अन्तर्गत देशी-विदेशी दोनों ही शब्द आ जाते हैं। उदाहरणार्थ—देश से देस (श>स) तृष्णा का तिसना (ष>स) गुण का गुन, कर्ण का कान (ण>न), शिक्षा का सिच्छा, क्षत्रिय का क्षत्री, (क्ष>छ), ऋण का रिन, ऋषि का रिसि (ऋ का रि) आदि प्रयत्न-लाघव के साथ ही साथ अज्ञान तथा अशिक्षा के कारण भी हो जाते हैं। अन्य उदा-

हरण इंजन, रायब्रेली (लाइब्रेरी), रपट (रिपोर्ट), (लार्ड) लाट, टेम (टाइम), सिगल (सिगनल) आदि हैं।

(ख) बाह्य वर्ग

बाह्य वर्ग में बाहर से भाषा पर प्रभाव डालने वाले तत्व आते हैं।

(७) भौतिक वातावरण—एक परिवार में अनेक भाषाएँ और एक भाषा में अनेक बोलियां बनने का प्रभावशील कारण भौतिक तथा प्राकृतिक वातावरण है। शीत तथा उष्णता की न्यूनता तथा आधिक्य से जीविका, स्वभाव, रहन-सहन, आचरण आदि पर प्रभाव पड़ता है और भाषा इन सभी वस्तुओं पर आधारित है। मैदान में आवागमन सरल होने के कारण तथा सम्पर्क के कारण भाषा में एकरूपता रहती है जबकि पहाड़ी भागों में आवागमन की सुविधा तथा सहज सम्पर्क के अभाव में अनेक भाषा तथा बोलियों का विकास पृथक् पृथक् रूप से होता है। अतः पर्वतीय प्रदेश में थोड़ी दूर पर ही भाषा में अन्तर पड़ जता है। उपजाऊ-भूमि में वास करने वालों की भाषा अधिक उन्नत तथा समृद्ध होगी और उसमें एक प्रकार की दार्शनिकता, गम्भीरता तथा व्यंजना रहेगी, क्योंकि खाद्य सामग्री के आधिक्य से लोगों को उन्नति करने का समय मिलेगा : जैसे भारत और यूनान में भाषा की गूढ़ता का दर्शन होता है। इसके विरुद्ध पर्वतीय या जंगली लोगों की भाषा में इस प्रकार का विकास नहीं होता। अतः भौतिक परिस्थितियाँ भी भाषा के विकास पर प्रभाव डालती हैं।

(८) सांस्कृतिक सम्मिलन तथा प्रभाव—संस्कृति समाज का प्राण है। अतः इसके प्रभाव से भी भाषा में परिवर्तन आ जाता है।

(क) किसी राष्ट्र की सांस्कृतिक संस्थाओं से प्राचीन शब्दों का पुनरागमन हो जाता है। अतः परिणामतः विचार तथा अभिव्यक्ति-शैली में परिवर्तन हो जाता है। यह स्पष्ट है कि १९वीं शताब्दी से लेकर आधुनिक काल पर्यन्त हिन्दी भाषा में आर्य-संस्कृति के विकास के कारण अनेक संस्कृत शब्दों ने अपना अमिट स्थान बना लिया है।

(ख) व्यक्तियों के महान व्यक्तित्व के प्रभाव से भाषा में परिवर्तन हो जाता है। कवि, लेखक, नेता तथा विद्वान् पुरुषों के द्वारा प्रयुक्त अनेक शब्द

भाषा की शैली और वाक्य-गठन पर अपना प्रभाव डालते हैं। गोस्वामी तुलसी दास के काव्य ने उत्तरी भारत की भाषा, समाज तथा धर्म पर अमिट प्रभाव डाला तथा उनकी शैली का अनुकरण अनेक परवर्ती कवियों ने किया।

(ग) **सांस्कृतिक सम्मिलन**—कभी-कभी दो विभिन्न सस्कृतियों का मेल व्यापार, धर्मप्रचार, राजनीतिक कारणों से हो जाता है और उनका भाषा तथा शब्दों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। भारत में ही आस्ट्रिक-द्रविड़, द्रविड़-आर्य, आर्य-यवन, भारतीय मुसलमान तथा भारत-यूरोप के सांस्कृतिक सम्मिलन ने हिन्दी भाषा को अधिकांश रूप में परिवर्तित कर दिया है। उदाहरणार्थ हिन्दी में गगा (आस्ट्रिक) नीर (द्रविड़), दाम (यवन), क़मीज बाजार, (तुर्क) आदि के शब्द आ गये हैं।

(९) **सामाजिक व्यवस्था**—भाषा को परिवर्तित करने का एक प्रमुख कारण सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियां भी हैं। अशांति तथा युद्ध के समय में भाषा में द्रुतगति से परिवर्तन होता है। सामाजिक क्रांति या परिवर्तन प्रत्येक देशवासी के विचार तथा संस्कृति में परिवर्तन ला देता है। भाषागत रूढ़ियां लुप्त होकर कुछ नवीन शब्द-रचना का श्रीगणेश करती हैं। समय की न्यूनता हमें भाषा के संक्षिप्त रूप की ओर आकृष्ट करती है, यूनेस्को, सीटो, नेफा आदि इसी प्रकार के रूप हैं। समाज तथा राष्ट्र की शांति के समय भाषा में स्थिरता लालित्य तथा एक प्रकार की कलात्मकता का समावेश रहता है।

(१०) **भाषा-भाषियों की उन्नति**—राष्ट्र या देश के जन-जीवन के उन्नत स्तर के कारण भाषा में विकास हो जाता है। आधुनिक युग में वैज्ञानिक तथा भौतिक उन्नति के कारण से नई उन्नति के अनुरूप नई अभिव्यंजना प्रणाली का विकास हो जाता है और प्राचीन शब्दों में भी नवीन अर्थ का समावेश हो जाता है। दूसरे मशीन, रहन-सहन के साधन तथा अन्य वस्तुओं के निर्माण के कारण नये शब्दों का निर्माण हो जाता है। भारतीय भाषाएँ भी वैज्ञानिक उन्नति के फलस्वरूप अधिक व्यापक और उन्नत हो रही हैं।

(११) **सादृश्य**—सादृश्य भाषा के आभ्यन्तर तथा बाह्य दोनों ही कारणों में रखा जा सकता है। भाषा परिवर्तन में सादृश्य का पर्याप्त महत्व है। मानव

स्वभावतः सरलता का प्रेमी होता है। उसका यह स्वभाव भाषा में भी कार्य करता है। यह एक शब्द को किसी अन्य शब्द की सदृश्यता या रूप-समानता के अनुरूप ढाल लेता है और इस प्रकार शब्द के मूल रूप में परिवर्तन हो जाता है। आगे यह परिवर्तित रूप प्रचलित हो जाता है। जैसे संस्कृत में 'द्वादश' के वजन पर 'एकदश' को 'एकादश' बना लिया है। सैंतीस और सैंतालीस की अनुनासिकता पैंतीस और पैंतालीस के सादृश्य पर ही आधारित है। पाश्चात्य के सादृश्य पर पौर्वात्य तथा निर्गुण के सादृश्य पर सगुण हो गया है। सादृश्य स्मृति के आधार पर अनेक प्रकार से अपना कार्य करता है।

उपर्युक्त दृष्टि-बिन्दुओं के आधार पर ही भाषा का विकास होता है। विकास का अर्थ कुछ न होकर परिवर्तन मात्र ही है। भाषा-शास्त्री विकास का अर्थ भाषा की अप्रिय अवस्था अनुमानित करते हैं।

प्रश्न ९—दो भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध को निर्धारण करने के प्रमुख तत्वों का उल्लेख करते हुए भाषा विभाजन की विभिन्न पद्धतियों के गुण-दोषों का विवेचन कीजिये।

यह संसार अनेकानेक भाषा तथा बोलियों का सागर है। थोड़ी सी ही दूरी पर भाषा में परिवर्तन दृष्टिगत होता है। कहावत भी है 'चार कोस पर पानी बदले, आठ कोस पर बानी'। इस भाषा के अदूर परिवर्तन के कारण से भाषा-विज्ञों ने संसार में बोली जाने वाली भाषाओं की संख्या २७९९ आँकी है तथा अनेक भाषाओं की गणना का प्रयत्न भी किया जा रहा है।

संसार में भाषा-विभाजन की अनेक पद्धतियों को अपनाया गया है। प्रमुख रूप से प्रमुख आधार अधोलिखित हैं—

(१) महाद्वीप के आधार पर भी अनेक विद्वानों ने भाषा के विभाजन का प्रयत्न किया है—जैसे एशियाई भाषाएँ, यूरोपीय भाषाएँ, अफ्रीकी भाषाएँ आदि।

(२) देश के आधार पर भी भाषा-विभाजन किया जाता है—यथा भारतीय भाषाएँ, चीनी भाषाएँ आदि।

(३) काल के आधार पर भी भाषा को विभाजित किया जाता है—जैसे

प्रागैतिहासिक भाषाएँ, प्राचीन भाषाएँ, मध्ययुगीन भाषाएँ तथा आधुनिक भाषाएँ आदि।

(४) धर्म का आधार भी भाषा-विभाजन की एक पद्धति माना जाता है, परन्तु इनका महत्त्व अधिक नहीं है—यथा हिन्दू भाषाएँ, मुसलमान भाषाएँ, ईसाई भाषाएँ आदि।

(५) प्रभाव के आधार पर ही भाषा-विभाजन विचारणीय है तथा अनेक दृष्टियों से इस पर विविध रूप से विचार भी किया गया है। जैसे संस्कृत प्रभावित भाषाएँ तथा फारसी प्रभावित भाषाएँ आदि। यह पद्धति अब अपनी शैशवावस्था में है। इस प्रकार के अध्ययन से भी भाषा-विषयक बहुत सुन्दर निष्कर्ष प्रकाश में लाये जा सकते हैं।

(६) भाषाओं की आकृति के आधार पर संसार की भाषाओं का वर्गीकरण अधिक वैज्ञानिक समझा जाता है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह अत्यंत महत्वपूर्ण है। जैसे—योगात्मक तथा अयोगात्मक भाषाएँ।

(७) परिवार या वंश के आधार पर संसार की भाषाओं का विभाजन भी भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में अपना अधिक महत्व रखता है। इस आधार पर वर्गीकरण करते समय संसार की भाषाओं को कुछ वर्गों या परिवारों में विभाजित कर उनका विवेचनात्मक अध्ययन किया जाता है। यथा—भारोपीय परिवार की भाषाएँ, एकाक्षर परिवार की भाषाएँ, द्रविड़ परिवार की भाषाएँ आदि।

उपर्युक्त आधारों में भाषा-विज्ञान की दृष्टि से आकृति-मूलक तथा पारिवारिक ही अपना अधिक महत्त्व रखते हैं।

प्रभाव के आधार पर वर्गीकरण को भी कुछ विद्वान अधिक उपयोगी मानते हैं क्योंकि दो ऐसी भाषाओं में जो आकृति-मूलक या पारिवारिक दृष्टि से एक दूसरे के समीप नहीं है, प्रभाव की दृष्टि से एक दूसरे के निकट आ जाते हैं और उनका तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ हिन्दी और तामिल में अन्तिम दो दृष्टियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु दोनों में शब्द-समूह और ध्वनि की दृष्टि से पर्याप्त साम्य है क्योंकि दोनों पर संस्कृत का अमिट प्रभाव पड़ा है।

प्रायः भाषाओं का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जाता है—एक भाषा के आकार, रूप, गठन और स्वभाव के अनुसार तथा दूसरा उसके इतिहास और

उद्भव के अनुसार। पहला आकृति-मूलक तथा दूसरा पारिवारिक वर्गीकरण कहा जाता है। इन दोनों प्रकार के वर्गीकरणों में हमें विशेषत: तीन तत्वों पर ध्यान देना पड़ता है—(१) अर्थ-तत्व, (२) सम्बन्ध-तत्व तथा (३) शब्द-भण्डार।

दो भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध को निर्धारित करने के ये तीन ही प्रमुख तत्व हैं जिन पर दृष्टिपात करना परम अपेक्षणीय है।

अर्थ-तत्व और सम्बन्ध-तत्व

वाक्य का महत्व तथा अर्थ दो वस्तुओं पर आधारित है। एक है 'अर्थ तत्व' और दूसरा 'सम्बन्ध-तत्व'। 'कृष्ण ने कंस को मारा' यह एक वाक्य है। इसमें 'कृष्ण', 'कंस' और 'मारना' ये अर्थ-तत्व है क्योंकि इससे अर्थ का बोध होता है तथा ने, को और मारा को 'आ' ये सम्बन्ध-तत्व है। क्योंकि इनसे एक अर्थ तत्व का दूसरे अर्थ तत्व से संम्बन्ध स्थापित किया जाता है। अत: पद रचना की दृष्टि से सम्बन्ध तत्व का अस्तित्व महत्वपूर्ण है। इन्हीं सम्बन्ध तत्वों के आधार पर अर्थ तत्वों का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट होता है कि कृष्ण ने मारा, कंस मारा गया, कृष्ण नहीं तथा भूतकाल में मारा गया। इन सम्बन्ध तत्वों के संयोग से वाक्य का पूर्ण अर्थ समझ में आ गया। उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि वाक्य में सम्बन्ध तथा अर्थ तत्व दोनों ही आवश्यक हैं। सम्बन्ध तत्व एक रूप में प्राय: सम्बन्ध का बोध कराते हैं जबकि अर्थ तत्व बदल सकते हैं। कृष्ण के स्थान पर राम और कंस के स्थान पर रावण हो जाने से सम्बन्ध तत्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

पद की रचना या सम्बन्ध तत्व का सम्बन्ध व्याकरण या भाषा की रूप रचना से है। अत: सम्बन्ध तत्व या वैयाकरणिक साम्य पर आधारित वर्गीकरण आकृतिमूलक या रूपात्मक के नाम से अभिहित किया जाता है। मूल शब्द की रूप रचना पद्धति के अनुसार साम्य रखने वाली सभी भाषाएं एक वर्ग में रखी जाती हैं। इस वर्गीकरण का सम्बन्ध वाक्य से है। वाक्य रूपों के आधार पर बनते हैं।

पारिवारिक वर्गीकरण में सम्बन्ध तत्व के साथ-साथ अर्थ तत्व की समानता पर ध्यान दिया जाता है। इस वर्गीकरण में प्राथमिक शब्द भण्डार की

समानता का भी विवेचन किया जाता है। ये तीनों तत्वों की समानता ही दो या अधिक भाषाओं को एक परिवार में रखने का एक मापदण्ड है।

गुण-दोष

उपरोक्त सातों प्रणालियों में अनेक गुण और दोष हैं। काल या स्थान की दृष्टि से वर्गीकरण में औचित्य नहीं आ पाता है। एक छोटे परिवार के उप-विभाजन में ये सहायक हो सकते हैं न कि संसार के भाषा-विज्ञान के लिए। प्रभाव के आधार पर वर्गीकरण का अभी समुचित विकास नहीं हो पाया है। आकृतिमूलक वर्गीकरण वैज्ञानिक है परन्तु दोष यह है कि अनेक असंम्वद्ध भाषाएँ भी एक ही वर्ग में संगृहीत हो जाती हैं और भाषा विज्ञान के छात्र को उसके अध्ययन में कठिनाई अनुभव होती है। पारिवारिक वर्गीकरण में इस दोष का समाधान मिल जाता है क्योंकि उसमें एक ही मूल से शब्द भण्डार के तारतम्य से सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है।

प्रश्न १०—भाषा का आकृतिमूलक या शब्द रचना की दृष्टि से वर्गीकरण कीजिए। इस वर्गीकरण की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

भाषा के आकृतिमूलक वर्गीकरण के अन्य नाम रूपात्मक, रचनात्मक, व्याकरणिक, वाक्यात्मक, वाक्यमूलक, रूपाश्रित, पदात्मक, पदाश्रित तथा व्याकरणिक हैं। इस वर्गीकरण का आधार सम्बन्ध तत्व या पद रचना की शैली है। पद-रचना तथा सम्बन्ध तत्व की समानता का दिग्दर्शन करने के पश्चात् ही रूपात्मक वर्गीकरण का श्रीगणेश किया जाता है। अतः आकृतिमूलक वर्गीकरण के प्राण ये दोनों तत्व हैं जिनमें आकृति या रूप की समता पर विशेष बल दिया जाता है। इस अर्थ तत्व और सम्बन्ध तत्व के साम्य पर ही इस वर्गीकरण की भित्ति आधारित है। शब्दों की रूप-रचना कालान्तर में परिवर्तित हो जाती है परन्तु उसमें पद (रूप) साम्य की झलक स्पष्ट दृष्टिगत हो जाती है। डाक्टर भोलानाथ तिवारी के मतानुसार "वाक्य-विज्ञान और रूप विज्ञान, या वाक्य रचना एवं (रूप या) पद रचना पर ही यह वर्गीकरण आधारित है।"

आकृति या रूप की दृष्टि से संसार की भाषाएँ प्रमुखतः दो वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं—

(क) अयोगात्मक या निरवयव भाषाएँ (Isolating)

(ख) योगात्मक या सावयव भाषाएँ (Agglutinating)।

(१) अयोगात्मक भाषाएँ

अयोगात्मक भाषाओं को निरवयव भाषाएं भी कहते हैं। यहाँ 'अयोग' का अर्थ यह है कि शब्दों में उपसर्ग या प्रत्यय जोड़कर रूप-रचना नहीं की जाती है अपितु इस पद्धति में प्रत्येक शब्द की अपनी स्वतन्त्र सत्ता वर्तमान रहती है। इसमें दूसरे शब्दों के कारण विकार या परिवर्तन नहीं होता है। शब्द की पृथक्-पृथक् शक्ति के द्वारा ही अर्थ-तत्व और सम्बन्ध-तत्व का ज्ञान होता है। स्थान-परिवर्तन से ही अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है। इसलिए इन भाषाओं को 'स्थान-प्रधान' भी कहते हैं। इस वर्ग की सर्वप्रधान तथा प्रतिनिधि भाषा चीनी है। उद्देश्य और विधेय आदि का सम्बन्ध-ज्ञान स्थान या स्वर परिवर्तन के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। काल-रचना या कारक-रचना के सम्बन्ध कोई व्याकरण की तरह नियम नहीं है। एक ही शब्द स्थान-भेद तथा वाक्य में प्रयोग के आधार पर संज्ञा, विशेषण, क्रिया तथा क्रिया-विशेषण आदि शब्द में बिना किसी परिवर्तन के हो सकता है। जैसे चीनी भाषा में—

(१) 'ता लेन'=बड़ा आदमी।
'लेन ता'=आदमी बड़ा (है)।

(२) 'न्गो त नि'=मैं मारता हूँ तुम्हें।
'नि त न्गो'=तुम मारते हो मुझे।

उपर्युक्त उदाहरण में स्थान-भेद से अर्थ में परिवर्तन उपस्थित हो गया है। स्वर-भेद से एक ही अक्षर 'व' का अर्थ 'व व व व' वाक्य में 'तीन महिलाओं ने राजा के कृपा-पात्र के कान उमेठें' हो गया है। चीनी के अतिरिक्त अफ्रीका की सूडानी, तिब्वती, बर्मी, अनामी, स्यामी तथा मलय आदि भाषाएँ अधिकांशतः इसी वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। डॉ० श्यामसुन्दर ने इसको व्यास-प्रधान कहा है। इन भाषाओं के अन्य नाम एकाक्षर, एकाच्, धातु-प्रधान निरिन्द्रिय निरयोग तथा निपात-प्रधान भी हैं।

(२) योगात्मक भाषाएँ

योगात्मक या सावयव (Organic) भाषाओं में अर्थ-तत्व तथा सम्बन्ध-

तत्व का योग रहता है। इसमें शब्दों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वे प्रत्यय, विभक्ति आदि से संयुक्त होकर वाक्य में प्रयुक्त होते हैं। संसार की अधिकांश भाषाएँ योगात्मक हैं, योग के प्रकृति के अनुसार इन भाषाओं के तीन विभाग किये जा सकते हैं—प्रश्लिष्ट, श्लिष्ट और अश्लिष्ट।

(क) प्रश्लिष्ट-योगात्मक (Incorporating)

इस विभाग की भाषाओं में सम्बन्ध-तत्व तथा अर्थ-तत्व को अलग नहीं किया जा सकता। जैसे संस्कृत 'ऋजु' से 'आर्तव' या 'शिशु' से शैशव में अर्थ-तत्व तथा सम्बन्ध-तत्व का अभेद योग हो गया है। इनको समास-प्रधान भाषाएँ भी कहते हैं क्योंकि इनमें अनेक अर्थ-तत्वों का समाज की प्रक्रिया से योग हो सकता है, जैसे राज पुत्र गण विजयः। इनके भी दो भेद किये गए हैं—पूर्ण प्रश्लिष्ट और आंशिक प्रश्लिष्ट।

पूर्ण प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं (Completely Incorporative) में सम्बन्ध-तत्व तथा अर्थ-तत्व का योग इतना पूर्ण रहता है कि शब्दों के संयोग से बना हुआ एक लम्बा-सा शब्द ही पूरा वाक्य बन जाता है। ग्रीनलैण्ड तथा दक्षिणी अमेरिका की चेरो की भाषा इसी प्रकार की है। चेरो की भाषा में—नातेन=लाओ, अमोखोल=नाव, निन=हम के संयोग से 'नाधोलिनिन' शब्द बन गया जिसका अर्थ 'हमारे पास नाव लाओ' है। इस प्रकार ग्रीनलेण्ड की भाषा में 'अउलिसरिअर्तोरसु अर्पोक्' (वह मछली मारने के लिए जल्दी जाता है) अउलिसर (मछली मारना), पेअर्तोर (किसी काम में लगना), पिन्नेसुअर्पोक् (वह शीघ्रता करता है) से मिलकर बना है।

आंशिक प्रश्लिष्ट योगात्मक भाषाओं (Partly Incorporative) में सर्वनाम तथा क्रिया के मेल में क्रिया लुप्त होकर सर्वनाम का पूरक बन जाती है।

बास्क भाषा में—

दकार कि ओत=मैं इसे उनके पास ले जाता हूँ।

नकारसु=तू मुझे ले जाता है।

हकारत=मैं तुझे ले जाता हूँ।

भारतीय भाषाओं में भी उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

गुजराती में—'में कह्य 'जे' का 'मकुंजै' (मैंने वह कहा)।

(ख) श्लिष्ट-योगात्मक (Inflecting)

विभक्ति प्रधान, संस्कार प्रधान, विकृति प्रधान (Inflexional) भी इसी के नाम हैं। इन भाषाओं में सम्वन्ध-तत्व के योग से अर्थ-तत्व कुछ विकृत हो जाता है फिर भी सम्बन्ध-तत्व की झलक अलग ही मालूम पड़ती है। जैसे संस्कृत में वेद, नीति, इतिहास तथा भूगोल से 'इक' प्रत्ययान्त वैदिक, नैतिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक आदि। प्रत्यय के परिणामतः वेद आदि शब्द में भी विकार आ गया है। इसमें कारक, वचन आदि का सम्बन्ध विभक्ति द्वारा हो जाता है। इस वर्ग की भाषाएँ संसार में सर्वोन्नित हैं। सामी, हामी और भारोपीय परिवार इसी विभाग में आते हैं।

श्लिष्ट भाषाओं के भी दो उप-विभाग हैं—(१) अन्तर्मुखी तथा (२) वहिर्मुखी।

अन्तर्मुखी श्लिष्ट (Internal Inflectunal) भाषाओं में जोड़े हुए भाग अर्थ-तत्व के वीच में घुल-मिल कर रहते हैं। अरवी भाषा में सम्वन्ध-तत्व स्वर होता है जो व्यंजनों के साथ घुल-मिल कर रहता है। क्-त्-ब् (लिखना) से अन्तर्मुखी विभक्तियाँ लगाकर किताव, कातिव (लिखने वाला), कुतुब (बहुत सी किताबें), मर्कतव शब्द वनते हैं। इसी प्रकार क्-त्-ल् (मारना) से कतल (खून) कातिल (मारने वाला), किल्ल (शत्रु) यकतुलु (वह मारता) है। यहाँ क्-त्-ब् या क्-त्-ल् में विभिन्न स्वरों के समावेश से अर्थ परिवर्तित हो गया है।

आगे इस अन्तर्मुखी के दो भेद हैं :—

(१) **संयोगात्मक** (Synthetic)—अरवी आदि सेमेटिक भाषाओं का प्राचीन रूप संयोगात्मक था। शब्दों में अलग से सहायक सम्बंध-तत्व लगाने की आवश्यकता न थी।

(२) **वियोगात्मक** (Analytic)—अव संयोगात्मक भाषाओं का रूप वियोगात्मक हो रहा है। सहायक शब्दों की, सम्बन्ध को दिखाने के लिए आवश्यकता पड़ती है। हिब्रू भाषा में यह रूप स्पष्ट दिखाई देता है।

बहिर्मुखी श्लिष्ट (Internal Inffectunal)—भाषाओं में विभक्ति तथा

प्रत्यय मूल भाग (अर्थ-तत्व) के बाद आते हैं। जैसे संस्कृत में गम् धातु से 'गच्छ् + अ + अन्ति = गच्छन्ति'। भारोपीय परिवार की भाषाएँ इसी वर्ग में आती हैं। इसके भी दो भेद हैं : —

(१) संयोगात्मक—इसमें सम्बन्ध-तत्व मूलरूप में विद्यमान रहता है। भारोपीय परिवार की ग्रीक, लैटिन, सस्कृत, अवेस्ता आदि प्राचीन भाषाएँ संयोग रूप में थीं। लियुआनियन आज भी संयोगात्मक है।

(२) वियोगात्मक—आधुनिक भारोपीय भाषाएँ वियोगात्मक हो गई हैं। अँग्रेजी, हिन्दी, बंगला इसी प्रकार की हैं।

अश्लिष्ट योगात्मक अथवा प्रत्यय प्रधान भाषाएँ (Agglutinative)—

इनमें सम्बन्ध-तत्व तथा अर्थ-तत्व की पृथक् सत्ता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। सभ्यता, महत्व में प्रत्यय स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसके अवान्तर विभाग निम्न हैं—

(क) **पूर्व-योगात्मक या पुरःप्रत्यय-प्रधान** (Prefix Agglutinative)—इन भाषाओं में सम्बन्ध-तत्व आरम्भ में लगता है। इसका प्राय: उपसर्ग के रूप में प्रयोग होता है। बांटू (अफ्रीका) इसी कोटि में आती है। जुलू भाषा में—

उमु = एकवचन का चिह्न, अब = बहुवचन का चिह्न, न्त = आदमी।

इनके योग से बने शब्द—उमुन्तु = एक आदमी, अबन्तु = अनेक आदमी,
न्गाउमुन्तु = आदमी से, न्गअबन्तु = आदमियों से।

इसी प्रकार काफिर भाषा में—कुति = हमको, कुनि = उनको शब्द बनता है।

(ख) **मध्य-योगात्मक या अन्तःप्रत्यय प्रधान** (Infix Agglutinative)—इन भाषाओं में सम्बन्ध-तत्व मध्य में जुड़ता है। मुण्डा वंश की संथाली भाषा में—

मंझि = मुखिया, प—बहुवचन का चिह्न।

इनके योग से—मपंझि बन गया है। 'प' का योग मध्य में है।

तुर्की तथा बन्टू में भी कुछ रूप उपलब्ध होते हैं। तुर्की में—

सेवमेक—प्यार करना सेव-इलमेक—प्यार किया जाना।

सेव इनमेक—अपने को प्यार करना।

(ग) अन्त योगात्मक एवं परप्रत्यय प्रधान (Suffix Agglutinative)—इन भाषाओं में प्रत्यय का योग अन्त में रहता है। यूराल अल्टाइक तथा द्रविड़ कुल की भाषाएँ इसी श्रेणी की हैं। उदाहरण – तुर्की में—एव=घर।

एवलेर=कई घर, एवलेर इम=मेरे घर।

कन्नड़ में अनेक रूप इसी प्रकार के मिलते हैं।

(घ) पूर्वान्त योगात्मक—अर्थ तत्व में प्रत्यय का पहिले और बाद में भी होता है— यथा न्यूगिनी की मकोरु भाषा में —

म्नफ=सुनना।

ज-म्नफ=मैं सुनता हूँ।

ज-म्नफ-उ= मैं तेरी बात सुनता हूँ।

(ङ) ईषत् प्रत्यय प्रधान (Partially Agglutinative)—ये भाषाएँ योगात्मक तथा अयोगात्मक के मध्य की भाषाएँ हैं। हौसा, बास्क, जापानी, न्यूजीलैंड एवं हवाई द्वीप की भाषाएँ इसी वर्ग की हैं। मलायन भाषाएँ सर्व योगात्मक तथा सर्वप्रत्यय प्रधान हैं।

इस वर्गीकरण की उपयोगिता—आधुनिक काल में भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में अधिक अनुसंधान हो जाने पर आकृति-मूलक वर्गीकरण का महत्व कम हो गया है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से इस विभाजन की उपयोगिता अधिक नहीं हो सकी है। भाषा का वाक्य-गठन, रचना और शैली के अध्ययन में इससे सहायता मिल सकती हैं। परन्तु भाषा के बाह्य रूप के आधार पर यह वर्गीकरण भाषा के युक्तियुक्त स्वरूप का निर्णय नहीं कर सकता। भाषा का स्वभावगत गुण परिवर्तनशीलता है। बाह्य प्रभावों के कारण भाषा के रूपों में परिवर्तन होते रहे हैं। एक ही शब्द के अनेक स्थानों पर विभिन्न स्वरूप मिलते है। परिणामस्वरूप इससे अनेक भाषाएँ एक वर्ग में आ जाती हैं जिन का कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। विभक्ति प्रधान वर्ग को छोड़कर अन्य वर्गों में अनेक असम्बद्ध भाषाएँ संगृहीत हैं। जैसे द्रविड़ और यूराल अल्टाई परिवार की भाषाओं में ऐतिहासिक साम्य न होते हुए भी इनको रूप-साम्य के आधार पर एक ही वर्ग में रखा जो वैज्ञानिक नहीं है। परन्तु इतना निश्चय है कि

आकृतिमूलक वर्गीकरण भाषा के विकास-क्रम को समझने में सहायक है। भाषा के चक्र और उसकी गति के बोधार्थ इसका योग महान् है संयोग से वियोग और अयोग से योग सम्बन्धी विकास का ज्ञान इस वर्गीकरण से यथेष्ट मिल जाता है। समास प्रधान अमरीकी बोलियाँ आदिम मानव की भाषा की द्योतक हैं।

प्रश्न ११—भाषाओं का पारिवारिक वर्गीकरण किन सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता है ? प्रत्येक वर्ग का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

(दि० वि० १९६०, १९६२)

जिस प्रकार आकृतिमूलक या रचनात्मक वर्गीकरण में भाषावेत्ता भाषा की आकृति, रूप और रचना पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है तथा सम्बन्ध-तत्वों की विविधता तथा उनके प्रयोग की विवेचना कर वर्गीकरण के सिद्धान्तों का निर्धारण करता है, उसी प्रकार पारिवारिक वर्गीकरण में वह उपर्युक्त तत्वों के अतिरिक्त अर्थ-तत्व का विवेचन कर शब्द तथा भाषा के इतिहास, उद्भव और विकास का निरीक्षण कर उनके साम्य की भावना से सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। अतः पारिवारिक विभाजन को ऐतिहासिक, उत्पत्तिमूलक तथा वंशानुक्रमिक नाम से भी पुकारा जाता है। मानव वंश-परम्परा में पीढ़ी-दर-पीढ़ी व्यक्ति का अंकण होता है और तदनुसार परिवार की स्थापना की जाती है। इसी तरह एक वंश या परिवार में केवल वे भाषाएँ स्थान पाती हैं जिनमें रूप-रचना के अतिरिक्त शब्दार्थ और ध्वनि की दृष्टि से भी साम्य होता है।

प्रायः एक ही प्रकार की भाषा में (१) शब्दासमूह (शब्द और अर्थ) (२) व्याकरण या रचना (सम्बन्ध-तत्व) और (३) ध्वनि की समानता हो सकती है। शब्द-समूह और व्याकरण की दृष्टि से व्याकरण की अपेक्षा अधिक द्रुतगति से परिवर्तन होता है। व्याकरण की दृष्टि से समता रखने वाले शब्द क्रिया और सर्वनाम हैं, क्योंकि अन्य भाषा में संज्ञा या विशेषण की अपेक्षा कम ही ग्रहण किया जाता है। शब्द-साम्य में शब्दों के तद्भव रूप पर ही अधिक विचार किया जाता है। व्याकरण की समानता में तीन बातें विचार्य हैं—(१) धातु से शब्द बनाने की समानता, (२) मूल शब्द से पूर्वसर्ग (Prefix) मध्यसर्ग (infix) तथा अन्तसर्ग (Suffix) के योग से अन्य शब्द की रचना तथा (३) वाक्य

रचना की समानता। इन सब संकेतों के आधार पर दो भाषाओं को एक परिवार का सिद्ध करने के लिए निम्न तथ्य विचारणीय हैं—

(क) ध्वनियों की समता। (ख) ध्वनियों की विभिन्नता में अन्य भाषा के प्रभाव या उनके स्वाभाविक विकास के आधार पर नवीन ध्वनियों के प्रवेश के इतिहास का निरीक्षण। (ग) शब्दों प्रमुखतः मौलिक शब्द-भण्डार के संज्ञा क्रिया (धातु), सर्वनाम और संख्यावाचक विशेषण में ध्वनि और अर्थ की समानता। (घ धातु या मूल शब्द में व्याकरणिक तत्वों का विश्लेषण कर शब्द-निर्माण की प्रक्रिया की समानता। (ङ) वाक्य-रचना की समानता। इन सिद्धांतों के अनुसार भाषा की तुलना और इतिहास के आधार पर भाषा के मूल और उत्पत्ति की खोज करके अनेक भाषाओं के परिवार की कल्पना की जाती है। एक देश के लोग दूसरे देश में आकर भी अपनी पूर्व-भाषा की अक्षुण्णता बनाये रखते हैं। दूर होते हुए भी भाषा के परिवर्तित रूप में सजातीयता की झलक स्पष्ट रहती है।

स्पष्टता और सुबोधता की दृष्टि से भूगोल के आधार पर संसार की भाषाओं को बांट लेना समाचीन होगा। इन खण्डों में अनेक भाषा-परिवार सम्मिलित हैं। इस दृष्टि से भाषा के चार खण्ड हैं—(१) अफ्रीका खण्ड (२) यूरेशिया खण्ड (३) प्रशान्त महासागरीय खण्ड तथा (४) अमरीका खण्ड।

अफरीका खण्ड

अफ्रीका खण्ड में भाषा-परिवार की संख्या पाँच है—(क) बुशमैन, (ख) बन्टू, (ग) सूडान तथा (घ) सेमेटिक।

बुशमैन भाषाएँ प्राचीनतम और जंगली भाषाएँ हैं। इन्होंने सूडान तथा बान्टू परिवार को भी प्रभावित किया है। अब इनकी प्रवृत्ति व्यास-प्रधान हो रही है। क्लिक तथा अन्तःस्फोटात्मक ध्वनियाँ इस भाषा में मिलती हैं। इनमें पुल्लिग, स्त्रीलिंग न होकर सजीव और निर्जीव तत्वों से लिंग का ज्ञान होता है। एक वचन की पुनरुक्ति से बहुवचन शब्द बन जाता है; यथा घोड़ा घोड़ा (अनेक घोड़े) आदि।

बान्टू परिवार की भाषाएँ मध्य तथा दक्षिणी अफ्रीका में मिलती हैं। पदों की रचना उपसर्ग जोड़कर होती है। इन भाषाओं में लिंग-भेद का अभाव

है। कभी-कभी स्वर-भेद से अर्थ विपरीत हो जाता है। जैसे होफिनेल्ला का अर्थ बांधना है परन्तु होफिनोल्ला का अर्थ खोलना है। इस भाषा का प्रधान गुण कोमलता, माधुर्य तथा काव्यात्मकता है। दक्षिणी पूर्वी भाषाओं में क्लिक ध्वनियां भी प्राप्त होती हैं।

सूडान परिवार की भाषाओं का प्रचलन भूमध्य-रेखा के उत्तर तथा हेमेटिक परिवार के दक्षिण में है। कुछ भाषाएँ लिपिबद्ध हैं तथा वान्टू से साम्य रखती हैं। चीनी भाषा की भांति अयोगात्मक तथा एकाक्षर हैं। इस परिवार की भाषाएँ ध्वन्यात्मक हैं तथा सुर तथा तान के साथ अर्थ बदल जाता है। विभक्तियों का नितान्त अभाव है।

हेमेटिक परिवार का विस्तार सम्पूर्ण अफ्रीकी प्रदेश में है। इस परिवार की कतिपय भाषाओं में धार्मिक साहित्य तथा प्राचीन शिलालेख भी उपलब्ध हैं। इस परिवार की भाषाएँ श्लिष्ट योगात्मक हैं। पद-रचना प्रत्यय तथा उपसर्ग दोनों का प्रयोग होता है तथा स्वर-परिवर्तन से अर्थ बदल जाता है। पुनरुक्ति का प्रयोग बल देने के लिए होता है, जैसे गोइ (काटना) से गोगोइ (बार बार काटना) बनता है।

सेमेटिक परिवार की भाषाओं का प्रयोग मोरक्को से स्वेज नहर तक होता है। इसका प्रधान क्षेत्र एशिया है। सेमेटिक और हेमेटिक में पद-रचना की दृष्टि से पर्याप्त साम्य है। इनमें धातु प्रायः तीन व्यंजनों की होती है और स्वर तथा प्रत्यय से शब्द-निर्माण होता है, जैसे क् त्-ल् से हिक्तिल। समास केवल व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में मिलता है। 'त' स्त्रीलिंग का चिन्ह है, यह कहीं 'थ' या 'ह' हो गया है जैसे मलक (राजा) से मलकह (रानी)। इस वर्ग की अरबी भाषा, धर्म, ज्योतिष, गणित, दर्शन साहित्य और रसायन की दृष्टि से धनी है।

यूरेशिया खण्ड

यूरेशिया खण्ड संसार भर में मानव-सभ्यता और संस्कृति का स्रोत तथा केन्द्र रहा है। अतः इस क्षेत्र की साहित्य-निधि विकसित और सुव्यवस्थित रही है अतः इस खण्ड की भाषाओं का अध्ययन और विवेचन विस्तृत तथा वैज्ञानिक रूप से हुआ है। इस वर्ग के अन्तर्गत न आने वाली भाषाओं को विविध

समुदाय में रखा गया है। इस खण्ड को आठ भाषा परिवारों में विभक्त किया गया है :—

(१) सेमेटिक, (२) काकेशस, (३) यूराल-अल्टाई (४) एकाक्षर, (५) द्रांविड़, (६) आग्नेय, (७) भारोपीय तथा (८) विविध।

१. सेमेटिक परिवार के साहित्य ने भारोपीय परिवार की भाषाओं को अधिक प्रभावित किया है। अनेक लिपियों का आदि स्रोत भारत और चीन को छोड़कर सेमेटिक परिवार ही रहा है। इस परिवार की भाषाओं में पारस्परिक साम्य अधिक मिलता है। इस परिवार का कुछ विवरण अफ्रीका खंड में दे दिया गया है! अरबी इस खण्ड की प्रतिनिधि तथा परिनिष्ठित भाषा है।

२. काकेशस परिवार—इस परिवार की भाषाएँ कृष्णसागर और कैस्पियन सागर के मध्य काकेशस पर्वत पर बोली जाती हैं। पर्वतीय स्थल की अधिकता से अनेक बोलियों का यहां विकास हो गया है। ये भाषाएँ अंतः-अश्लिष्ट-योगात्मक हैं और इनमें प्रत्यय और उपसर्ग दोनों ही लगाये जाते हैं। संज्ञा में अधिक विभक्तियों तथा कहीं छः लिंगों का प्रयोग भी होता है। बास्क की भाँति सर्वनाम और क्रिया का योग भी इस परिवार में होता है। इस वंश में क्रिया के रूप जटिल हैं। जार्जियन भाषा के अतिरिक्त इनकी कोई लिपि और साहित्य नहीं है।

३. यूराल अल्टाई समुदाय—इस समुदाय के अन्य नाम सीथियन, तूरानी तथा फिनो-तातारिक भी हैं। इस कुल की भाषाएँ टर्की और फिनलैंण्ड से लेकर पूर्व में ओखोत्स्क सागर तक तथा भूमध्य सागर से उत्तरीय सागर तक फैली हुई हैं। क्षेत्र-विस्तार में भारोपीय परिवार ही इसके समकक्ष रखा जा सकता है। इन भाषाओं में अधिक भिन्नता मिलती है। ये भाषाएं अश्लिष्ट अन्तःयोगात्मक हैं। धातु में प्रत्यय के योग से पद-रचना की जाती है। कुछ भाषाएं अश्लिष्ट से श्लिष्ट हो रही है; जैसे फिनिस आदि। धातु का प्रयोग अव्यय के समान अधिकारी रूप में किया जाता है। उच्चारण की सुविधा के लिए धातुओं के 'वजन' पर प्रयत्यों के स्वर लघु तथा गुरु कर दिये जाते हैं। जैसे अट् के साथ 'लर' मिलकर अट्लर (घोड़े) पद बनता है पर 'एव्' के साथ एव्लर (=अनेक घर)। यह परिवार फिनिस, तुर्की, हंगरी, साहित्य तथा

समृद्धि की दृष्टि से प्रसिद्ध है।

४. एकाक्षर परिवार—चीनी भाषा की प्रमुखता के कारण इनको चीनी परिवार भी कहते हैं। इसका क्षेत्र चीन, स्याम, तिब्बत और बर्मा तक विस्तृत है। भारोपीय परिवार के पश्चात् भाषा-भाषियों की दृष्टि से सबसे बड़ा है। चीनी-भाषा में विश्व का सर्वप्राचीन साहित्य प्राप्त होता है। चीनी भाषा में इतनी क्षमता है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों को सरलता से अभिव्यंजित कर सकती है। इस समुदाय की भाषाएँ अयोगात्मक तथा स्थान प्रधान हैं। प्रत्येक शब्द एकाक्षरात्मक तथा अव्यय के रूप में किसी भी स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है। इन शब्दों की संख्या पाँच सौ से एक सहस्र के मध्य है। अधिक तथा अनेक अर्थ के प्रकट करने के लिए सुर या तान का उपयोग होता है। स्पष्टता के लिए द्वित्व का प्रयोग किया जाता है, जैसे ताओ-लू के एक साथ प्रयोग से अनेकार्थों में सड़क का अर्थ ले लिया गया है। एक ही शब्द स्थान और आवश्यकतानुसार संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि बन जाता है। यहाँ अनु-नासिका ध्वनियों का अधिकतर प्रयोग होता है। 'ङ' और 'ञ' के उच्चारण का बाहुल्य इस चीनी भाषा में मिलता है। अनामी और स्यामी पर चीनी तथा तिब्बत और बर्मा पर भारतीय प्रभाव अधिक पड़ा है। बौद्ध धर्म सम्बन्धी साहित्य इन भाषाओं में सुरक्षित है। ...

५. द्रविड़ परिवार—यह वर्ग नर्मदा, गोदावरी के दक्षिण दिशा में समस्त भारत में फैला हुआ है। इसको तामिल परिवार भी कहते हैं। यह वाक्य और स्वर की दृष्टि से यूराल-अल्टाई परिवार के अनुरूप है। ये भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं। प्रत्यय और समास का प्राधान्य है। इस परिवार की विशेषताएँ मूर्धन्य ध्वनियाँ (टवर्ग) हैं। इन भाषाओं में दो वचन और तीन लिंग होते हैं। नपुंसक शब्द प्रायः एकवचन होते है। मलयम, कन्नड़, तामिल तथा तैलगू इस परिवार की विकसित भाषाएँ हैं। आर्य-भाषाओं में सोलह पर आधारित (सेर छटाँक, रुपया-आना) माप तथा मूर्धन्य ध्वनियों तथा अलि, नीर, मीन, अटवी, कठिन, कोण आदि किसी परिवार की देन है।

६. आग्नेय परिवार—इसको आस्ट्रिक परिवार भी कहा गया है। यह प्रशान्त सागर के द्वीपों, स्याम, बर्मा के जंगलों में, नीकोबार, आसाम की

पहाड़ियों पर बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश तथा मद्रास के कुछ भागों तक फैला हुआ है। इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं, पर कुछ वियोगावस्था की ओर बढ़ रही हैं। धातु द्वि-अक्षरात्मक है। पद-रचना में योग आदि, मध्य, अन्त स्थानों पर होता है। इस परिवार की मुंडा भाषा अधिक प्रसिद्ध है। चीनी भाषा की तरह एक शब्द ही यथा-स्थान संज्ञा, क्रिया का रूप धारण कर लेता है। ध्वनियों में यह परिवार भारतीय भाषाओं के तुल्य है। दो लिंग, तीन वचन और दस तक संख्याएँ होती हैं। कोड़ी शब्द तथा वस्तुओं की कोड़ी (बीस के वर्ग) में गिनना मुंडा भाषा से ही भारतीय भाषाओं में आया है।

७. भारोपीय परिवार—इस परिवार में संसार की सर्वोन्नत तथा विकसित भाषाएँ आती हैं। यह परिवार साहित्य, क्षेत्र और स्वीकृति की दृष्टि से सर्वोपरि है। इस परिवार के अन्य नाम, आर्य या भारत-ईरानी वर्ग, भारत-जर्मन आदि प्रसिद्ध हैं। इनकी विभक्तियाँ बहिर्मुखी हैं। धातुएँ एकाच् हैं। समास रचना का बाहुल्य है। ये सभी भाषाएँ संहित से व्यवहित हो रही हैं। इनकी नौ शाखाएँ हैं—केल्टिक, जर्मन, इटालिक, ग्रीक, तोखारी, अल्बेनियन, लैटोस्लाव्हिक, आर्मनियन तथा आर्य वर्ग।

८. विविध समुदाय—निश्चित परिवार के अन्तर्गत न आने वाली भाषाएँ इस समुदाय में आती हैं। इसके दो भेद हैं—प्राचीन और आधुनिक। प्राचीन भाषाओं में इटली की एत्रुस्कन, सुमेरियन, मितानी, कोसी, बन्नी, एलामाइट आती हैं। आधुनिक भाषाओं में कोरियाई, एनु, बास्क जापानी अण्डमानी आदि प्रमुख हैं। फ्रांस और स्पेन की सीमा पर बास्क बोली, जाती है। इसका वाक्य-विन्यास सरल और सुगम है।

प्रशाँत महासागरीय खण्ड

इस खण्ड की भाषाओं का विस्तार प्रशांत महासागर, हिन्द महासागर में तथा मेडागास्कर से ईस्ट द्वीप तक है। इस खण्ड में पांच परिवार हैं—

१. इण्डोनेशियन या मलायन परिवार।
२. मेलेनेशियन परिवार।
३. पालिनेशियन परिवार।
४. पापुअन परिवार।
५. आस्ट्रेलियन परिवार।

इन परिवारों को आस्ट्रोनेशियन परिवार या मलय पालिनेशियन परिवार के नाम से अभिहित किया जाता है। प्रथम तीन परिवारों को मलय-पालिनेशियन परिवार कह भी दिया जाता है। इन परिवारों का एक स्रोत होने के कारण से बहुत सी बातों में समानता है। प्रायः इस खंड की भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक हैं। प्रायः धातुएँ दो अक्षरों की होती हैं। स्वराघात बलात्मक है। पद-रचना के लिए आदि, मध्य तथा अन्त में शब्दों का योग कर दिया जाता है। वे सभी भाषाएँ शनैः-शनैः वियोगात्मक हो रही हैं।

अमरीका खण्ड

इस खंड के अन्तर्गत उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका की भाषाएँ आती हैं। इस खंड की चार सौ भाषाओं को तीस वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। ये सभी भाषाएँ प्रश्लिष्ट योगात्मक हैं। वाक्य-रचना के लिए शब्दों की प्रधान ध्वनि या अंश के योग से वाक्य एक लम्बे शब्द रूप में बन जाता है। चेरो भाषा का नाधोलिनिन (हमारे पास नाव लाओ) इसका एक उदाहरण है। मय आदि कुछ भाषाओं में लिपि और साहित्य दोनों ही उपलब्ध होते हैं। इन भाषा-परिवारों का सम्यक् अध्ययन न होने के कारण इसका वैज्ञानिक विभाजन या वर्गीकरण सम्भव नहीं हो सका है। अध्ययन की सामग्री का भी इस खंड में अभी नितान्त अभाव है।

प्रश्न १२—भारोपीय (आर्य) मनुष्यों के मूल निवास-स्थान के सम्बन्ध में विभिन्न मतों पर प्रकाश डालिये।

भारोपीय भाषाओं का क्षेत्र सर्वाधिक उन्नत है और उसकी सभ्यता और संस्कृति विश्व भर में सर्वश्रेष्ठ समझी जाती रही है। अगर विज्ञान के पर्यवेक्षण के आधार पर समस्त भारोपीय भाषाओं का मूल एक स्रोत है तो यह भी निश्चित है कि सर्वप्रथम भारोपीय लोगों का निवास-स्थान एक ही रहा होगा। यह संभव हो सकता है कि परिवार की वृद्धि होने से उनका विश्व के अन्य प्रदेशों की ओर निष्क्रमण हो गया हो। ये भारोपीय मनुष्य आर्य ही थे, इसमें अधिकांश विद्वान् एकमत हैं। कुछ विद्वान् इनको 'विरोस्' भी कहते हैं। साहित्य, ज्योतिष, पुरातन मानव-विज्ञान, भाषा-विज्ञान, प्राचीन भूगोल आदि

ग्रंथों का सहारा लिया गया। परन्तु फिर भी आर्यों के मूल स्थान का विषय बड़ा विवादग्रस्त बना हुआ है। अनेक विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अपने मत-मतान्तर प्रस्तुत किये हैं। स्थान की दृष्टि से इस विषय के सारे मत निम्न रूप से निर्धारित किये जा सकते हैं—

(अ) मूल स्थान भारत था।

(आ) मूल स्थान कहीं भारत के बाहर था।

(क) एशिया के किसी प्रदेश में इसकी स्थिति, (ख) मूल-स्थान यूरोप में कहीं था, (ग) वह स्थान यूरोप एशिया के संधि-स्थल पर या उसके निकट था।

(अ) मूल स्थान की भारत में स्थिति—भारतीय ग्रंथों के सूत्र से स्पष्ट होता है कि मानव सृष्टि का आरम्भ किसी पर्वतीय प्रदेश या उसके निकटवर्ती प्रदेश में हुआ होगा। देव-सृष्टि का प्रादुर्भाव ही मानव-सृष्टि की आदि शृंखला है। देवों का निवास स्थान शास्त्रों में हिमालय या मेरु पर्वत ही लिया गया है। मेरु पर्वत की स्थिति विवादग्रस्त है। मेरु पर्वत को सुख आनन्द तथा उल्लास का स्थान कहा गया है। भारतीयों की इस कल्पना में कितना तथ्य है यह अभी नहीं कहा जा सकता है। पर इस कल्पना से कुछ परिणाम अवश्य निकले हैं। भारत में मूल स्थान मानने के पक्ष में कुछ प्रमुख भारतीय मनीषियों का ही मत उल्लेखनीय है। उसका अति संक्षिप्त विवेचन निम्न रूप से स्पष्ट है—

(१) यह स्थान काश्मीर में या हिमालय में था। —एल० डी० कल्ला।

(२) आर्यों का मूल स्थान ब्रह्मर्षि देश है।

—महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा।

(३) यह स्थान मुलतान में देविका नदी के किनारे या उसकी घाटी में स्थित था।

—डॉ० डी० एस० त्रिवेदी।

(४) कुछ लोग मुल्तान को ही 'मूल स्थान' मानते हैं और इस आधार पर इस शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं।

(५) 'ऋग्वेदिक भारत' में सरस्वती नदी के किनारे या उसके उद्गम के निकटवर्ती हिमालय प्रदेश में मूल स्थान माना गया है।—अविनाशचन्द्रदास।

डा० सम्पूर्णानन्द ने दास के इस मत का एक प्रकार से समर्थन किया है।

उपर्युक्त मतों की कल्पना वेद पुराण आदि प्राचीन साहित्य के आधार पर की गई है। भारतीय साहित्य में कहीं पर भी स्पष्ट रूप से आर्यों के बाहर से आने का उल्लेख नहीं मिलता है।

खण्डन—भारत में आर्यों की आदि भूमि होने की संभावना के विरुद्ध विद्वानों द्वारा निम्न प्रश्न उठाये गये हैं—(१) इस परिवार (भारोपीय) की अधिकांश भाषाएँ यूरोप और एशिया के संधिस्थल पर या यूरोप में हैं, भारत के आसपास नहीं हैं। ऐसी स्थिति में भारत से निष्क्रमण की सम्भावना कम है। यह सभावना अधिक है कि उधर से एक शाखा आई और उसी के लोग भारत के उत्तरी भाग में बस गये, शेष लोग वहीं आसपास रह गये।

२. यदि भारत आर्यों का मूल स्थान रहता तो सम्पूर्ण भारत में एक परिवार मिलता। उत्तर में ब्राहुई तथा दक्षिण में तामिल-तेलुगू का मिलना इसके विपक्ष में पड़ता है।

३. मोहन-जो-दड़ो का काल ऋग्वेद के पूर्व का है। यदि उसकी भाषा संस्कृत से मिलती-जुलती होती तो यह मान्य हो सकता था कि मूल-स्थान भारत में था। परन्तु वहाँ की भाषा द्रविड़ परिवार की मानी जाती है, अतः यह सम्भावना है कि वहाँ के आदिवासी द्रविड़ थे। आर्य पश्चिम या पश्चिमोत्तर से यहाँ आये।

४. तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर हित्ती या लिथुआनिक भाषाएँ मूल भाषा से संस्कृत की अपेक्षा अधिक निकट हैं। अतः मूल-स्थान की सम्भावना हित्ती के आसपास है।

५. जातीय मानव विज्ञान, जलवायु विज्ञान, प्राचीन भूगोल तथा तुलनात्मक भाषा शास्त्र के आधार पर न केवल यूरोपीय अपितु तिलक और सर देसाई जैसे भारतीय विद्वानों ने भी मूल स्थान की कल्पना भारत के बाहर ही की है।

(अ) **मूलस्थान की भारत से बाहर स्थिति**—भारतीय विचारधारा के अनुसार मानव-सृष्टि का प्रारम्भ त्रिविष्टप (तिब्बत) प्रान्त में हुआ और उसी को आर्य लोगों का मूल स्थान आंका जाता है। कहा जाता है कि आर्यों के विस्तार का स्रोत यही स्थान है। वैदिक संहिताओं की प्राचीन ऋचाओं में

'सप्तसिन्धु' का अनेक स्थलनों पर उल्लेख मिलता है तथा अर्वाचीन ऋचाओं में पूर्व प्रदेशों की ओर संकेत भी मिलता है। इसी आधार पर कूछ मत भी दिये गये हैं—

(१) अविनाशचन्द्रदास 'सप्तसिधु' प्रदेश को आर्यों का मूलस्थान मानते हैं।

(२) सर देसाई ने आर्यों का आदि स्रोत रूस में बाल्कन झील के समीप माना है। उनके कथनानुसार आज भी उक्त प्रदेश में 'सप्तसिन्धु' नामक प्रान्त है।

(३) लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने अपनी पुस्तक 'आर्कटिक होम इन दी वेदाज' में इस विषय में एक गवेषणात्मक लेख प्रस्तुत किया है जिसमें आर्यों के मूल निवास स्थान को उन्होंने उत्तरी ध्रुव के निकट माना है। उनका कथन है कि हिम प्रदेश से आर्यों का निष्क्रमण अन्तिम 'हिमयुग' के समय हुआ था। प्रमाण में उन्होंने ऋग्वेद की ऋचाओं तथा क्रौल के हिमयुग सिद्धान्तों का सहारा लिया है।

'ऋग्वेदिक इण्डिया' नामक पुस्तक में दास ने तिलक के इस मत का खण्डन किया है और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आर्यों का निवास-स्थल सरस्वती नदी का हिमाचल मध्यवर्ती उद्गम स्थान था। मनुस्मृति आदि प्राचीन ग्रन्थों में 'ब्रह्मावर्त' के महत्व और पुण्य का वर्णन इसी दृष्टि से किया गया है। कहा जाता है कि इस स्थान से आर्य लोग ईराक में बसे।

(४) पंडित राहुल सांकृत्यायन का मत है कि वोल्गा के आसपास एक जनसमूह था, जिसके दो वर्ग हो गये। एक शक जो पश्चिम को मुड़ गया, दूसरा वर्ग आर्य आर्य जो भारत आया।

(५) यूरोपीय विद्वानों में गहराई और वैज्ञानिकता की दृष्टि से इस प्रसंग में प्रथम नाम प्राय: मैक्समूलर का लिया जाता है। इसके अनुसार मूल स्थान पामीर का प्लेटो तथा उसके पास मध्य एशिया मे सम्भव था।

(६) डॉ० लैथम् ने स्केण्डेनेवियन भाषाओं को प्रमुख आधार मानकर आर्यों का मूल स्थान यूरोप में माना। वह भी स्केण्डेनेविया के पास में। पेंका-

जातिविज्ञान के अध्ययन के अनुसार इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं।

(७) इटैलियन मानव शास्त्रवेत्ता सेर्जी ने एशिया माइनर के पठार में मूल स्थान का अनुमान लगाया है। हित्ती भाषा के अभिलेखों से इनके मत की पुष्टि होती है।

(८) डॉ० गाइल्स ने 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया' में हंगरी में कारपेथियन पर्वत के आसपास भारोपीय मूल-स्थान माना है।

(९) नेहरिंग (Nehring) ने मिट्टी के बर्तनों के अवशेषों के आधार पर दक्षिणी रूस को मूल-स्थान माना है। कुछ विद्वानों ने मानव-विज्ञान के आधार पर जर्ममी को मूल-स्थान माना है।

(१०) इतिहास-पूर्व पुरातत्व के आधार पर मच तथा कुछ अन्य विद्वानों ने पश्चिमी-बाल्टिक तट को मूल-स्थान कहा है।

(११) हर्ट ने आदि स्रोत पोलेण्ड में विश्चुला नदी के तट पर माना है। इस मत के अनुसार उसके पश्चिमी तट पर केन्टुम् तथा पूर्वी तट पर सतम् भाषा-भाषी जन रहते थे। यह मत 'तोखारी' नाम केन्टुम् भाषा के मिलने से प्राय: निराधार हो गया है।

(११) स्लाव भाषा-शास्त्री प्रो० श्रेडर ने दक्षिणी रूस में बोल्गा नदी के मुहाने और कैस्पियन सागर के उत्तरी तट के निकटवर्ती प्रदेश को मूल-स्थान माना है। कई विदेशी विद्वान इससे सहमत हैं।

(१३) डॉ० ब्रान्देन्स्ताइन ने (१९३६ में) तुलनात्मक और ऐतिहासिक अर्थ-विज्ञान के आधार पर मध्य एशिया वाले मत को पुन: स्थापित किया है और यूराल पर्वत-माला के दक्षिण में स्थित प्रदेश को मूल-स्थान सिद्ध किया है।

(१४) उपर्युक्त मतों के अतिरिक्त लिथुवानिया, बाल्टिक सागर के दक्षिणी पूर्वी तट, मेसोपोटामिया या दजला-फरात सरिताओं के तट पर, प्रशिया, डेन्यूब नदी के किनारे, रूसी तुर्किस्तान आदि कई अन्य प्रदेशों के मूल-स्थान होने के पक्ष में भी मत प्रकट किये गए हैं। गाइल्ज, श्रेडर तथा ब्रान्देन्स्ताइन के मत अब तक अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध माने गए हैं।

ब्रान्देन्स्ताइन (Brandenstein) का मत—अब तक यही मत अधिक पुष्ट रूप में स्वीकार किया जा रहा है। डॉ० सुनीतिकुमार चैटर्जी इसी मत के पक्ष

में हैं जब कि श्रीवटकृष्ण घोष और नेहरिंग बहुत-सी बातों का खंडन करते हैं। अर्थविज्ञान के अनुसार शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह प्रतीत हुआ है कि आर्य सर्वप्रथम अविभक्त रूप से एक ही स्थान पर रहते थे। बाद में ईरानी लोग इनसे निकलकर पृथक् स्थान पर चले गये और मूल शाखा ने भी स्थान परिवर्तन कर दिया। अविभक्त भारोपीय 'पूर्व-भारोपीय' तथा भारत-ईरानी के निष्क्रमण के अनन्तर शेष लोग 'पर-भारोपीय' कहे जा सकते हैं। इस मत के अनुसार मूल शब्द समूह की दृष्टि से भारत-ईरानी में अर्थ-विकास का अपेक्षाकृत पुराना स्तर मिलता है और पर-भारोपीय में बाद का। पर-भारोपीय का विकास पूर्व-भारोपीय स्थान पर न होकर किसी नवीन क्षेत्र में हुआ होगा क्योंकि दोनों के शब्द-समूह तथा अर्थ में कुछ भिन्नता है। सारांश यह है कि 'पूर्व-भारोपीय' अपेक्षाकृत किसी सूखे क्षेत्र में पहाड़ की तराई में रहते थे। हरे-भरे जंगलों से दूर थे। वेतस, भूर्ज, बजरांठ तथा अन्य फलहीन वृक्षों का उन्हें ज्ञान था। गाय, भेड़, बकरी, सूअर, कुत्ता, भेडिया, लोमड़ी, सूअर, हिरण आदि से भी वे परिचित थे। ब्रान्देन्स्ताइन के मत में यह स्थान यूराल पर्वत के दक्षिण-पूर्व में स्थित किरगीज का मैदान था। पर-भारोपीय पश्चिम की ओर नीचे दलदली क्षेत्र में गये। यहां पुल, नए पेड़ आदि उन्हें नवीन वस्तुओं का ज्ञान हुआ। यह अनुमानित स्थान कार्पेथियन पर्वत-माला के पूर्व में था।

आर्यों का आदिम स्थान पूर्वी योरोप में बाल्टिक सागर के निकटवर्ती प्रान्त में था। अधिकतर विद्वान् इसी मत को प्रमुखता देते हैं। प्राचीन मत के अनुसार यह मार्ग कैस्पियन सागर के उत्तर से मध्य एशिया में होकर गाना जाता है। कुछ दिन पूर्व ईरान तथा टर्की में २५०० ई० पू० के एक लेख में तथा १४०० ई० पू० के बोगाज के कई लेखों में प्राचीन आर्यों के देवताओं के नाम जैसे इन्द्र, वरुण, उरुवण का उल्लेख प्राप्त हुआ है। इससे स्पष्ट है कि भारत-ईरानी बोलने वालों का समूह काले समुद्र के पश्चिम से होकर आया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसी समुदाय में से कुछ ईरान में बसते हुए आगे मध्य एशिया तक भारत में बढ़ सकते हैं। सम्भवतः मध्य एशिया की प्रशाखा के लोग हिन्दूकुश की घाटियों में होकर बाद में दरदिस्तान तथा काश्मीर में कदाचित जाकर बस गये हों और यहीं वर्तमान पैशाची या

दरद भाषा-भाषियों के पूर्वज रहे होंगे । हार्नली और ग्रियर्सन ने भी यही सम्भावना व्यक्त की है । इस प्रकार आधुनिक अधिकांश विद्वान् एशिया माइनर को ही आर्यों के आदिम स्थान की कल्पना करते हैं । सत्य अभी भविष्य के गर्भ में निहित है । आशा है आगे नवीन शोध-कार्यों से इस पर प्रकाश पड़ सकेगा ।

प्रश्न १३—रूप-परिवर्तन या भाषा के शब्द-समूह में परिवर्तन किस प्रकार होता है और इस परिवर्तन के मुख्य कारण क्या माने जाते हैं ?

कालानुसार शब्द या पदों का रूप बदलता रहता है यह परिवर्तन कभी द्रुतगति से होता है तथा कभी धीरे-धीरे । इस परिवर्तन से भाषा के रूप अथवा गठन में विकार पैदा होता है । हम कह सकते हैं कि भाषा-गठन तथा रूप-रचना के अन्तर्गत शब्दों में होने वाले विकार को रूप-परिवर्तन कहते हैं । परिवर्तन पदसम्बन्धी रूप-ध्वनि तथा अर्थ तीनों में ही होते हैं । ध्वनि-परिवर्तन उच्चारण सम्बन्धी होता है और यह भाषागत विशिष्ट ध्वनि-तत्वों पर सर्वत्र अपना प्रभाव डालता है परन्तु रूप-परिवर्तन प्रत्यय विभक्ति आदि के द्वारा शब्दों की बनावट में विकार पैदा कर देता है । यह केवल शब्द या पद के रूप को ही प्रभावित करता है तथा भाषा के पूरे सस्थान से उसका कोई संबंध नहीं है । 'वत्स' से बछड़ा में 'त्स' का 'छ' में परिवर्तन ध्वनि-सम्बन्धी है परन्तु बछड़े, बछड़ी आदि में लिंग तथा वचन सम्बन्धी परिवर्तन रूपात्मक है । इसका सम्बन्ध ध्वनि या अर्थ से नहीं है । रूप परिवर्तन का क्षेत्र व्याकरणात्मक रूप-प्रत्यय, विभक्ति, लिंग, वचन आदि है ।

व्याकरणिक रूपों में विकार संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण, लिंग, वचन, कारक सम्बन्धी प्रत्ययों के द्वारा होता है । संस्कृत की संज्ञा, सर्वनाम क्रियाओं का संयोगात्मक था तथा क्रमिक विकास के अनन्तर हिन्दी में यह वियोगात्मक हो गया । 'गच्छति' एक शब्द था, हिन्दी में पहुँचते-पहुंचते 'जाता है' दो शब्दों के रूप में विकसित हो गया । संस्कृत के लकार, पुरुष, वचन और लिंग हिन्दी में कम हो गये और कहीं-कहीं लुप्त हो गये हैं । इस प्रकार भाषा

तथा शब्दों के रूपों की न्यूनाधिकता का एकमात्र कारण रूप परिवर्तन ही है।

यह शब्द के रूपों का परिवर्तन प्रमुखतः दो दिशाओं में होता है—एक सादृश्य की दिशा में दूसरा अभिव्यंजना की सुविधा या नवीनता के लिए।

१. कभी-कभी अनेक रूप मानव-मस्तिष्क के लिए बोझ स्वरूप हो जाते हैं। अतः अनेकरूपता को हटाकर एकरूपता का शब्दों में समावेश कर दिया जाता है। इसी प्रवृत्ति के कारण अंग्रेजी में बली क्रियाएँ प्रायः लुप्त हो रही हैं और वे निर्बल क्रियाओं के सादृश्य पर निर्बल रूप को प्राप्त हो गई हैं। इस प्रकार भाषा में एक नियमितता आ गई है और अनियमितता नष्ट हो गई है। इस प्रकार अंग्रेजी क्रिया के रूप परिवर्तित हो गए। वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक संस्कृत में संज्ञा तथा क्रिया के रूपों में अपवाद बहुत अधिक थे परन्तु लौकिक संस्कृत तक आते-आते अपवाद रूप नियमित रूप में स्थित हो गये। संस्कृत में आकारान्त शब्द अधिक हैं तथा इकारान्त, उकरान्त कम। अतः इससे स्पष्ट है कि आकारान्त रूप स्थिर रहे, अन्य कम होते गए। आकारान्त शब्दों के आधार पर ही अन्य शब्दों के रूप प्राकृत में चल निकले। प्राकृत में पुत्रस्य और सर्वस्व के रूप पुत्तस्य और सव्वस्य बने और इन्हीं के सादृश्य पर अग्निस्स (अग्नेः) और वायुस्य (वायोः) बन गये जो अग्नि और वायु शब्द इकारान्त और उकारान्त हैं। इस प्रक्रिया में सादृश्य तथा प्रयत्न-लाघव का बहुत बड़ा हाथ है।

२. अभिव्यंजना की सुविधा तथा नवीनता के लिए लोग नए रूपों का प्रयोग करना प्रारम्भ कर देते हैं। कभी-कभी एकरूपता के कारण भ्रम हो जाता है। अतः नवीन रूप या प्रत्ययों के द्वारा अनेकरूपता की स्थापना कर दी जाती है और परिणामतः भ्रम का निवारण हो जाता है। जैसे भोजपुरी में—

एकवचन	बहुवचन
चोर जात है	चोर जात हउवन

यहाँ 'है' का बहुवचनान्त रूप 'हउवन' हो गया।

रूप परिवर्तन के कारण

(१) **सरलता**—जैसा कि ऊपर कहा गया है भाषा तथा शब्द के अपवाद रूपों मे मस्तिष्क पर अनुचित बोझ पड़ता है। इन अपवादों को नियमानुसार ढालने के लिए मनुष्य को सरलता के लिए नये रूपों की रचना करनी पड़ती है। उदाहरण स्वरूप संस्कृत की अपेक्षा हिन्दी के क्रिया और कारक के रूपों में एकरूपता आ गई है। ध्वनि-परिवर्तन में प्रयत्न-लाघव का जो स्थान है, रूप-परिवर्तन में सरलता का वही स्थान है। लोग उच्चारण तथा स्मरण की सरलता के लिए अन्य प्रचलित रूप के सादृश्य पर नवीन रूप का निर्माण कर लेते हैं। जैसे पाश्चात्य के वजन पर नये शब्द पौर्वात्य की रचना की गई। इस प्रकार के अनेक विकार रूपों में परिवर्तन कर देते हैं।

(२) **अज्ञानता**—नवीन रूप-रचना में अज्ञानता भी अपना कार्य करती है। अज्ञानतावश नए रूप बन जाते हैं और प्रचलित हो जाते हैं। मरना से मरा, धरना से धरा की भाँति करना से 'करा' रूप शुद्ध है पर अज्ञानवश देना से दिया और लेना से लिया के सदृश करना से किया रूप प्रचलित हो गया जो व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध होते हुए भी व्यापक रूप से इसका प्रयोग किया जाता। 'मैंने करा' शुद्ध होते हुए भी अशुद्ध माना जाता है। इस प्रकार व्याकरण के अशुद्ध रूपों का व्यवहार भाषा में लगातार हो रहा है। संस्कृत के शब्द का सदृश रूप लावण्यता, सौंदर्यता तथा सादृश्यता आदि उदाहरण खोजने पर मिल सकते हैं। लोक-भाषाओं में कुटिलताई, मित्रताई, मधुरताई आदि प्रयाग में आते हैं। सादृश्य के आधार पर इस अज्ञानता के कारण साहित्यिक भाषा में भी अन्तर्कथा, अन्तर्साक्ष्य, राजनैतिक तथा उपरोक्त जैसे अशुद्ध रूप प्रचलित हो गये। हैं

(३) **नवीनता की प्रवृत्ति**—इधर हिन्दी साहित्य में नवीन शब्दों के निर्माण की प्रवृत्ति चल पड़ी है। नूतन शब्द-निर्माण के लिए विविध रूप से उपसर्ग और प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। मृदुता के लिए मार्दव, निंदित के लिए विनिन्दित, प्रखरता के लिए प्राखर्य आदि शब्द इस प्रवृत्ति के द्योतक हैं।

(४) **स्पष्टता**—अवधी भाषा में एकवचन तथा बहुवचन के स्पष्ट करने

के लिए 'न' प्रत्यय का प्रयोग बहुलता से होता है। जैसे एक वचन में लरिका और बहुवचन में लरिकन। अनेक रूपों की समानता से भ्रांति पैदा हो जाती है। इस भ्रांति के निवारण के लिए तथा अधिक स्पष्टता लाने के लिए अनेक-रूपता बना ली जाती है।

(५) बल—किसी शब्द पर बल देने से भी रूप-परिवर्तन हो जाता है और नये रूपों की सृष्टि हो जाती है। ये रूप व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हो जाते हैं। अनेक (एक नहीं) शब्द बहुवचन है परन्तु 'अनेकों' का प्रयोग बहुत स्थानों पर कर दिया जाता है। 'ओं' प्रत्यय का प्रयोग बल देने के लिए है।

(६) अनेकरूपता—शब्दों की अनेकरूपता भी सादृश्य की शक्ति से आ जाती है। संस्कृत में सूर्य और सविता समानार्थक हैं पर सविता शब्द स्त्रीलिंग है और सूर्य पुल्लिग है। सविता का लता से सादृश्य ही उसके स्त्रीलिंग का द्योतक है। इसी प्रकार शौर्य तथा सौंदर्य पुल्लिग और शूरता और सुन्दरता स्त्रीलिंग हैं।

प्रश्न १४—बौद्धिक नियमों का परिचय दीजिये।

अर्थ के विकास के पीछे कुछ कारणों का योग सन्निहित रहता है। ब्रील आदि कुछ भाषा-शास्त्रियों ने इन कारणों तथा परिवर्तनों को बुद्धिगत माना है। इन विचारों के अनुशीलन के पश्चात् जो नियम निर्धारित किये जाते हैं वे बौद्धिक नियम कहलाते हैं। बौद्धिक नियम अर्थ विकारों का बुद्धिसंगत समाधान प्रस्तुत करते हैं। बौद्धिक नियमों का विवेचन निम्न रूप से किया जा सकता है।

(१) **विशेषणीकरण का नियम (Law of specialization)**—इसे विशेष भाव का नियम भी कहते हैं। अनेक शब्दों या प्रत्ययों में से किसी विशेष भाव या स्थिति के फलस्वरूप एक-दो रूपों के अवशिष्ट रूप को विशेष भाव का नियम कहते हैं। अनेक प्रचलित रूपों का धीरे-धीरे ह्रास होता जाता है और उनमें कुछ रूप अवशिष्ट रहते हैं। ये अवशिष्ट या जीवित रूप के अस्तित्व में मानव मस्तिष्क की एक विशेष भावना काम करती है। संस्कृत के तरप् (लघुत्तर, महत्तर, कुशलतर) और ईयसुन (पटीयस्, घनीयस् गरीयस्) दो प्रकार

के तुलनासूचक तथा तमप् (लघुत्तम, महत्तम, कुशलतम) और इष्टन् (परिष्ट, घनिष्ट, गरिष्ट) दो प्रकार के सर्वाधिक सूचक प्रत्यय थे। बाद में ईयस् और इष्ट का अधिक प्रयोग होने लगा। तर् और तम् का 'म' प्रत्यय हमें प्रथम, पंचम, सप्तम आदि संख्यावाचक रूपों में दृष्टिगत होता है। ईयस् के रूप द्वितीय, तृतीय तथा 'इष्ट' का रूप चतुर्थ तथा श्रेष्ठ में देखा जा सकता है। इस प्रकार धीरे-धीरे एक प्रत्यय ने एक संख्या के बोध कराने में तथा दूसरे ने अन्य रूप के ज्ञान के लिए विशेषता प्राप्त कर ली। पुनः हिन्दी भाषा में ये प्रत्यय लुप्त हो जाते जा रहे हैं तथा तुलनात्मक भाव के लिए 'अधिक,' 'और', 'अपेक्षा' आदि शब्दों का प्रयोग होता है। यह स्थिति अन्य प्रान्तीय भाषाओं की है। इसी विशेष भाव के नियम के अन्तर्गत विभक्तियों के स्थान पर कारक-चिन्हों या परसर्गों का प्रयोग माना जाता है तथा—'रामस्य' के स्थान पर 'राम का' रूप हिन्दी में हो गया। इस प्रकार शब्द अपना मूल अर्थ छोड़कर केवल एक विशेष व्याकरणिक अर्थ देने लगते हैं। हिन्दी कारकों की संहित से व्यवहित अवस्था है। यह नियम शब्दों के कुछ समाज-गृहीत रूपों पर कार्य करता है।

(२) **अर्थोद्योतन का नियम** (Law of irradiation)—इस नियम के अन्तर्गत शब्द में परम्परा से पृथक् एक नवीन अर्थ का आभास मिल जाता है। उद्योतन का अर्थ है 'चमक' इससे शब्दार्थ में नई चमक आ जाती है जो अर्थ में अच्छाई, बुराई या अन्य भाव को प्रकट कर देती है। अर्थोद्योतन के विकास में ये प्रवृत्तियाँ दर्शनीय हैं—(क) किसी प्रत्यय से अच्छे अर्थ का संकेत मिल जाता है। (ख) कभी वह प्रत्यय विपरीत या असुन्दर अर्थ को प्रकट कर देता है। (ग) कभी इन दोनों से भिन्न नवीन अर्थ का ज्ञापन करता है। (घ) तो कभी अनेक समानान्तर रूपों में सादृश्य के आधार पर मूल शब्द की प्रकृति का कोई अंश को प्रत्यय रूप में ग्रहण करने से एक नवीन अर्थ का जन्म हो जाता है। (ङ) कभी-कभी शब्द की पूरी प्रकृति ही प्रत्यय का कार्य करती है। उदाहरण रूप में अच्छे अर्थ में साहब से साहिबी ठाठ, मुनीमी ढंग, नवाबी चाल में उद्योतन हो गया है। मौसी, गोरी, घंटी, मटकी से एक साथ बड़प्पन-सूचक मौसा, गोरा, घंटा, मटका रूप हो जाते हैं। बाजी प्रत्यय का प्रयोग हीन

अर्थ में होता है यथा—कबूतरबाजी, शराबबाजी, जुआबाजी ।

कभी-कभी प्रकृति का अंश भी उद्योतन के द्वारा प्रत्यय बन जाता है, यथा 'पश्चात्' प्रकृति है, उससे पाश्चात्य रूप बना है और पौर्वात्य और दाक्षिणात्य भी पाश्चात्य के सादृश्य पर बने हैं ।

(३) भेदीकरण का नियम (Law of differentiation)—भेदीकरण की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—'धात्वर्थ के अनुसार अथवा किसी ऐतिहासिक कारण से जो शब्द समानार्थी प्रतीत होते हैं वे ही शब्द प्रवृत्ति तथा प्रक्रिया के द्वारा अपने अभिन्न अर्थ को छोड़ देते हैं तथा भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होने लगते हैं, उसे भेदीकरण कहते हैं । पर्यायवाची तथा समानार्थी शब्दों का जब सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया जाता है तो उनका छिपा हुआ भेद या रहस्य प्रकट हो जाता है । इस मानसिक उन्नयन तथा सूक्ष्मदर्शक बुद्धि से समानार्थी शब्दों की विभिन्नता का द्योतन भेदीकरण नियम के नाम से जाना जाता है । इसमें मानसिक स्तर की उच्चता तथा व्यापकता अपेक्षित है । जैसे डाक्टर, वैद्य तथा हकीम आदि शब्द पर्यायवाची हैं परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से इनमें भी भेद लक्षित होता है। डाक्टर से एलोपेथी या होम्योपेथी प्रणाली के चिकित्सक का ज्ञान होता है । हकीम यूनानी तथा वैद्य आयुर्वेदिक पद्धति के चिकित्सक के अर्थ में ग्रहण किया जाता है । उपर्युक्त शब्द तीन भाषाओं के हैं परन्तु एक भाषा के शब्दों में भी भेद की प्रवृत्ति मिलती है । जैसे शिशु, वत्स, कलभ आदि में प्राणी-अनुसार भेद से । तत्सम और तद्भव शब्दों में भी भेदीकरण का नियम द्रष्टव्य है । 'बच्चे के समानार्थी शब्द भी अपने भाव तथा अर्थ में भिन्नता रखते हैं यथा सं० वत्स से बच्चा (मनुष्य का), बछेड़ा (घोड़े का), पत्तर (धातु), पत्तल (पत्ते का बना) में भी भेद स्पष्ट है । इसी प्रकार संस्कृत शब्द, बुद्धि बोध, श्राद्ध-श्रद्धा, वेद-विद्या तथा अनुभाव-अनुभव में समानरूपता होते हुए भी विस्तृत भेद है ।

संस्कृत और सभ्यता के उत्थान से भेदीकरण की प्रवृत्ति का विकास होता है । आदरणीय व्यक्ति के लिए सुन्दर शब्दावली तथा सामान्य व्यक्ति के लिए सामान्य शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, यथा आदरार्थ पधारिये, विरा-

जिये तथा सामान्य रूप से बैठिये शब्द का प्रयोग किया जाता है। जो समाज जितना ही अधिक सभ्य तथा सुसंस्कृत होगा अर्थ-भेद की मात्रा उतनी ही भाषा में मिलेगी।

(४) **भ्रम या प्रतीति का नियम** (Law of False Preception)—किसी शब्द के रूप को देखकर हमें कभी-कभी भ्रमवश उस शब्द के अन्य अर्थ का भान होने लगता है और आगे चलकर वही भ्रामक अर्थ प्रचलित हो जाता है। फलतः अर्थ में विकार पैदा हो जाता है। यही मिथ्या प्रतीति का नियम है। स्वरांघात तथा बलाघात से इस प्रकार के रूपों का सर्वप्रथम निर्माण हुआ और बाद में वही ग्राह्य होकर व्याकरण का अंश बन गये। व्याकरणिक उद्यो-तन से शब्दों में प्रकृति, प्रत्यय का ज्ञान न होने से उनका रूप भ्रमवश सामान्य तथा स्वाभाविक समझ लिया गया। यथा श्रेष्ठ (=सबसे अच्छा) का निर्माण प्रशस्य+इष्टन् से हुआ है। इष्टन् प्रत्यय की प्रकृति का स्वरूप स्पष्ट न होने से इसे मूल शब्द समझा जाने लगा। इसके भी प्रत्ययान्त रूप श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर, श्रेष्ठतम रूप में प्रयुक्त होते हैं। ज्येष्ठ भी इसी प्रकार का रूप है।

शब्द रूपों की इस मिथ्या-प्रतीति से अर्थ के उत्कर्ष और अपकर्ष का भाव भी हो जाता है। प्राची साहित्य में असुर का अर्थ 'देवता' था जिसकी रचना असु=प्राण शब्द में हुई परन्तु अब इसका अपकर्ष अ+सुर=राक्षस के अर्थ में हो गया है। साहसी का पूर्व अर्थ 'डाकू' था परन्तु उत्कर्ष होकर इसका प्रयोग अदम्य उत्साह के लिए होने लगा। भ्रमवश कभी-कभी दुहरे प्रयोग चल जाते हैं। जैसे परन्तु फिर भी (एक प्रयोग उचित है), गुल रोगन (=तेल) का तेल, गुलमेंहदी का फूल (गुल=फूल), हिमाचल पर्वत मलयागिरि (=पर्वत) पर्वत, काबुल वाला के स्थान पर काबुलीवाला आदि शब्दों के द्वित्व रूपों का प्रयोग प्रचलित है।

(५) **विभक्तियों के भग्नावशेष का नियम** (Law of Survival of Inflections)—जैसे भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर अग्रसर होती है तो ध्वनि लोप के कारण विभक्तियों का लोप हो जाता है तथा उनके स्थान पर कारक-चिह्न या परसर्गों का प्रयोग होने लगता है। हिन्दी में संस्कृत विभक्तियों का लोप होकर परसर्ग जुड़कर विभक्तियों का भाव प्रकट करने लगे।

इन लुप्त विभक्तियों के अस्तित्व को बनाए रखने की मनोवृत्ति कभी-कभी भाषा में दिखाई पड़ जाती है, जैसे हठात्, दैवात् दैववशात् आदि। सूक्ष्म दृष्टि से अर्थ परिवर्तन का सूत्र भी ऐसे रूपों में दृष्टिगत होता है, यथा कृपया का अर्थ 'कृपा से' न होकर 'कृपा करके' लिया जाता है। इसी प्रकार परिणामत: का अर्थ 'परिणाम से' (पंचमी प्रत्यय का रूप) न लेकर 'परिणामस्वरूप' के अर्थ में लिया जाता है। भोजपुरी रूप 'घरे', 'दुवारे' में सप्तमी—'ए' का मूल रूप अब भी सुरक्षित है।

(६) **नये लाभ के नियम**—भाषा में जब एक ओर कुछ प्रत्यय, विभक्तियों का लोप होता है तो दूसरी ओर नए रूपों और अर्थों का विकास होता है। प्रसिद्ध भाषाविद् ब्रेल ने, कर्मवाच्य, क्रिया-विशेषण, अव्यय तथा कृदन्त को ह्रास के परिणामस्वरूप नवीन रूपों में लिया है। उसके मत में ह्रास हुए रूपों की क्षतिपूर्ति नवीन रूपों के भाषा में आने से ही हो जाती है। क्रिया रूपों में अव्यय कृदन्त तथा क्रिया विशेषण का अस्तित्व अर्वाचीन तथा आधुनिक अवस्था की चीज है। ब्रेल के मतानुसार जब संज्ञा या विशेषण का कोई विशिष्ट रूप विभक्तियों का त्याग कर अव्यय रूह में स्थित हो जाता है तब उसका वह रूप क्रिया-विशेषण बन जाता है। उदाहरणार्थ 'चिरम् आगत्य' (देर से आया हुआ) में चिरम् की द्वितीया विभक्ति का रूप अप्रयुक्त होकर अव्यय रूप में आ गया तथा चिरम् विशेषण को क्रिपा-विशेषण के रूप में ग्रहण किया जाने लगा। कस्मात् से अकस्मात् इसी प्रकार के रूप हैं।

(७) **उपमान का नियम**—प्रचलित शब्द के अनुकरण पर नवीन शब्द की सृष्टि भाषा में होती रहती है। मानव भाव तथा रूप-साम्य के आधार पर नए शब्दों का प्रयोग सरलता तथा सुविधा के लिए करता है। यह उपमा का नियम सरल तथा समान रूप की रचना में सहायक होता है। इस नियम का उपयोग भाव-प्रकाशन की कठिनाई को दूर करने तथा भाव तथा रूप में स्पष्टता लाने के लिए होता है। किसी विषय अथवा सादृश्य को शक्तिशाली बनाने में तथा प्राचीन और नवीन नियमों से नए रूप की संगति बैठाने में इसका प्रबल हाथ है। अनुमान किया जाता है कि भारोपीय काल में शब्दों के अनेक प्रत्यय तथा रूप थे परन्तु सुविधानुसार उपमान के सहारे वैदिक युगीन

मानव ने एक रूप को नवीनता के साथ ग्रहण किया तो अवेस्ता तथा ग्रीक वालों ने उसी या दूसरे रूप को नए स्वरूप के साथ ग्रहण किया। उत्तम पुरुष वर्त-मान के दो प्रत्यय थे 'मि' और 'ओ' परन्तु उपमान से उनमें भेद मिट गया। संस्कृत में 'मि' को, तो ग्रीक में 'ओ' को अपनाया गया। संस्कृत के 'अस्मि' और अवेस्ता के 'आह्मि' से मिला-जुला रूप 'एह्मि' ग्रीक में मिलता है।

(८) **अनुपयोगी रूपों का विनाश**—जब एक भाषा में एक अर्थ वाची अनेक शब्दों का प्रचलन होता है तो प्रयोगानुसार उनमें से कुछ विशिष्ट शब्द जीवित रहते हैं तथा शेष शब्दों को अनुपयोगी समझकर उनका प्रयोग कम हो जाता है। फलतः वे नष्ट तथा लुप्त हो जाते हैं। वैदिक संस्कृत में शब्द तथा धातुओं के एक ही अर्थवाची अनेक रूप प्रयुक्त किए गए हैं परन्तु लौकिक संस्कृत तक आते-आते उनके कुछ निश्चित रूप ही अवशिष्ट रहे। शेष रूप अनुपयोगिता के कारण व्यवहृत न हो पाये। यही स्थिति लौकिक संस्कृत और प्राकृत अथवा अपभ्रंश तक रही और यही प्रवृत्ति आधुनिक हिन्दी आदि भाषाओं में भी दिखाई देती है। उदाहरण रूप में वैदिक संस्कृत में देखने के अर्थ में दो धातुएँ थी—स्पृश् और दृश् पर उत्तरयुग में 'पश्य' को एक ही धातु 'दृश' का आदेश मान लिया गया। इसी प्रकार हिन्दी में संस्कृत के द्वि-वचन का लोप हो गया। अनेक-रूप शब्दों का लोप अधिकता से दिखाई देता है जब कि एक रूप वाले पद भाषा में प्रायः स्थिर रहे। इन रूपों का अर्थ पर भी अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है।

प्रश्न १५—अर्थ-परिवर्तन की दिशाओं के आधार का उल्लेख कीजिए। उपर्युक्त उदाहण भी दीजिए।

शब्द और अर्थ का अभिन्न सम्बन्ध है। शब्द और अर्थ का योग ही भाषा को सार्थक और भावगम्य बनाता है। वास्तव में अर्थ ही शब्द का प्राण है। बिना अर्थ प्रतीति के शब्द का अस्तित्व व्यर्थ तथा निष्फल है। भाषा परिवर्तन से शब्द और अर्थ दोनों में ही विकार पैदा हो जाता है। अर्थतत्व के परि-वर्तन या विकास की अनेक अवस्थाएँ हैं। कभी शब्द के अर्थ का विस्तार होकर उसका क्षेत्र व्यापक हो जाता है यथा तेल प्राचीन समय में 'तिल के सार' का द्योतक था पर अब सभी वस्तुओं के तेलों के लिए इसका प्रयोग होता

है। कभी अर्थ में संकोच हो जाता है। इस प्रकार अर्थ-परिवर्तन या विकास की एक दिशा नहीं अपितु विभिन्न दिशाएँ हैं।

अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ

अर्थ-विज्ञान के ज्ञाता ब्रील के अनुसार अर्थ-विकास की प्रमुखतः तीन दिशाएँ हैं—१. अर्थ-विस्तार, २. अर्थ-संकोच और ३. अर्थादेश। कुछ अन्य दिशाएँ भी हैं जिन पर आगे प्रकाश डालना अनिवार्य हैं।

१. अर्थ-विस्तार (Expansion of meaning)—अर्थ-विस्तार में शब्दों का अर्थ एक संकीर्ण सीमा का अतिक्रमण कर व्यापक रूप धारण कर लेता है। अर्थ का विस्तृत होकर व्यापक हो जाना ही अर्थ-विस्तार है। यह अर्थ-विस्तार भाषा में कम मात्रा में होता है। कारण स्पष्ट है कि भाषा के अधिक उन्नत, समृद्ध और विकसित हो जाने पर उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म और सीमित से सीमित भावनाओं को अभिव्यंजित करने की शक्ति आ जाती है। अतः स्वाभाविक रूप से अर्थ सामान्य से विशेष की ओर विकसित हो जाता है। अर्थ-संकोच का बाहुल्य हो जाता है। अर्थ-विस्तार से अर्थ का सामान्य रूप बढ़ जाता है।

उदाहरणार्थ—'गवेषणा' शब्द आदि में गाय खोजने में प्रयुक्त होता था पर आज प्रत्येक शोध-कार्य तथा खोज के लिए इसका प्रयोग होता है। आरम्भ में काले रंग को स्याही कहते थे परन्तु नीली, लाल रोशनाई के लिए भी यह शब्द सामान्य रूप से व्यवहृत होता है। पूर्वकाल में पुण्य करने वाले को 'निपुण', कुशा लाने में चतुर को 'कुशल' तथा वीणा बजाने में सिद्धहस्त को 'प्रवीण' कहते थे परन्तु आज तीनों शब्दों का प्रयोग सामान्य रूप से सब काम में पूर्ण पंडित या चतुर अर्थ में होता है। 'गोहार' गौ के हरण पर की गई पुकार को कहते थे पर अब सब प्रकार की प्रार्थना 'गोहार' है। 'सब्जी' सब्ज (हरा) के आधार पर हरी सब्जियों का पर्याय था, किन्तु अब सभी साग-सब्जियाँ हैं। अतः अर्थ का विस्तार हो गया है। कई बार व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ जातिवाचक बन कर विस्तार कर लेती हैं। जैसे लड़ाई कराने वाले को 'नारद' तथा घर के भेदिए को 'विभीषण' कह देते हैं। यहाँ तो अनेक 'कालिदास' हैं में कवि कालिदास के समान विद्वानों का अर्थ है।

२. अर्थ-संकोच (Contraction of meaning)—अर्थ का सिकुड़ना या

या सीमित हो जाना ही अर्थ-संकोच है। भाषा का विकास अर्थ-संकोच की दिशा में अधिक होता है अतः इसका महत्व अपरिमित है। प्रारम्भिक युग में भाषा में शब्द सामान्य या विस्तृत अर्थ के द्योतक रहे परन्तु सभ्यता के विकास के साथ उनमें विशिष्ट अर्थ-प्रतिपादन की भावना आती गई और अर्थ-संकोच का आधिक्य भाषा में लक्षित होने लगा। अर्थ विज्ञान के मनीषी ब्रील का कथन है—'राष्ट्र या जाति जितनी ही अधिक विकसित होगी उसकी भाषा में अर्थ-संकोच के उदाहरण उतने ही अधिक मिलेंगे। उदाहरण के लिए— संस्कृत के 'मृग' शब्द का प्रयोग पशु या जानवर मात्र के लिए होता था पर अब उसका प्रयोग हरिण के लिए सीमित हो गया है। भार्या का अर्थ—'जिसका भरण पोषण किया जाय' अब यह पत्नी के लिए रूढ़ हो गया है। गो (गम् धातु से) का अर्थ 'गमन करने वाला' है परन्तु आज गाय के लिए व्यवहृत होता है। 'मुर्ग' का फारसी भाषा में अर्थ पक्षी मात्र है जैसे कि शुतुरमुर्ग और मुर्गाबी (जल-पक्षी) से स्पष्ट है। पर उर्दू, हिन्दी में पक्षी विशेष का बोध होता है। श्रद्धा से किया जाने वाला प्रत्येक कार्य 'श्राद्ध' कहा जाता है पर अब मृत्यु के बाद के कार्य विशेष का ज्ञान कराता है। ढूँढ़ने पर प्रत्येक भाषा में अर्थ-संकोच के अनेकानेक उदाहरण मिल सकते हैं।

३. अर्थादेश (Transfernence of meaning)—विचार-साहचर्य या भाव-शबलता के कारण एक शब्द के प्रधान तथा गौण अर्थ चलने लगते हैं किन्तु कालान्तर में प्रधान अर्थ का धीरे-धीरे लोप हो जाता है और उस शब्द का गौण अर्थ ही प्रचलित हो जाता है। इस प्रकार प्रमुख अर्थ के स्थान पर नवीन अर्थ के आ जाने को अर्थादेश कहते हैं। इसमें प्रधान अर्थ का बोध होकर गौण अर्थ का तत्स्थान आदेश हो जाता है। उदाहरणार्थ —'गंवार' का अर्थ पहले 'गाँव का रहने वाला' था। ग्रामवासी अधिकतर असभ्य और असंस्कृत होते हैं। उसी के आधार पर आजकल उसका प्रचलित अर्थ 'असभ्य' या 'असंस्कृत' है। 'वर' का अर्थ श्रेष्ठ या अब 'दुलहे' का बोध कराता है। सम्राट् अशोक देवानां प्रियः' कहा जाता था पर बाद में उसका अर्थ मूर्ख हो गया। प्रारम्भिक ऋग्वेदिक ऋचाओं में असुर देववाची शब्द कुछ समय बाद राक्षस-वाची बन गया। दुहितृ का अर्थ दुहने वाली था, अब गौण अर्थ 'पुत्री' के रूप में

हो गया । बंगला का वाड़ी (सं० वाटिका) घर का द्योतक हो गया है ।

अर्थ-परिर्तन की निम्न दिशाएँ भी हो सकती हैं—

४. अर्थोत्कर्ष—अर्थ-विकास में कभी-कभी अर्थ पहले से अधिक उन्नत
और अच्छे भाव को ग्रहण कर लेते हैं । इसी को अर्थोत्कर्ष कहते हैं । परिवर्तन
से अर्थ में उदात्तता अर्थ उत्कर्ष या उत्थान हो जाता है । यह अर्थोत्कर्ष के उदा-
हरण भाषा में कम ही मिलते हैं । जैसे, संस्कृत में 'साहस' शब्द बुरे अर्थ (व्यव-
चार, हत्या आदि) में प्रयुक्त होता था पर अब उच्च तथा सराहनीय कार्य के
लिए व्यवहृत होता है । यथा—मनुष्य मारणं स्तेयं परदाराभिमर्षणम् ।
पारुष्यमनृतं चैव साहसं पंचधा स्मृतम् ।।
संस्कृत में 'मुग्ध' का अर्थ 'मूढ़' होता था । अब 'मोहित' या 'प्रसन्न' का बोध
कराता है । संस्कृत में 'कर्पट' पाली 'कप्पट' जीर्ण वस्त्र के लिए प्रयुक्त होता
था, अब अच्छे सुन्दर वस्त्र के लिए प्रयुक्त होता है । ऐसे ही इण्डियन, बन्दी
आदि शब्दों का भी अर्थोत्कर्ष हो गया है ।

५. अर्थापकर्ष—यह अर्थोत्कर्ष का विलोम है । जब अर्थ-परिवर्तन में शब्द
के अर्थ में गिरावट आ जाती है या निम्न कोटि के भाव को प्रकट करने
लगता है तो वहाँ अर्थापकर्ष होता है । ये निम्न तथा बुरे अर्थ ही प्रधान
हो जाते हैं । तथा—कबीर ने 'हरिजन' शब्द का प्रयोग भक्त के अर्थ में
किया है, अब अछूतों का भाव उसमें समा गया है । संस्कृत का 'जुगुप्सा'
शब्द 'गुप्' धातु से बना है जिसका अर्थ पालना या छिपाना है पर इसका प्रयोग
अब 'घृणा' अर्थ में किया जाता है । पहले सत् और असत् का अर्थ विद्यमान
और अविद्यमान होता था, परन्तु अब भला-बुरा या झूठ-सच हो गया है ।
काम-शास्त्र में प्रयुक्त होने के कारण संस्कृत के सहवास, प्रसंग, समागम, भोग
आदि शब्द संकीर्ण बन गए हैं और उनके अर्थ में अश्लीलता के कारण अपकर्ष
हो गया है । कभी-कभी तत्सम शब्द ठीक अर्थ में प्रयुक्त होता है पर उससे
निःसृत तद्भव शब्द का अर्थापकर्ष हो जाता है, यथा 'गाभिन,' 'थन' संस्कृत
शब्द 'गर्भिणी' और 'स्तन' से निकले हैं पर इनका प्रयोग मानव के लिए न
होकर पशुओं के लिए होता है । जैन साधुओं के लिए 'नग्न', 'लुंचित', तथा
'पाषण्डी' का प्रयोग आदर के लिए होता था, पर उनका तद्भव रूप नंगा,

लुच्चा, पाखण्डी' का प्रयोग नीच, कपटी तथा पाखण्डी के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार, बाबूगीरी, यारी, दोस्ती महाराज, महाजन का अर्थापकर्ष हुआ है।

६. अर्थापदेश यह अर्थापदेश के विपरीत है। इसमें अप्रिय तथा अमंगल-सूचक बातों को प्रिय तथा सुन्दर ढंग से कह दिया जाता है। जिससे उनका दोष कम हो जाता है तथा अशोभन में शोभन तथा भयानकता में सुन्दरता दिखाई देती है। चेचक रोग के लिए माता, देवी का प्रयोग इसी का उदाहरण है। विधवा होने के स्थान पर—सिन्दूर पुँछ गया, चूड़ी टूटना, सिन्दूर लुटना आदि शब्दों का शोभनता के लिए व्यवहार किया जाता है। स्वर्गवास होना, परलोक सिधारना तथा दिवंगत होना शब्दों का प्रयोग किसी व्यक्ति की मृत्यु पर आदर के लिए किया जाता है।

७. अर्थ भेद—जब किसी शब्द का अर्थ परिवर्तित होकर अन्य भाषा में भिन्नता धारण कर लेता वहाँ अर्थ-भेद होता है। यह अर्थ में भेद की प्रक्रिया अनायास ही बिना कारण के प्रयोग द्वारा हो जाती है।

उदाहरण के लिए—संस्कृत शब्द 'घर्म्य' हिन्दी भाषा में 'घाम' बन गया जिसका अर्थ धूप है पर बंगला भाषा में पहुँचने पर इस शब्द का अर्थ 'पीसना' हो गया। हिन्दी सहन=बर्दाश्त तथा अरबी में आँगन, संस्कृत में कुल=परिवार तथा अरबी कुल=समस्त के अर्थ में आता है।

८. अर्थ का मूर्तिकरण तथा अमूर्तिकरण—मूर्त भाव कभी-कभी अमूर्त या सूक्ष्म तथा भाव रूप में परिवर्तित हो जाता है जिसके कारण अर्थ में विकार हो जाता है। 'स्वाभिमान की रक्षा के लिए गज भर कलेजे की आवश्यकता है', इन वाक्य में कलेजे का अर्थ हृदय न होकर 'साहस' है। इससे स्थूल अर्थ में सूक्ष्म का समावेश हो गया है। इसके विपरीत कभी शब्द का अमूर्त अर्थ मूर्त हो जाता है। वह अर्थ भाव, क्रिया, गुण को त्याग कर किसी पदार्थ या द्रव्य का बोध कराने लगता है। मीठा और नमकीन भाववाचक होकर कभी-कभी मिठाई के रूप में प्रयुक्त होकर मूर्त रूप धारण कर लेते हैं। रोटी मूर्त होते हुए भी जीविका का अर्थ देती है।

९. रूपक—इसमें भाषा का आलंकारिक प्रयोग आता है। रूपक अलंकार

का अधिकाशतः प्रयोग किया जाता है। जैसे—वह पंजाब-केशरी है, वह तो गधा है।

१०. अनेकार्थता—एक ही शब्द प्रसंग के अनुसार अनेक अर्थों का बोध कराता है। कभी वह सीमित अर्थ में प्रयुक्त होता है कभी व्यापक अर्थ में। कभी प्रधान अर्थ के साथ अनेक अर्थ भी सम्बद्ध हो जाते हैं। जैसे पक्ष शब्द से पंख, पक्षपात, पाख (कृष्ण पक्ष शुक्ल पक्ष) आदि का ज्ञान होता है। जैसे जड़ शब्द मूल के अर्थ में (पेड़ की जड़) आता है तथा इसका प्रयोग आधार तथा कारण के भाव में भी होता है; यथा रोग की जड़, झगड़े की जड़।

नोट—अर्थ परिवर्तन की छः से दस तक की दिशाएं प्रायः पूर्व दिशाओं के अन्तर्गत ही आ जाती हैं। स्पष्ट करने के लिए यहाँ इनका उल्लेख कर दिया गया है।

प्रश्न १६—शब्दार्थ में परिवर्तन होने के मुख्य कारण क्या हैं? उपयुक्त उदाहरण देकर अपने उत्तर की पुष्टि कीजिए।

मनुष्य विवेक तथा चिन्तनशील प्राणी है। उसके चिन्तन तथा भाव की अभिव्यक्ति भाषा में परिलक्षित होती है। भाषा का प्राण अर्थ है। अतः भाषा में शब्दार्थ मानव-मनोवृत्ति के अनुकूल परिवर्तित होता रहता है। मानव-विचारों में एक प्रकार की अस्थिरता तथा अनेकरूपता वर्तमान रहती है। इस अस्थिरता तथा अनेकरूपता का प्रतिबिम्ब भाषा तथा उसके अर्थ पर पड़ता है। इस प्रभाव के कारण अर्थ में परिवर्तन आ जाता है। मानव की मनोवृत्तियों पर बाह्य अनेक प्रकार की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। भाषा तथा शब्दार्थ इस सब बातों से शासित तथा परिचालित रहता है। फलतः शब्दों के अर्थ में विकार पैदा करने में एक साथ अनेक कारणों का योग रहता है। ये कारण कभी पृथक् तथा कभी घनीभूत रूप में ग्रथित हो अर्थ पर प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार अर्थ का विकास होता रहता है। अतः शब्दार्थ-परिवर्तन अनेक कारणों से होता है।

कारण

बल का अपसरण—किसी शब्द के उच्चारण में जब एक विशिष्ट ध्वनि

पर बल दिया जाता है तो उस शब्द की अन्य ध्वनियां उपेक्षित होकर निर्बल हो जाती हैं तथा धीरे-धीरे लोप होने लगती हैं तथा उपाध्याय के 'झा' ध्वनि का रूप इसी बलापसरण का फल है। इसी प्रकार किसी शब्द के अर्थ के प्रधान पक्ष से हट कर बल अन्य पक्ष पर पड़ जाता है तो धीरे-धीरे वही अर्थ प्रमुख हो जाता है और प्रधान अर्थ हट जाता है।

उदाहरणार्थ—गोस्वामी का अर्थ 'गायों का स्वामी' था। गायों के स्वामित्व तथा सेवा की भावना से धर्म के सम्मिश्रण से इसका उत्तर अर्थ 'माननीय धार्मिक व्यक्ति' हो गया और सन्तों के लिए इसका प्रयोग हुआ। अरबी शब्द 'गुलाम' तथा अंग्रेजी का 'नेव' (knave) का अर्थ लड़का था परन्तु दास-प्रथा पर बल अपसरण के कारण इनका अर्थ सेवक तथा शरारती हो गया। 'जुगुप्सा' को पालन करने से घृणा करने के अर्थ में इसी कारण से आया।

२. पीढ़ी-परिवर्तन—मानव कभी भी पूर्ण तथा शुद्ध रूप में अनुकरण करने में असमर्थ रहा है। शब्द की ध्वनि या अर्थ में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य पड़ जाता है। नई पीढ़ी के लोग पुरानी पीढ़ी के शब्दार्थों के अनुकरण करते समय अनेक त्रुटियां कर बैठते हैं। हमारे पूर्वज पहले पत्तों पर लिखते थे। बाद वाली सन्तति ने लिखित सामग्री को पत्र समझ लिया और भोजवृक्ष की छाल पर लिखने के कारण उसको भोजपत्र के नाम से पुकारा। आज भी सुवर्ण और रजत पत्र होते हैं। धीरे-धीरे पत्र पतलेपन का सूचक बन गया। तेल और कुशल (कुशा लाने में चतुर) के अर्थ का इसी तरह का इतिहास है।

३. वातावरण में परिवर्तन—वातावरण में परिवर्तन से अर्थ-विकार हो जाता है। भौगोलिक वातावरण के परिवर्तन से अर्थ भी बदल जाते हैं। जैसे अंग्रेजी शब्द Corn सामान्य रूप से अन्न के लिए प्रयुक्त होता परन्तु अमरीका में यह मक्का का वाचक है। प्राचीन वैदिक ऋचाओं में 'उष्ट्र' का प्रयोग 'जंगली बैल' के लिए होता था परन्तु बाद में ऊंट के लिए होने लगा।

शब्दार्थ में परिवर्तन का कारण सामाजिक वातावरण भी है। गिरजाघर में उपदेशिका के लिए Mother और अस्पताल में नर्स के लिए Sister का अर्थ माता और बहिन से भिन्न होता है। व्याख्यान-दाता के लिए के लिए भाई, बहिन का अन्य ही अर्थ गृहीत है। लौकिक प्रथाएं तथा रीति-रिवाज में परि-

वर्तन से शब्दार्थ में परिवर्तन हो जाता है। वैदिक युग में यज्ञकर्ता 'यज्ञमान' कहलाता था पर अब इसका प्रयोग 'जजमान' के रूप में अन्य अर्थ में होता है।

४. **नम्रता प्रदर्शन**—नियम-शीलता तथा नम्रता-प्रदर्शन के कारण शब्दों के अर्थों में एक विशेषता आ जाती है और उसमें परिवर्तन आ जाता है। किसी का 'घर' पूछने में 'दौलतखाना' शब्द का तथा अपने घर के लिए 'गरीबखाना' शब्द का व्यवहार करते हैं। भारोपीय परिचार में इस प्रकार के शब्द सर्वाधिक प्रचलित हैं। बड़े व्यक्ति को 'आप' के स्थान पर 'गरीब-परवर', 'जहाँपनाह', 'अन्नदाता' आदि का प्रयोग होता है। कुछ कहने के लिए 'कुछ अरज करना चाहता हूँ' तथा दूसरे के लिए 'अब आप कुछ फरमाने की तकलीफ गवारा करें' आदि शब्द उर्दू की इस सम्बन्ध में समृद्ध सूचित करते हैं। संत तथा सज्जन व्यक्ति के आने के लिए 'पधारना' तथा मिलने के लिए 'दर्शन करना' कहा जाता है।

५. **सादृश्य तथा अज्ञानता**—सादृश्य से अर्थ-परिवर्तन होता है परन्तु वह अज्ञान का सहारा लेकर घटित होता है। इन परिवर्तनों का बाहुल्य अज्ञानता के अंक में ही होता है। 'टिकट' और 'टैक्स के रूप-साम्य के आधार पर अब देहात में टिकट के स्थान पर 'टिकस' का प्रयोग किया जाता है। देहात में 'कनेक्शन' का प्रयोग अज्ञान से 'कन्सेशन' के लिए किया जाता है। संस्कृत में उत्क्रान्ति (=मृत्यु या उछाल) का क्रान्ति के अर्थ में प्रश्रय (=विनय, नम्रता) का आश्रय तथा उत्क्रोश (=चिल्लपों) का आक्रोश के अर्थ में सामान्य रूप से प्रयोग किया जाता है।

६. **अशोभन के लिए शोभन भाषा का प्रयोग**—मानव सौन्दर्य प्रेमी है। वह शिष्टाचारवश अशुभसूचक तथा भयंकर शब्दों, भावनाओं तथा कार्यों को मनोज्ञता के साथ कहना चाहता है। प्रायः स्त्रियाँ भी अशोभन शब्दों का प्रयोग सभ्य तथा शोभन रूप से करती हैं। अवांछनीय कार्य या घटना को सुन्दर शब्दों में में वर्णित कर दिया जाता है, यथा आदरणीय व्यक्ति के मरने पर स्वर्गवास होना, पंचत्व को प्राप्त होना, गोलोक जाना आदि कहा जाता है। किसी के विधवा होने पर चूड़ी फूटना, सुहाग लुटना या धुलना, माँग सफेद होना आदि कहा जाता है। दूकान बंद करने को दुकान बढ़ाना कहते हैं।

कभी-कभी अश्लीलता छिपाने के लिए अच्छे शब्दों का व्यवहार किया जाता है। मानव-वृत्ति शब्दों की अभिरामता से अधिक आकर्षित हो जाती है। पाखाना जाने को—बाहर जाना, शौच जाना तथा दिशा जाना और निवृत्त होना आदि कहा जाता है। गर्भिणी होने को—'पाँव भारी होना' तथा पेशाब को 'बाथरूम' तथा 'लघुशंका' कहा जाता है।

कटुता या भयंकरता को छिपाने का भी मानव प्रयत्न करता है।

उदाहरणार्थ—चेचक को देवी या माता तथा हैजा में कै-दस्त होने को 'मुँह और पेट चलना' कहा जाता है 'चेचक' में गर्मी अधिक होने को 'शीतला' कहा जाता है। कभी-कभी गंदे या छोटे कार्यों को भी मधुर शब्दों के द्वारा प्रिय बना दिया जाता है। भंगी को जमादार या मेहतर (महत्तर) तथा पाखाना साफ करने को 'कमाना' कहा जाता है। पंजाबी में नाई को राजा कहा जाता है। भंगिन को महतरानी तथा रसोइए को महाराज या ठाकुर कहा जाता है। इस प्रकार की भावना से शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है।

७. व्यंग्य – व्यंग्य के कारण शब्दार्थ में विकार अर्थादेश के अन्तर्गत होता है और आगे उन शब्दों का नवीन अर्थ ही प्रचलित हो जाता है। मूर्ख के अर्थ में 'पूरे पण्डित', 'पूरे देवता', 'दिमाग का पूरा', 'अक्ल का खजाना' आदि शब्द चल पड़े हैं। 'पूरे हरिश्चन्द्र के अवतार' असत्यवादी तथा 'लक्ष्मी के पति' दीन व्यक्ति के लिए व्यंग्यरूप में प्रयोग किया जाता है।

८. व्यक्तिगत योग्यता—शब्द का अर्थ भावना पर भी अधिकांशतः टिका रहता है। एक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत सामर्थ्य तथा भावना के अनुसार भाषा का अर्थ समझता है। उदाहरणार्थ 'शून्य' शब्द का अर्थ दार्शनिक के लिए कुछ और एक वैज्ञानिक के लिए कुछ और तथा एक गणितज्ञ के लिए कुछ और ही होगा। शब्दों में अर्थ का अनिश्चय होने पर ही एक शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ लिया जाता है। 'कर्तव्य' के अर्थ की एक निश्चित सीमा न होने से इसके अर्थ में भी भेद हो जाता है। इसी प्रकार के शब्द पाप, पुण्य, धर्म और कर्म हैं।

९. भावावेश—भाव-शबलता या आधिक्य से शब्दों के अर्थ में एक

विशेषता आ जाती है और अर्थ में परिवर्तन आ जाता है। क्रोध के आवेश में आकर शब्दों का विचित्र अर्थ में प्रयोग होने लगता है। क्रोध में उच्चरित शब्द 'बच्चू' बच्चा का वाचक शब्द न होकर तुच्छता का प्रतीक बन जाता है। उसी प्रकार 'राक्षस' और पाजी में एक प्रकार की हीनता का भाव रहता है। स्नेहातिशय में भी कठोर शब्द में प्रेम तथा स्नेह का भाव पल्लवित हो जाता है। पिता का प्रेम के आवेश में पुत्र को 'पाजी' गदहा, दुष्ट, पगला तथा 'शैतान' कहना बुरे अर्थ में प्रयुक्त न होकर पुत्र की चपलता आदि गुणों का द्योतक होता है।

१०. **भाषान्तर**—जब एक शब्द एक भाषा से अन्य भाषा में प्रविष्ट होता है तो उसके भाव या अर्थ में थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य आ जाता है। जैसे—फारसी में मुर्ग का अर्थ 'पक्षी' है पर हिन्दी में एक पक्षी विशेष का नाम है। यहाँ अर्थ-संकोच हो गया है। फारसी का नदी वाचक 'दरिया' शब्द गुजराती समुद्र का अर्थ देने लगा। संस्कृत का 'नील' शब्द गुजराती में 'लीलो' बन कर हरे रंग का द्योतक हो गया। हिन्दी की वाटिका (बगीचा) बंगाली में बाड़ी (घर) बन गया।

११. **भावों की स्पष्टता के लिए अलंकार-प्रयोग**—अर्थशास्त्र के मनीषी ब्रील का कथन है कि अलंकारों के कारण अर्थ-परिवर्तन एक क्षण में हो जाता है। आलंकारिक भाषा का प्रयोग भावों के स्पष्ट-चित्रण के लिए किया जाता है।

उदाहरणार्थ—पत्थर (कड़े हृदय का), बिना पेंदी का लोटा (जिसका कोई निश्चय न हो), बैल (मूर्ख) का प्रयोग अर्थ को स्पष्ट और प्रभावशाली बनाने के लिए किया जाता है। 'विरह की अग्नि', 'क्रोध-पीना' आदि मुहावरे भी आलंकारिक प्रयोगों के उदाहरण हैं।

१२. **अर्थ की नवीनता तथा प्रकरण-विभिन्नता**—यहाँ शब्दों में अर्थादेश हो जाता है। सिन्धु का अर्थ 'बड़ी नदी' था तथा बाद में सैन्धव की विशिष्टता के कारण उसको 'घोड़ा' और 'नमक' दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त किया जाने लगा। हर प्रसंगानुकूल प्रकरण के आधर पर 'सैन्धवम् आनय' यह रसोइया का वाक्य 'नमक लाने' का संकेत देगा। उस समय नमक वाचक अर्थ

प्रधान होगा। 'कलम' शब्द माली को अन्य अर्थ तथा विद्यार्थी को 'लेखनी' का अर्थ देता है। यही अवस्था गोली की है।

१३. **शब्दों का संक्षिप्त प्रयोग** – अर्थ-परिवर्तन में भी 'प्रयत्न-लाघव' काम करता है। कम शब्दों में अधिक अर्थ की व्यंजना हो जाती है। एक दो शब्द प्रयोग में छुट जाते हैं, यथा रेलगाड़ी से 'रेल', रेलवे स्टेशन से 'स्टेशन' तथा साइकिल रिक्शा से 'रिक्शा' हो गया।

१४. **पुनरावृत्ति** – कभी-कभी शब्दों के दुहरा प्रयोग चलने से अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। अब 'मलयागिरि पर्वत' द्रविड़ भाषा में मलय पर्वत को कहते हैं, संस्कृत में गिरि का अर्थ भी पर्वत है। अतः इसके द्वित्व प्रयोग से मलयागिरि एक पर्वत का नाम समझा गया। इसी प्रकार का प्रयोग विंध्याचल और हिमाचल पर्वत के प्रयोग में भी है।

१५. **किसी शब्द में विशेषता का प्राधान्य** —कम्युनिस्ट लाल झण्डा की विशेषता है 'लाल झण्डा' नाम से पुकारे जाते हैं। लाल-पगड़ी और गांधी टोपी का अर्थ सिपाही तथा कांग्रेसी व्यक्ति के लिए बहुत पहले से चल रहा है। इस प्रकार अनेक कारणों से अर्थ-विकार हो जाता है।

प्रश्न १७—संस्कृत ध्वनि-समूह का वर्गीकृत परिचय देकर यह बताइए कि हिन्दी-ध्वनि-समूह से उसकी तुलना में क्या मुख्य परिवर्तन हुए हैं ?

अथवा

हिन्दी ध्वनियों के विकास पर एक लेख लिखिए।

हिन्दी ध्वनियों का विकास-क्रम वैदिक युग से ही हमें उपलब्ध होता है। अतः हिन्दी ध्वनि-समूह का मूलाधार प्राचीनतम वैदिक ध्वनि-समूह ही है। यह वैदिक ध्वनि-समूह ही पाली, प्राकृत एवं अपभ्रंश के ध्वनि-समूह में प्रवाहित होता हुआ ईषत् परिवर्तन के साथ आज हिन्दी ध्वनि-समूह के रूप में विकसित हो गया है।

वैदिक ध्वनियाँ—प्राचीनतम ध्वनियों का रूप हमें वैदिक ध्वनियों में ही मिलता है। वैदिक ध्वनियों की संख्या ५२ है, इनमें १६ स्वर और ३६ व्यंजन हैं—

स्वर—मूल स्वर ९ हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ॡ।

संयुक्त स्वर ४ हैं—ए (अइ), ओ (अउ), ऐ (आइ), औ (आउ)।

व्यंजन—स्पर्श व्यंजन २५ हैं—कंठ्य – क् ख् ग् घ् ङ्।

तालव्य—च् छ् ज् झ् ञ्।

मूर्धन्य—ट् ठ् ड् ढ् ण्।

दन्त्य—त् थ् द् ध् न्।

ओष्ठ्—प् फ् ब् भ् म्।

अन्तस्थ ६ हैं—य् (इ्), र्, ल् व् ळ ळह्।

घोष ऊष्म ६ हैं – श् ष् स्।

विसर्ग= (ह)

जिह्वामूलीय)=≍(उपध्मानीय)≍

सघोष ऊष्म १ है – ह

एक शुद्ध अनुस्वार—(∸)

आज़ प्राचीन काल की बहुत सी ध्वनियों के उच्चारण में विभिन्नता आ गई है। उनमें अनेक परिवर्तन तथा विकार हो गये हैं। बहुत सी ध्वनियाँ तो लुप्त हो गई हैं। उदाहरण के लिए ऋक्प्रतिशाख्य में 'ऋ' का उच्चारण वर्त्स्य माना गया है कहीं-कहीं मूर्द्धन्य स्वर के रूप में भी उल्लेख किया गया है पश्चात् 'ऋ' का उच्चारण वर्त्स्य को स्पर्श कर होने लगा। चटर्जी के अनुसार 'ॡ' (जैसे क्ॡप् में) का उच्चारण अंग्रेजी के Little (लिटिल) के समान है। वैदिक काल में चवर्गीय ध्वनियाँ आधुनिक ध्वनियों की तरह स्पर्श संघर्षी न होकर केवल स्पर्श ही थीं। 'ळह्' ध्वनि 'ळ' का महाप्राण है। जिह्वामूलीय का उच्चारण 'ख' तथा उपध्मानीय का 'फ़' के समान था। वैसें 'क के पूर्ववर्ती विसर्ग का रूपान्तर जिह्वामूलीय तथा 'प' के पूर्वस्थित विसर्ग का रूपान्तर उपध्मानीय था। बाद में अनेक परिवर्तन आ गये। ध्वनि-शास्त्र के अनुसार वैदिक ध्वनियों का वर्गीकरण निम्नरूप से प्रस्तुत किया जा सकता है—

स्वर—

	विवृत	संयुक्त	संयुक्त स्वर	अर्द्ध सवृत	विशेष स्वर ऋ, ॠ, लृ
अग्र-				ए	
पश्च-	अ आ	इ, ई उ, ऊ	अइ, अउ	ओ	

व्यंजन—

	द्वयोष्ठ्य	वर्त्स्य	मूर्द्धन्य	तालव्य	कण्ठ्य	स्वर यंत्र मुखी
स्पर्श अल्पप्राण	प ब	त द	ट ड	च ज	क ग	
स्पर्श महाप्राण	फ भ	थ ध	ठ ढ	छ झ	ख घ	
अनुनासिक	म	न	ण	ञ	ङ	
पार्श्विक अल्पाण		ल	ळ			
,, महाप्राण			ळ ह			
उत्क्षिप्त		र	ष			
संघर्षी	उपध्मानीय	स		श	जिह्वा मूलीय	: ह
अर्द्ध स्वर	उ (व)			इ (य)		

पाली तथा प्राकृत की ध्वनियां—कुछ वैदिक ध्वनियों का लोप पाली में हो गया है, शेष ध्वनियों का प्रयोग यथावत् होता है ऋ ॠ, लृ ऐ, औ, श् ष्, अघोष हैं, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय इन दस ध्वनियों का प्रयोग पाली में होता है। साथ ही ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' दो नवीन ध्वनियों का आगमन पाली में हो गया है। इसमें केवल सकार का प्रयोग किया जाता है। इसमें विसर्ग का भी प्रयोग नहीं होता है।

पाली तथा प्राकृत भाषाएँ ध्वनियों की दृष्टि से प्रायः समान हैं। मागधी के अतिरिक्त अन्य प्राकृतों में य् और श् का प्रयोग नहीं होता है। मागधी में 'स्' के स्थान पर भी 'श्' का प्रयोग मिलता है। अशोक के पश्चिमोत्तरीय शिलालेखी में 'ष्' भी मिलता है।

हिन्दी ध्वनि-समूह—हिन्दी-ध्वनि-समूह की अधिकांश ध्वनियाँ परम्परागत रूप से प्राचीन भारतीय आर्य-भाषाओं से आई हैं। कुछ ध्वनियों का विकास

आधुनिक युग में हुआ है। अनेक ध्वनियाँ ऐसी हैं जो विदेशी सभ्यता तथा संस्कृति के सम्पर्क से हिन्दी में प्रविष्ट हो गई हैं; जैसे अरबी, फारसी और अंग्रेजी भाषाओं की अनेक ध्वनियों का समावेश हिन्दी ध्वनि-समूह में हो गया है। अतः हिन्दी में तीन प्रकार की ध्वनियाँ हैं—१. प्राचीन ध्वनियाँ, २. विकसित ध्वनियाँ तथा ३. विदेशी ध्वनियाँ—

१. प्राचीन् ध्वनियाँ—

स्वर—अ आ इ ई उ ऊ ए ओ।

व्यंजना—स्पर्श

क् ख् ग् घ् ङ्।

च् छ् ज् झ् ञ्।

ट् ठ् ड् ढ् ण्।

त् थ् द् ध् न्।

प् फ् ब् भ् म्।

य् र् ल् व्।

श् स् ह्।

२. नई विकसित ध्वनियाँ—

अए (ए), अ ओ (औ), ड़, ढ़ न्ह्, न्ह, म्ह।

३. अरबी फारसी के तत्सम शब्दों में प्रयुक्त ध्वनियाँ—

(क) क़ ख़ ग़ ज़ फ़।

(ख) अंग्रेजी तत्सम शब्दों में प्रयुक्त ध्वनियाँ—ऑ।

ऋ, ष् ञ् वर्ण संस्कृत के तत्सम शब्दों में लिपिमात्र में प्रयुक्त होते हैं परन्तु हिन्दी बोलने वाले इसके मूल रूप का उच्चारण नहीं करते। ऋ का उच्चारण हिन्दी में 'रि' की भाँति होता है; यथा ऋण = रिण, कृपा = किरपा। ष का उच्चारण हिन्दी में 'श्' के तुल्य होता है। जैसे—पोषक = पोशक, कृष्ण = किरशण आदि। ञ् का हिन्दी में स्वतन्त्र तथा मूल रूप में उच्चारण नहीं किया जाता है वरन् मध्य में प्रयुक्त होने पर भी इसका उच्चारण 'न्' की भाँति होता है। जैसे—चञ्चल = चन्चल, मञ्जु = मन्जु आदि। मध्यगत 'ण्'

का उच्चारण 'न्' के समान होता है परन्तु सस्वर 'ण' का प्रयोग अपने मूलरूप में ही होता है; जैसे गणना आदि।

हिन्दी ध्वनियों का वर्गीकरण—उपर्युक्त ध्वनियाँ साहित्यिक हिन्दी में तो व्यवहृत होती हैं परन्तु कुछ अन्य विशेष ध्वनियों का व्यवहार हिन्दी-बोलियों में और होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण रूप में साहित्यिक ग्रामीण हिन्दी का ध्वनियों की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गीकरण किया जाता है—

मूल स्वर—अ आ आँ (आँ) ओ (ओँ) ओउ (उ) ऊइ (इँ) ई ए (एँ) (ए) (एँ) (अँ)।

मूलस्वरों के अनुनासिक तथा संयुक्त रूप भी पाये जाते हैं।

(१) मूलस्वरों के अनुनासिक तथा संयुक्त रूप भी पाये जाते हैं।
(२) स्पर्श—क् ख् ग् घ्, ट् ठ् ड् ढ्, त् थ् द् ध्, प् फ् ब् म्।
(३) स्पर्श संघर्षी—च् छ ज् झ्।
(४) अननासिक—ङ् (ञ्) ण् न् न्ह ण्ह म् म्ह।
(५) पार्श्विक—ल् (ल्ह)।
(६) लुण्ठित —र् (र्ह)।
(७) उत्क्षिप्त ड़् ढ़्।
(८) संघर्षी - ह ख़ ग़ श़ स़ ज़ फ़ ब़।
(९) अर्द्ध स्वर य् व्।

(कोष्ठक में दी हुई ध्वनियों का प्रयोग केवल हिन्दी की बोलियों में होता है।)

प्राचीन वैदिक ध्वनि-समूह से हिन्दी ध्वनि-समूह के विकास पर एक परिचय प्रस्तुत करते हैं। इसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

संस्कृत की अ, आ, इ, ई, उ, ऋ ध्वनियाँ हिन्दी शब्दों में 'अ' के रूप में मिलती हैं। जैसे —

संस्कृत प्रहर, आश्चर्य, वारिद, गर्भिणी, मृत।

हिन्दी—पहर, अचरज, बादल, गाभिन, मरा।

इसी प्रकार अन्य स्वरों में भी अनेक परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं।

व्यजनों में संस्कृत क्, क्क्, क्य् क् ङ्क्, र्क्, स्क् ध्वनियाँ हिन्दी में 'क' ध्वनि के रूप में मिलती हैं। उदाहरणार्थ—

संस्कृत—कर्पूर, चिक्कण, माणिक्य, कोश, अंक शर्करा, स्कन्ध।

हिन्दी—कपूर, चिकना, माणिक, कोष, आँक, शंकर, कंधा।

इसी प्रकार अन्य व्यंजनों का भी इतिहास है।

विदेशी ध्वनियाँ—वैदिक ध्वनि-समुह के अतिरिक्त विदेशी ध्वनियाँ भी हिन्दी में आ गई हैं; फारसी की इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ ध्वनियाँ फारसी और हिन्दी में समान हैं। जैसे हि०—इनाम, ईमान, फुरसत, कानून, तेज, जोर।

फा०—इनाम, ईमान, फुर्सत, क़ानून, तेज़ जोर।

अंग्रेजी ध्वनियाँ— अंग्रेजी के शासन के साथ ही अंग्रेजी के घनिष्ठ संपर्क के कारण अंग्रेजों से परिवर्तित हिन्दी ध्वनियों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं। उदाहरणार्थ—अंग्रेजी Earing (इएरिंग) हिन्दी में एरन् हो गया। अं० टाइम (Time) हिन्दी में टैम, टाइम तथा टेम का रूपांतर हो गया। इस प्रकार अनेक ध्वनियों का विकास हिन्दी में हुआ।

प्रश्न १८—ध्वनि-वर्गीकरण के मुख्य सिद्धान्त क्या माने जाते हैं। यह बतलाते हुए ध्वनियों का वर्गीकरण कीजिये।

अथवा

स्वर और व्यंजन में क्या मुख्य अन्तर माना जाता है? आभ्यन्तर प्रयत्न (Degree ope ness) की दृष्टि से व्यंजनों का आधुनिक वर्गीकरण उदाहरणों सहित कीजिये।

भाषा-विज्ञान में ध्वनियों के वर्गीकरण का विचार ध्वनि-विज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है। यह वर्गीकरण सामान्यत: उच्चारण-स्थान और उच्चारण-रीति के दृष्टि से श्वास और नाद में किया जाता है। स्वरयंत्र के दृष्टिकोण से कंठ-पिटक में दो होठों के सदृश स्वरतन्त्रियाँ स्थित रहती हैं, उनके मध्य में जो अवकाश होता है उसे काकल या ग्लाटिक कहते है। स्वरतन्त्रियां रबर की भाँति बड़ी लचीली होती हैं। इन तन्त्रियों के माध्यम से ही 'नाद' की उत्पत्ति होती है। जब स्वरतन्त्रियाँ मिलती रहती हैं और हवा धक्का देकर उनके बीच में निकलती हैं, तब जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसे नाद कहते हैं। स्वरतन्त्रियों के पृथक् या दूर रहने पर हवा के बीच से निकलने से होने वाली ध्वनि को 'श्वस' कहते हैं। काकल की इन दोनों से भिन्न-भिन्न दशाओं में फुसफुसाहट वाली ध्वनि भी उत्पन्न होती है, उसे जपित, जाप तथा उपांशु ध्वनि कहते हैं।

इन ध्वनियों के उच्चारण स्थान तथा रीति की दृष्टि से दो भेद किये जाते हैं—१. स्वर और २. व्यंजन। जब स्वरयंत्र की तन्त्रियाँ वीणा के तारों के सदृश आपस में झंकृत होकर भीतर से आती हुई श्वास को विकृत कर देती हैं तब घोष उत्पन्न होता है और स्वरों में इस घोष की स्थिति रहती है। डॉ० भोलानाथ तिवारी ने स्वर की परिभाषा इस प्रकार दी है, "स्वर वह घोष (कभी-कभी अघोष भी) ध्वनि है जिसके उच्चारण में हवा अबाध गति से मुख-विवर से निकल जाती है" और ऐसा कोई संकोच नहीं होता कि किंचित् मात्र भी संघर्ष या स्पर्श हो। स्वर के अतिरिक्त शेष सभी ध्वनियाँ व्यंजन होती हैं। व्यंजन वह अघोष या सघोष ध्वनि है जिसके उच्चारण में श्वास-नलिका से आती हुई श्वास को मुख-विवर से निकलने में पूर्णरूप से अथवा कुछ मात्रा में अवरोध उपस्थित होता है। अतः स्वर और व्यंजन में यह अन्तर हो जाता है कि स्वरों के उच्चारण में स्पर्श या घर्षण नहीं होता, पर व्यंजनों के उच्चारण में थोड़ा-बहुत स्पर्श या घर्षण अवश्य होता है। स्वरों का उच्चारण अकेले भी सरलता से किया जा सकता है किन्तु व्यंजनों का अकेले उच्चारण करने में विशेष सावधानी अपेक्षित है। व्यंजन की अपेक्षा स्वर अधिक देर तक सुनाई पड़ता है। 'क' की अपेक्षा 'अ' की ध्वनि अधिक दूर तक सुनाई पड़ती है। इसी कारण व्यंजनों का उच्चारण अधिकांश रूप में स्वरों के सहयोग से ही होता है। स्वर तो सभी नाद माने जाते हैं पर व्यंजन कुछ नाद और कुछ श्वास होते हैं। सामान्य नियम के अनुसार एक ही उच्चारण स्थान से बोले जाने वाले 'नाद' का प्रति वर्ण 'श्वास' अवश्य होता है।

जैसे—	कंठ,	तालु,	मूर्द्धा	ओष्ठ,	दन्त,	दन्तमूली
नाद—	ग	ज	ड	ब	द	ज्
श्वास—	क	च	ट	प	त	स्

स्वरों का वर्गीकरण—स्वर वह सघोष ध्वनि है जो मुखविवर से अबाध गति से निकल जाती है। स्वरों के वर्गीकरण के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं—

१. मुखविवर में जीभ उच्चारण करने में प्रमुख सहायक अंग है। स्वरों में अन्तर, जिह्वा के विभिन्न भागों के कार्य या प्रयत्न पर निर्भर है। स्वर वर्णों में विशेष गुण जिह्वा और होठों की अवस्थाओं से उत्पन्न होते हैं।

स्वरों के स्पष्ट उच्चारण के कार्य में जीभ की प्रधान तीन अवस्थाएं होती हैं—अग्र, मध्य और पश्च। इस अवस्था-भेद से स्वरों के भी यही तीन भेद हो जाते है।

अगर आ को जीभ की सबसे नीची अवस्था मान लिया तो जीभ 'ई' के उच्चारण में आगे की ओर ऊँचे उठती है और 'ऊ' के उच्चारण में पीछे की ओर ऊँचे उठती है। स्थूल रूप से जीभ की इस अवस्था-भेद से हिन्दी स्वरों में इ, ई, ए अग्रस्वर हैं, उ, ऊ, ओ, आ पश्च स्वर तथा अ मध्य स्वर है।

(२) अगर जीभ का विशिष्ट भाग घोष के समय बहुत ऊँचा उठा तो मुख-विवर अत्यन्त सँकरा अर्थात् संवृत होगा और यह उच्चारण में जिह्वा-भाग नीचे की ओर रहा तो मुख-विवर बहुत खुला या 'विवृत' होगा। इन दोनों के मध्य में प्रमुख रूप से दो स्थितियां मानी जाती हैं—ईषत् संवृत और ईषत् विवृत। इस प्रकार स्वर की चार श्रेणियां हुईं। हिन्दी में 'ऊ' संवृत, ओ ईषत् (अर्ध) संवृत, 'आ' विवृत तथा 'आ' ईषत् (अर्द्ध) विवृत स्वर हैं।

(३) ओठों की स्थिति पर स्वरों का स्वरूप निर्भर करता है। ओठों की अवस्थाएँ प्रमुँखतः दो प्रकार की है—(१) वृत्तमुखी या वृत्ताकार जैसे उ और ऊ आदि स्वरों के उच्चारण में ओठों की आकृति गोल सी हो जाती है। (२) अवृत्तमुखी या अवृत्ताकार जैसे आ ए आदि में। कुछ स्वरों में ओष्ठ विस्तृत (ई) पूर्ण विस्तृत (एं) उदासीन (अ) स्वल्प वृत्ताकार (ऑ) पूर्ण वृत्ताकार (ऊ) आदि भी होते है।

(४) स्वरों के स्वरूप मात्रा के अनुसार चार वर्ग प्रधान रूप से हो सकते हैं—ह्रस्वार्द्ध (उदासीन स्वर अँ), ह्रस्व (अ), दीर्घ (आ) प्लुत (ओ३म्) ये चार हैं।

(५) कोमल तालु और कौवे (अलि जिह्व) की स्थिति का भी स्वरों के स्वरूप पर प्रभाव पड़ता है। साधारण स्वरों के उच्चारण में कण्ठ अथवा कोमल तालु उठकर गलविल की भित्ति से जा लगता है। इसीलिए नासिका-विवर बंद होने से ध्वनि केवल मुख से निकलती है। जब कोमल तालु थोड़ा नीचे आ जाता है तब हवा मुख और नाक दोनों से निकलती है। ऐसी स्थिति में उच्चरित स्वर नासिक्य या अनुनासिक स्वर (अँ, आँ, इँ) कहे जाते हैं। इसके दो भेद है—(क) पूर्ण अनुनासिक, जैसे हाँ में आँ, (ख) अपूर्ण अनुनासिक, जैसे

राम् का में आ। सभी स्वरों के ये दोनों रूप संभव है। साधारण स्वर अनु-नासिक रहित होते हैं।

(६) स्वरतंत्रियों की स्थिति में घर्षण के कारण कम्पन होने से जो स्वर निकलते है उन्हें घोष कहते हैं। घर्षण-हीन स्वरध्वनि को अघोष कहते हैं। प्राय: स्वर घोष होते है। अवधी में अ, इ, ए के अघोष रूप भी मिलते हैं इ उ आदि।

(७) उच्चारण करते समय मुखविवर की मांसपेशियां तथा अंग कभी-कभी कठोर होते हैं और कभी शिथिल अत: ये भी इस दृष्टि से शिथिल (Lax) और दृढ़ (Tense) कहे गये हैं। अ, इ, उ शिथिल हैं तथा ई, ऊ दृढ़। ए आदि ध्वनियाँ दोनों की मध्यवर्ती हैं। कण्ठ-पिटक और चिबुक के बीच उंगली रखने से शिथिलता और दृढ़ता का अनुभव हो जाता है।

(८) कुछ स्वर मूल (Monophthong) होते हैं तथा उनके उच्चारण में जीभ एक स्थान पर रहती; जैसे अ, ई आदि। कुछ संयुक्त स्वरों Diph-thongs) में एक स्वर से दूसरे स्वर तक जाती है। यथा अवधी में अ ए (ऐ) अ ओ (औ) आदि।

व्यंजनों का वर्गीकरण—व्यंजनों का वर्गीकरण उच्चारणोपयोगी अवयवों के अनुसार और उच्चारण भी रीति के अनुसार किया जाता है। इन्हीं को क्रमश: स्थान और प्रयत्न कहा जाता है। स्थान के आधार पर व्यंजनों के निम्नलिखित भेद हैं—

१. **काकल्य या उरस्य** (Glottal या Laryngeal)—यह काकल स्थान से उत्पन्न ध्वनि है। यथा —हिन्दी का 'ह'।

२. **जिह्वामूलीय** (Uvular)—यह जिह्वामूलक या जिह्वापश्च से उच्च-रित होती है। जैसे क़, ख़, ग़ आदि। फारसी के प्रभाव से ये हिन्दी में भी बोली जाती हैं।

३. **कंठ्य** (Guttural)—कंठ तालु का अन्तिम कोमल भाग है और उससे उत्पन्न ध्वनि को कंठ्य कहा जाता है। जब जिह्वा मध्य कोमल तालु (Softpalate) का स्पर्श करता है। जैसे क, ख, ग, घ, ङ।

४. मूर्द्धन्य (Cerebral) – कठोर तालु के पिछले भाग और जिह्वाग्र से उच्चरित वर्ण मूर्द्धन्य कहा जाता है। जैसे—टवर्ग, ष आदि।

५. तालव्य (Palatal)—कठोर तालु और जीभ की नोक से जो ध्वनि उच्चरित होती है उसे तालव्य करते हैं, चवर्ग, य और श ऐसी ध्वनियां हैं।

६. वर्त्स्य (Alveolar)—मसूढ़े या वर्त्स्य और जिह्वाग्र की सहायता से उत्पन्न ध्वनियां वर्त्स्य कहलाती हैं। न, ल, र, स, ज, तथा अंग्रेजी के ट और ड इसी वर्ग में आते हैं।

७. दन्त्य (Dental)—ये ध्वनियां उर्द्ध दन्तपंक्ति और जिह्वानोक की सहायता से उच्चरित होती हैं। तवर्ग ल, स दन्त्य हैं।

८. दन्त्योष्ठ्य (Labio-dental)—इनका उच्चारण ऊपर के दांत और नीचे के ओठ की सहायता से होता है, यथा व, फ।

९. ओष्ठ्य (Bilabial)—इन ध्वनियों का उच्चारण दोनों ओठों से होता है। जैसे पवर्ग।

प्रयत्न के आधार पर व्यंजनों का वर्गीकरण निम्न रूप से किया जा सकता है।

१. स्पर्श (Mute)—जिसमें मुख के अवयवों का परस्पर पूर्ण स्पर्श होता है। पहिले हवा रुक जाती है और फिर वह एक झोंके से धक्का देकर बाहर निःसृत होती है। इससे स्फोट की ध्वनि होती है जैसे क, प आदि।

२. घर्ष या संघर्षी (Fricative)—ध्वनि के उच्चारण करते समय वायु मार्ग एक स्थान पर इतना संकीर्ण हो जाता है कि हवा के बाहर निकलने में सर्प की सी सीत्कार अथवा ऊष्म (Sibilant) ध्वनि होती हैं। इसमें जिह्वा, दन्तमूल अथा वर्त्स्य का मार्ग खुला रहता है। श, ष, स, ज, ह आदि घर्ष वर्ण (Spirant) होते हैं।

३. स्पर्श-घर्ष (Affricate)—हवा के थोड़े संघर्ष के साथ उच्चारण से जो स्पर्श होता है उसे स्पर्ष-घर्ष वर्ण कहते हैं, च, छ, ज, झ।

४. नासिक्य या अनुनासिक (Nasal)—इसमें वर्ण के उच्चारण में कोमल तालु इतना झुक जाता है कि हवा नासिका-मार्ग में निकल जाती है; जैसे न, म आदि।

५. पार्श्विक (Lateral)—इन ध्वनियों में हवा मुख के मध्य में रुक जाने से जीभ के अगल-बगल या पार्श्व से बाहर निकलती है, यथा 'ल'।

६. लुण्ठित (Rolled)—जीभ की नोक को कुछ बेलन की तरह लपेट या लुण्ठन करके वर्त्स्य या तालु का स्पर्श करके यह ध्वनि उत्पन्न की जाती है। इसे लोड़ित भी कहते हैं, जसे 'र'।

७. उत्क्षिप्त (Flapped)—जीभ को लपेट कर तालु के किसी भाग पर झटके से चोट करने पर तथा उसके हटने पर यह ध्वनि उत्पन्न होती है, जैसे ड़, ढ़।

८. अर्द्ध स्वर (Semi-vowel)—इनके उच्चारण में वायु का प्रवाह बहुत धीमा होता है। ये एक प्रकार से स्वर और व्यंजन के मध्य की ध्वनियां हैं। जैसे य (इ), व (उ)।

ध्वनि-वर्गीकरण के सिद्धान्त

स्वर-तन्त्रीय प्रयत्न—इसके अनुसार ध्वनियों के दो भेद हो सकते हैं, घोष और अघोष। हिन्दी ध्वनियों में सभी स्वर, क-वर्ग आदि पाँचों वर्गों की अन्तिम तीन ध्वनियाँ (ग घ, ङ, ज झ ञ आदि) य र ल व ह ज़ ग़ आदि घोष हैं। शेष सभी अघोष हैं।

प्राणत्व के आधार पर—श्वास बल के आधिक्य या कम होने पर उच्चरित ध्वनियाँ दो प्रकार की हैं—अल्पप्राण तथा महाप्राण। जिनमें 'ह' की ध्वनि मिलती है ऐसे व्यंजन सहाप्राण होते है; जैसे—ख, घ, छ, झ ठ, ढ, थ, ध, न्ह, फ, भ, म्ह, रह, ल्ह, ढ आदि। शेष अल्पप्राण हैं।

आभ्यन्तर प्रयत्न—(Degree of openness)—इसके अनुसार ध्वनियों के स्वर और व्यंजन दो भेद हो जाते हैं। इसके पश्चात् स्वर के अग्र, पश्च, मध्य तथा संवृत, अर्द्ध-संवृत, अर्द्ध-विवृत और विवृत भेद हो जाते हैं। दूसरी ओर व्यंजन के स्पर्श, संघर्ष, अनुनासिक, पार्श्विक, लुण्ठित उत्क्षिप्त और स्पर्श संघर्षी भेद होते हैं इनका वर्णन ऊपर कर दिया गया है।

उच्चारण-स्थान—इस दृष्टि से स्वरयंत्रमुखी, जिह्वामूलीय, कंठ्य, मूर्धन्य, दन्त्योष्ठ्य और द्वयोष्ठ्य आदि भेद हो जाते है।

अनुनासिकता—इस प्रकार वर्णों के तीन भेद हैं—(१) मौखिक—क् ट्

आदि। (२) अनुनासिक (मौखिक नासिक्य) जैसे कँ, टँ। (३) नासिक्य—जैसे— म्, न्, ण्, ञ्, ङ् आदि।

प्रश्न १९—ध्वनि-परिवर्तन के रूप (दशाएँ) और कारणों की सोदाहरण विवेचना कीजिए।

अथवा

'ध्वनि प्रयत्न-लाघव की दिशा में परिवर्तित होती है।' इस कथन को स्पष्ट करो।

परिवर्तनशीलता ही प्रकृति का नियम है। मानव-जीवन का शाश्वतरूप इसी नियम से प्रेरित होकर चिर-नवीनता धारण करता है। इसी प्रकार किसी जीवित भाषा में नवीनता तथा रोचकता का समावेश इस परिवर्तन के फल-स्वरूप होता है। इस परिवर्तनशीलता को ही 'विकास' या 'विकार' कहा गया है। भाषागत यह विकास के कारण भाषा के प्रमुख अंग ध्वनि, अर्थ, पद तथा वाक्य में भी देखा जा सकता है। ध्वनियों का समाहार ही भाषा का पद है। अधिकतर ध्वनि विकार से ही भाषा में विकास की गति तीव्र हो जाती है। ध्वनि-परिवर्तन के अनेक रूप या दिशाएँ हैं। ध्वनि-विकार के प्रमुखतः दो भेद हैं – स्वयंभू (unconditional) और परोद्भूत (conditional)। स्वयंभू-परिवर्तन अकारण तथा बिना किसी परिस्थिति या अवस्था के स्वयमेव भाषा के प्रवाह में नदी की गति के समान घटित हो जाते हैं। इस स्वयभू परिवर्तन के कारण अज्ञात और अपरिचित होते हैं। अतः इनकी अकारण संज्ञा दी गई है। परोद्भूत परिवर्तनों में कारण परिस्थितियों तथा दशाओं का योग रहता है। स्वयंभू विकार न्यूनतम होते हैं। अतः ये ध्वनि परिवर्तन की अनेक दिशाएँ हैं।

परिवर्तन का स्वरूप या उनकी दिशाएँ

१. लोप (Elision)—कभी-कभी ध्वनियों में लोप बोलने की सुविधा, शीघ्रता या स्वराघात के प्रभाव से हो जाता है। यह लोप तीन प्रकार से होता है—१. स्वर-लोप, २. व्यंजन-लोप तथा तथा ३. अक्षर-लोप। इसके भी अवा-न्तर भेद हैं—आदिलोप, मध्यलोप और अन्तलोप।

(क) आदि स्वर लोप (Aphesis)—इसमें शब्द के आदि स्वर का लोप हो जाता है। उदाहरणार्थ—आभ्यन्तर=भीतर; अनाज=नाज; अहाता=

होता; अपि=भी; अफसाना=फसाना।

मध्य स्वर लोप (Syncope)—इसका प्रयोग अधिकतर उच्चारण में होता है, यथा तरबूज=तर्बूज, इमली=इम्ली, लगभग=लग्भग, बलदेव=बल्देव, do not=don't।

(ग) **अन्त्य स्वर लोप**—धीरे-धीरे हिन्दी के शब्द के अन्त्य स्वर का लोप हो जाता है और वे व्यंजनान्त हो जा रहे हैं; यथा—राम=राम्, शिला=सिल, ग्राम=ग्राम्, अन्य रूप—निद्रा (सं०)=नींद। जाति=जात, पार्श्व=पास आदि।

(घ) **आदि व्यंजन लोप**—ध्वनियों के ये रूप अधिकांशतः हिन्दी तथा प्राकृतों में पाये जाते हैं जिनमें संस्कृत शब्द के आदि व्यंजन का लोप हो गया है। उदाहरणार्थ—स्कंध=कंधा, स्थान=थान, स्थाली=थाली, श्मशान=मशान, knife=nife।

(ङ) **मध्य व्यंजन लोप**—प्राकृत तथा हिन्दी ग्रामीण बोलियों में यह लोप अधिकांशतः दृष्टिगत होता है; यथा बचन=बअण, प्रिय=पिअ, गर्भिणी=गाभिन, कार्तिक=कातिक, उपवास=उपास, डाकिन=डाइन, घरद्वार=घरबार, कोकिल=कोइल।

(च) **अन्त्य व्यंजन लोप**—इसके उदाहरण कम मिलते हैं। जैसे—आम्र=आम, उष्ट्र=ऊँट, सत्य=सत्।

(छ) **आदि अक्षर लोप**—यहाँ अक्षर का अर्थ स्वर और व्यंजन को योग है। जब दो समान अक्षरों के एक साथ आने पर प्रायः एक का लोप हो जाता है। जैसे त्रिसूल का शूल, university=varsity आदि।

(ज) **मध्य अक्षर लोप**—भाण्डागार=भंडार, गेहूँ चना=गोचना, दस्तखत=दस्खत।

(झ) **अन्त्य अक्षर लोप** (Apocope)—मौक्तिक=मोती, सपादिक=सवा, माता=माँ, निम्बुक=नीबू तथा भातृजाया=भावज

(ञ) **समाक्षर लोप** (Haplology)—अमेरिकन भाषा-विज्ञानी ब्लूमफील्ड के मतानुसार इसका अर्थ है 'एक को जानना'। इसका अर्थ है कि किसी शब्द में एक ही ध्वनि, अक्षर या अक्षर-समूह के दो बार आने पर एक का लोप

हो जाता है और केवल एक अक्षर-समूह का उच्चारण किया जाता है। उदाहरणार्थ—खरीददार=खरीदार, नाककटा=नकटा, शष्पपिंजर=शष्पिंजर, जहीहि=जाहिं, शेववृध:=शेवृध; अंग्रेजी में भी Cinema-matinee= Cinematinee.

२. आगम—आगम लोप का विलोम है। इसमें लोप न होकर उच्चारण की सुविधा के लिए नई ध्वनि का आगमन हो जाता है। स्वर, व्यंजन और अक्षर में आगम भी लोप के सदृश आदि, मध्य और अन्त में होता है। यह प्राय: सभी भाषाओं में किसी न किसी प्रकार से होता है।

आदि स्वरागम (Prothesis)—शब्द के आरम्भ में प्राय: ह्रस्व स्वर आ जाता है। फारसी तथा फ्रेंच के ऊष्म ध्वनियों के आदि में रहने पर यह प्राय: होता है। हिन्दी और अंग्रेजी में भी यह प्रवृत्ति दिखाई देती है। उदाहरणार्थ—स्कूल=इस्कूल, स्तवल=अस्तवल, स्नान=अस्नान, वारना=उबारना।

इसे पुरोहिति भी कहते हैं।

मध्य स्वरागम (Anaptyxis)—उच्चारण की असुविधा को दूर करने के लिए अज्ञानवश स्वरों का आगमन शब्द बीच में कर लिया जाता है। पंजाबी लोगों के उच्चारण में यह अधिक देखा जा सकता है; जैसे सकूल, सटेशन, सनान आदि। संस्कृत में भी पृथ्वी=पृथिवी, स्वर्ण=सुवर्ण आदि शब्द मिलते हैं। ग्रामीण बोलियों में मध्य स्वरागम का वाहुल्य है। उदारणार्थ—गर्म= गरम, मर्म=मरम, धर्म=धरम, पूर्व=पूरब, प्रजा=परजा, जन्म=जनम, भक्त=भगत, युक्ति=जुगुति, हुक्म,=हुकुम, भ्रम=भरम आदि। इसका दूसरा नाम 'स्वर-भक्ति' भी है।

अन्त स्वरागम—इसका प्रयोग कम ही होता है। जैसे दवा=दवाई, स्वप्न=सपना, सोक=सोचु। इनमें स्वरागम अन्त में हुआ है।

आदि व्यंजनागम—इन ध्वनियों की मात्रा अल्प है। नये व्यंजनों के आदि में आने से कोई सुविधा या प्रयत्न-लाघव नहीं होता है, यही इनकी न्यूनता का कारण है। जैसे—उल्लास=हुलास, अस्थि=हड्डी, ओष्ठ=होंठ।

मध्य व्यंजनागम—इससे उदाहरण अनेक हैं। यथा—बानर=बन्दर, पण=प्रण, समुद्र=समुन्दर; शाप=साप, लाश=लहाश, सुख=सुक्ख आदि।

अन्त व्यंजनागम—भौं=भौंह, तिलस्म (अरबी)=talisman (अंग्रेजी)

रंग=रंगत्; परवा=परवाह । कल=कल्ह ।

आदि-अक्षरागम—गुंजा=घुंघुची (भोजपुरी) ।

मध्य अक्षरागम—खल=खरल, आलस=आलकस ।

अन्त-अक्षरागम—आँख=आँखड़ी, जीभ=जीभडिया, बधू=बधूटी, आँक=आँकडा आदि ।

३. **वर्ण-विपर्यय** (Metathesis)—इसे 'वर्ण-व्यत्यय' भी कहते हैं । कभी-कभी स्वर, व्यंजना तथा अक्षर किसी शब्द में परस्पर ध्वनि-विनिमय या स्थान परिवर्तन कर लेते हैं उसे वर्णविपर्यय कहते हैं । जैसे 'अमरूद' से 'अरमूद' । जब पास-पास की ध्वनियों में विपर्यय होता है तो पार्श्ववर्ती कहलाता है । अन्यथा दूरवर्ती ।

पार्श्ववर्ती स्वर-विपर्यय—इण्डो भाषा में lie=lei (बनाना) ।

दूरवर्ती स्वर-विपर्यय कछु=कुछ; पागल=पगला; बिन्दु=बूँद आदि

पार्श्ववर्ती व्यंजन-विपर्यय=ब्राह्मण=बाम्हन; सिग्नल=सिगल; चिह्न=चिन्ह ।

दूरवर्ती व्यंजन-विपर्यय—महाराष्ट्र=मरहठा; वाराणसी=बनारस; तमगा=तगमा ।

पार्श्ववर्ती अक्षर-विपर्यय—मतलब=मतबल, वफर (अवेस्ता)=बरफ (फारसी) ।

दूरवर्ती अक्षर-विपर्यय—लखनऊ=नखलऊ, नारिकेल,=नारिकेर, चाकू=काचू ।

शब्दांश-विपर्यय—दो शब्दों के आरम्भ के अंशों में विपर्यय हो जाता है । जैसे चूल्हा-चौका=चौल्हा-चूका ।

४. **समीकरण** (Assimilation)—इसे सारूप्य, सावर्ण्य भी कहते हैं । इसमें स्वर था व्यंजन एक दूसरे को प्रभावित कर सजातीय वर्ण बना लेते हैं । इसके दो भेद होते हैं—पुरोगामी और पश्चगामी । प्रत्येक पार्श्वगामी दूरगामी से दो प्रकार का होता है ।

व्यंजनों में

दूरवर्ती पुरोगामी समीकरण में दो दूरगामी ध्वनियाँ परस्पर प्रभाव डालती

हैं; यथा—'भ्रष्ट' का ग्रामीण बोलियों में 'भरभट' तथा 'खटपट' का 'खटखट' हो गया है। पार्श्ववर्ती पुरोगामी समीकरण में ध्वनियाँ पास-पास होती हुई प्रभाव डालती हैं। प्राकृत में इस प्रकार की ध्वनियों की अधिकता है। जैसे—चक्र=चक्क, लग्न=लग्ग; यस्य=जस्स तथा 'पत्र से पत्ता'। इनमें पहली ध्वनि दूसरी ध्वनियों को प्रभावित करती है। दूरवर्ती पश्चगामी समीकरण में परध्वनि पूर्व-ध्वनि को प्रभावित कर सजातीय या सवर्गीय बना देती है। तथा—खरकट=करकट, नील=लील। पार्श्ववर्ती पश्चगामी समीकरण में पास-पास की ध्वनियों में परिवर्तन होता है—जैसे धर्म=धम्म; दुग्ध-दुद्ध (दुद्ध), सर्प=सप्प।

व्यंजन के अतिरिक्त स्वरों में भी इस प्रकार का परिवर्तन होता है। पार्श्व-पुरोगामी उदाहरण सूरज=सूरुज, खुरपी=खुरुपी तथा दूर-पुरोगामी के आइए=आइइ आदि हैं। उसी प्रकार दूर पश्चगामी में—अँगुलि=उँगली इक्षु=उक्खु तथा पार्श्व-पश्चगामी समीकरण में—भोजपुरी में शीघ्रता में 'कब अहलह' का 'कब इइलह' हो जाता है।

पारस्परिक व्यंजन समीकरण (Mutual Assimilation)—में दो पार्श्ववर्ती व्यंजनों के पारस्परिक प्रभाव डालने के कारण दोनों ही परिवर्तित हो जाते हैं और एक तीसरा व्यंजन वहाँ आ जाता है। उदाहरणार्थ—सत्य=सच, विद्युत=बिजली, बुद्धि=बूझ, वाद्य=बाजा, कर्तरिका=कटारी आदि

५. विषमीकरण (Dissimilation)—यह समीकरण का विपरीत रूप है। इसके व्यंजन तथा स्वर दो भेद हैं। व्यंजन के पुरोगामी विषमीकरण में प्रथम व्यंजन ज्यों का त्यों रहता है और दूसरा परिवर्तित हो जाता है; यथा—काक=काग; लाङ्गूली=लंगूर; कंकण=कंगन, Marmor (लैटिन)= Marble इसी के पश्चगामी रूप में प्रथम व्यंजन में परिवर्तन होता है। दरिद्र=दलिद्दर। स्वरों के पुरोगामी विषमीकरण में—तिलक=टिकली; पुरुष=पुरिस मिलता है तथा पश्चगामी विषमीकरण में—नुपुर=नेउर मुकुट=मउर, मुकुल=बंउर।

६. संधी और एकीभाव—संधिज विकारों का ध्वनि-विकास में बड़ा महत्व है। कुछ व्यंजन (प, व, य, म, आदि उच्चारण में स्वर के समीप होने के कारण से स्वर में बदल जाते हैं और अपने पूर्ववर्ती व्यंजन में मिल जाते हैं। उदाहरणर्थ—चामर—चँवर=चँउर=चौर; नयन=नइन=नैन; शत=

सश्र=सव=सउ=सौ। सपत्नी=सवत=सउत=सौत आदि।

७. मात्रा भेद--में स्वर कभी-कभी दीर्घ से ह्रस्व और ह्रस्व से दीर्घ हो जाते हैं। इनका एकमात्र कारण स्वराघात है।

ह्रस्व से दीर्घ—गुरु=गुरू; पुत्र=पूत; लज्जा=लाज; संस्कृत मृत्यु से मिच्चु=मीचू बना, इसी प्रकार अंकुश=आँकुस, आद्य=आज हैं। यह प्रवृत्ति मराठी में अधिक पाई जाती है यथा—सम्प्रदाय=साम्प्रदाय। मदन=मादन।

दीर्घ से ह्रस्व—नारंगी—नरंगी; मीठा=मिठास; शून्य=सुन्न; आश्चर्य =अचरज; बादाम=बदाम; आभीर=अहीर; भीख=भिखारी आदि।

८. घोषीकरण और अघोषीकरण—कभी-कभी ध्वनि-परिवर्तन में अघोष ध्वनियाँ घोष और घोष ध्वनियाँ अघोष हो जाती हैं। इस भी मुख-सुख की प्रवृत्ति स्पष्ट है।

घोषीकरण—(Vocalization)—शती=सदी; शाक=साग; प्रकट= परगट; विपति=पित्रति; कंकण=कंगण; काक=काग आदि।

अघोषीकरण (Devocalization)—यह प्रवृत्ति पैशाची प्राकृत का एक विशेष लक्षण है। वारिद=वारित; मदद=मदत। इसके उदाहरण कम मात्रा में उपलब्ध है।

९. अनुनासिकता (Nazalization)—उच्चारण में आसान होने के कारण अनजाने कुछ ध्वनियों में अनुनासिकता आ जाती है। इस अकारण या स्वयंभू कारण से ध्वनियां में स्वाभाविक विकास हो जाता है। यथा—सत्य= साँच; कूप=कुआँ; सर्प=साँप; उष्ट्र=ऊंट; श्वास=साँस; अश्रु=आँसू; भ्रू=भौं; यूक=जूँ। आज भी कुछ ध्वनियों के उच्चारण में इसका प्रयोग होता है जैसे हनुमान=हँनुमान।

१०. ऊष्मीकरण (Assibilation)—अनेक बार कुछ ध्वनियाँ परिवर्तित होकर ऊष्म बन जातीं हैं। भारोपीय परिवार की केन्तुम वर्ग की ध्वनियाँ सतम् वर्ग में इसी दशा को प्राप्त हो जाती हैं।

११. महाप्राणीकरण और अल्पप्राणीकरण—अनेक स्थान पर महाप्राण ध्वनियाँ अल्पप्राण हो जाती हैं गृह=घर, वेष=भेष, शुष्क=सूखा, हस्त= हाथ, पृष्ठ=पीठ। कश्मीरी भाषा में अरबी, फारसी तथा संस्कृत क, त, द, प

प्राय: ख, थ, ध, फ हो गये हैं। पर महाप्राणीकरण (Aspiration) के अपवाद भी प्राप्त होते हैं। कभी-कभी शब्दों में महाप्राण का अल्पप्राण हो जाना ही अल्पप्राणीकरण (Deaspiration) कहलाता है। ग्रासमेन के नियम में यह परिवर्तन बहुधा देखा जाताहै; जैसे— धधामि = दधामि, भोधामि = बोधामि, सिन्धु = हिन्दु आदि।

१२. भ्रामक उत्पत्ति—अधिकांशत: भ्रामक उत्पत्ति का वहाँ अधिक प्रयोग होता है जहाँ ग्रामीण व्यक्ति विदेशी ध्वनियों का उच्चारण मनमाना करने लगते हैं। इस स्वरूप में भी प्रयत्न-लाघव शक्ति कार्य करती है। भ्रमवश इन शब्दों का रूप भी अधिकांश: बदल जाता है। उदाहरणार्थ—लाइब्रेरी का लाइबरेली आदि है।

१३. अपश्रुति (Ablant)—इसमें मात्रिक तथा गुणीय परिवर्तन से स्वरों या अर्धस्वरों में विकार आ जाता है। मात्रिक परिवर्तन का कारण बलात्मक स्वराघात था तथा गुणीय परिवर्तन का संगीतात्मक स्वराघात था। अंग्रेजी, रूसी, हिन्दी आदि में गुणीय अपश्रुति है। इसमें स्वरों की दीर्घता-ह्रस्वता दिखाई पड़ती है पर अर्थ में परिवर्तन कम होता है।

हिन्दी—मिल, मिलना, मेल।

संस्कृत – सद् (सीट) सादयति सेदु: (वे बैठे)

अंग्रेजी —Mouse, Mice आदि।

ध्वनि-परिवर्तन के कारण—ध्वनियों में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन का आभास हमें कुछ समय के बाद मिलता है। यह परिवर्तन प्रमुख रूप से प्रयत्न-लाघव या मुख-सुख की प्रवृत्ति तथा अनुकरण की अपूर्णता के कारण होता है। स्थूल रूप से ध्वनियो में हुए विकास को दो दृष्टिकोण से देख सकते हैं --एक बाह्य तथा दूसरा आन्तरिक। बाह्य कारणों के अन्तर्गत परिस्थितियाँ तथा भौगोलिक वातावरण आदि आते हैं तो आन्तरिक कारणों में प्रयोगाधिक्य स्वराघात आदि लिए जाते हैं। इन कारणों की सीमा निर्धारित करना एक दुस्तर कार्य है। इन दोनों प्रकार की निश्चितता के आधार पर भविष्य में ध्वनि-विकास की समीक्षा नहीं की जा सकती है। सुविधा या प्रयत्न-लाघव किस दिशा में कार्य करेगा यह कहना कठिन है। फिर भी उपलब्ध

सामग्री के अध्ययन से निम्न कारणों पर प्रकाश पड़ा है और आगे पड़ भी सकता है।

१. **शारीरिक या वाक्यन्त्र की विभिन्नता**—शारीरिक या वाक्यन्त्र की विभिन्नता से ध्वनियों में भेद पैदा हो जाता है। शारीरिक अवयव तथा संस्थान की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर है साथ ही मस्तिष्क की गुरुता या लघुता के आधार पर मानव की चिन्तन तथा विवेक शक्ति पृथक्-पृथक् होती है। एक विद्वान के विचार करने की इकाई अशिक्षित या मूर्ख व्यक्ति से भिन्न होती है। इतना ही नहीं व्यक्ति के वाक्यन्त्र की रचना तथा सामर्थ्य में भी विभिन्नता है। वाक्यन्त्र सदैव देश, काल और स्थान से नियन्त्रित रहता है। यही कारण कि संस्कृत के 'स्' उच्चारण बंगाली में 'श्' और ईरानी में 'ह्' हो गया। यह रहा बोलने का क्रम। श्रवणेन्द्रिय में एक उच्चरित ध्वनि के श्रवणकार्य में भी अन्तर आ जाता है। जैसे हम एक विशिष्ट ध्वनि को सुनते हैं वैसा उच्चारण नहीं कर पाते। अतः ये अन्तर कालान्तर या सदियों के पश्चात् अध्ययन करने पर प्रत्यक्ष अनुभव किये जा सकते हैं। सहज और स्वाभाविक रूप से ध्वनियों का उच्चारण ध्वनियों में विकार पैदा कर देता है। फलतः भाषा या पद में आगम, लोप आदि हो जाते हैं।

२. **अनुकरण अपूर्णता तथा अज्ञानता**—वाक्यन्त्र और श्रवणेन्द्रिय के बीच की कड़ी अनुकरण की प्रवृत्ति है। किसी व्यक्ति के उच्चारण का अन्य व्यक्ति पूर्ण अनुकरण नहीं कर पाता, या तो आगे बढ़ जाता है या पीछे रह जाता है। इसी कारण ध्वनियों में अन्तर आ जाता है। अनुकरण की अपूर्णता प्रायः बच्चों में अधिक स्पष्ट होती है। वह रोटी को 'लोटी' तथा चीज को को 'चिज्जी' कहता है। बड़ा होने पर यह भेद सूक्ष्म रूप में बना रहता है और इसका स्पष्ट रूप विदेशी ध्वनियों के अनुकरण में मिलता है। ब्राह्मण का 'ब्राह्मन' तथा कनेक्शन का 'कनस्कन' इसी कारण होता है। इस अनुकरण की अपूर्णता में अज्ञानता का भी पर्याप्त योग रहता है। किसी ध्वनि के बिना निश्चित या शुद्ध-ज्ञान के उच्चारण का ठीक अनुकरण नहीं हो पाता और फलस्वरूप ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। अपरिचित तथा विदेशी शब्दों में यह विकार विशेष रूप से होता है। लोक-भाषा में 'ओवरसियर' का ओसेयर, कम्पाउन्डर का कम्पोडर या कम्पोटर हो गया है।

३. बोलने में शीघ्रता—शीघ्र बोलने की प्रवृत्ति से भी ध्वनि-विकार हो जाता है। शीघ्रता के कारण शब्दों की ध्वनियों में प्रायः लोप हो जाता है और ध्वनि कम हो जाती है। कभी-कभी कुछ अक्षरों का लोप होने पर अन्य ध्वनि का आगम हो जाता है। उदाहरणार्थ—'मास्टर साहब' को 'मास्साब', 'माता जी' को 'माजी' तथा 'पण्डित जी' को 'पंडी जी' उच्चारण किया जाता है। 'उन्होंने' का "उन्ने', 'किन्ने', 'जिन्ने', 'माड्डाला' भी इसी बोलने की द्रुतगति का परिणाम है।

४. बनकर बोलना—इस भावना से भी ध्वनियों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। चाहे वह अस्थायी हो। वक्ता का बनकर बोलना चतुर तथा फुर्तीला दिखाने का प्रयास ध्वनि में न्यूनाधिक परिवर्तन अवश्य कर देता है; यथा कहना का केना, बहनों का बेनों, 'बैठो' का 'बेटो' आदि।

५. भावुकता तथा भावावेश—भावातिरेक के कारण भी ध्वनि परिवर्तित हो जाती है। स्नेहातिशय या प्यार के वशीभूत होकर बेटी को बिटिया, मुन्ना को मुन्नू, दुलारी को दुल्लो कह दिया जाता है। क्रोध के आवेश में असावधान शब्द तथा अशिष्ट भाषा का प्रयोग कर दिया जाता है। नामों की तो दुर्दशा हो ही जाती है। क्रोध में बच्चे को 'बच्चू' कह देते हैं।

६. विभाषा का प्रभाव—एक राष्ट्र, जाति या संघ दूसरे के सम्पर्क में आता है तो विचार-विनिमय के साथ ध्वनि-विनियम भी हो जाता है। एक भाषा की विशेष ध्वनियाँ अन्य ध्वनि को प्रभावित करती हैं। लौकिक आर्य-भाषाओं पर द्रविड टवर्ग का प्रभाव पड़ा है जबकि वैदिक ऋचाओं में इसका प्रयोग न्यूनतम है।

७. मुख-सुख या प्रयत्न लाघव—उच्चारण की सुविधा ही ध्वनि-परिवर्तन का प्रमुख कारण है। मुख को सुख देने के प्रयास में कठिन ध्वनियों को उच्चारण की दृष्टि से सरल बना लिया जाता है। इसीलिए उत्तर प्रदेश वाले स्कूल तथा स्टेशन को इस्कूल तथा इस्टेशन तथा पंजाबी सकूल तथा सटेशन कहते हैं। प्रायः ध्वनि-विकार के सभी कारण तथा दशाओं में प्रयत्न-लाघव का सर्वाधिक महत्व है। ध्वनि की अनुरूपता तथा विभिन्नता, स्थान-परिवर्तन तथा ध्वनियों के लघुकरण में यह मुख-सुख तथा उच्चारण की सुविधा ही प्रधान है। अतः

प्रयत्न-लाघव का क्षेत्र एकांगी न होकर सर्वांगी तथा विस्तृत है।

८. सादृश्य (Analogy)—ध्वनियों को स्मृतिग्राह्य यथा अपवाद-हीन बनाने का श्रेय सादृश्य को है। सुगमता के उद्देश्य से अन्य ध्वनि की समानता तथा सादृश्य पर अन्य ध्वनि को ढाल लिया जाता है। यथा द्वादश के सादृश्य पर एकदश भी एकादश तथा तेंतीस के सादृश्य पर सेंतीस में अनुनासिकता आ गई है। स्वर्ग की समानता पर नरक 'नर्क' हो गया है।

९. बलाघातक और संगीतात्मकता—ये दोनों भी ध्वनि-विकार के कारण हैं। शब्द की किसी ध्वनि पर अधिक बल देने से अन्य समीपवर्ती ध्वनियां कम और होकर लुप्त हो जाती हैं। यथा—आभ्यन्तर के मध्य में बल का आघात होने से 'आ' का लोप होकर 'भीतर' रह गया। इस प्रकार 'उपाध्य से 'झा' रह गया। आरोह-अवरोह के स्वर-क्रम से संगीत का स्वराघात संवृत तथा विवृत रूप धारण कर लेता है। इसी से 'इ' का 'ए' तथा 'उ' का 'ओ' हो जाता है, जैसे 'कुण्ड' का 'कोड़', 'बिल्व' का 'बेल' में संगीतात्मक स्वराघात की झलक है।

१०. काव्य में मात्रा या तुक—कवि लोग अन्त्यानुप्रास या तुक तथा मात्रा के दृष्टिकोण से मनमाना परिवर्तन ध्वनियों में कर देते हैं। भक्तिकाल तथा रीतिकाल की कविता में यह प्रवृत्ति दर्शनीय है। विकराल का विकरार, कमल=कमलु, हथियार=हथ्यार आदि उदाहरण मिलते हैं।

११. स्वाभाविक विकास या परिवर्तन—इसको स्वयंभू विकास भी कहते हैं। इसमें स्वाभाविक रूप से घिसकर शब्दों की ध्वनियां स्वयं विकसित हो जाती हैं।

उदाहरण—सर्प=सांप मया=मैं
कूप=कुआँ वर्तते=बाटे आदि।

१२. विदेशी ध्वनि का अभाव तथा प्रभाव—किसी भाषा में अन्य भाषा की विशिष्ट ध्वनियां न होने से अपनी भाषा की मिलती-जुलती ध्वनियों से उनकी पूर्ति कर ली जाती हैं। अंग्रेजी की वर्त्स 'ट', 'ड' ध्वनियां हिन्दी की मूर्द्धन्य या तालव्य में परिवर्तित हो गईं; जैसे—'रिपोर्ट' से 'रपट' तथा डेस्क से 'डिकस'। अंग्रेजी में लिखे Gupta, Misra के प्रभाव से हिन्दी में गुप्त

और मिश्र के स्थान पर गुप्ता, मिश्रा लिखा जाने लगा है । अतः इससे भी ध्वनि में विकार हो जाता है ।

१३. **भौगोलिक प्रभाव**—यह भी ध्वनि विकार का एक कारण है । गर्म जलवायु वाले देशों में विवृत तथा ठण्डी जलवायु वाले देशों में संवृत ध्वनियों का अधिक विकास होगा । चारों ओर पर्वतों से घिरे प्रदेश की ध्वनियाँ स्थिर तथा बाहरी व्याघात से हीन बनी रहती हैं । इसी प्रकार पश्चिमी देश निवासी हिन्दी भाषा के दन्त्य वर्णों का उच्चारण नहीं कर सकते हैं । इसमें भौगोलिक परिस्थितियाँ काम करती हैं ।

१४. **सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव**—सामाजिक शांति में सांस्कृतिक उन्नति होगी तथा ध्वनि शुद्ध तथा परिमार्जित रहेगी । युद्ध या विप्लव में बोलने की गति तीव्र हो जाती है और भाषण-क्रिया में कुछ ध्वनियों में बलात्मक स्वराघात बढ़ जाता है तथा परिणामतः कुछ ध्वनियों का लोप हो जाता है और भाषा का विकास या ह्रास तीव्र गति से होने लगता है । समास में दुख पूर्ण वातावरण से धीरे बोलने की प्रवृत्ति हो जाती है और संवृत ध्वनियों की ओर झुकाव हो जाता है । इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है ।

प्रश्न २०—ध्वनि-नियम क्या हैं ? ग्रिम (Grim's Law) कृति ध्वनि-नियम की सम्यक् समीक्षा कीजिए । क्या ध्वनि-नियम भी उसी प्रकार अकाट्य हैं जैसे अन्य वैज्ञानिक नियम ?

ध्वनियों में परिवर्तन नैसर्गिक रूप से होता रहता हैं । भाषा की कुछ ध्वनियों में ये विकार अंशतः या पूर्णतः विशिष्ट नियमों के आधीन होते हैं । प्रायः परिस्थितियों की एकरूपता या निश्चित गति के परीक्षण पर ही ये नियम अवलम्बित हैं । जैसे संस्कृत 'य' प्राकृत में 'अ' हो गया; यह एक नियम है । इन नियमों के अपवाद भी होते हैं; यथा मागधी प्राकृत में संस्कृत 'य', 'ज', ध्वनि में परिवर्तित होकर 'य' रहा ।

ध्वनि नियम क्या है ?—यह प्रश्न सदैव से भाषा-विज्ञानियों के मस्तिष्क में घूमता रहा है । सर्वप्रथम नियम के विषय में जानना आवश्यक है । विशेष परिस्थितियों में एक क्रिया के अनवरित रूप से घटित होने को नियम कहते

हैं। इसमें समय और स्थान का कोई बन्धन नहीं है। ये नियम सार्वकालिक या सार्वदेशिक होते हैं। हर ध्वनि-नियम में यह बात नहीं है और वे काल और सीमा को नहीं लांघ सकते हैं। इनके अनेक अपवाद मिलते हैं। अतः ध्वनि-नियम उसी प्रकार अकाट्य नहीं हैं जैसे वैज्ञानिक नियम। इन दोनों नियमों में बहुत अन्तर है।

वैज्ञानिक तथा ध्वनि-नियम में अन्तर—(१) जैसा कि ऊपर स्पष्ट है वैज्ञानिक नियम एक विशिष्ट परिस्थिति या कार्य में सही उतरते हैं। वे काल विशेष की अपेक्षा नहीं रखते हैं; क्योंकि वे सार्वकालिक या सब कालों में एक रूप से घटित होते हैं। उदाहरणार्थ—दो और दो चार होते हैं, और होते थे और होंगे। ध्वनि-नियमों में यह विशेषता नहीं है। यह निश्चित नहीं कि प्राचीन काल के ध्वनि-परिवर्तन आधुनिक या भावी ध्वनियों पर भी लागू होंगे।

वैज्ञानिक नियम सार्वदेशिक होते हैं। न्यूटन का नियम प्रायः सर्वत्र लागू होता है पर ध्वनि-नियम देश या स्थान भेद से लागू नहीं हो पाते हैं।

(२) वैज्ञानिक या प्राकृतिक नियमों में अपवाद नहीं होते जब कि ध्वनि-नियम पद-पद पर अपवाद छोड़ते चलते हैं, संस्कृत 'नृत्य' का 'नाच' हो गया पर 'भृत्य' का 'भाच' नहीं हुआ। 'धर्म' का 'धम्म' हो गया परन्तु 'कर्म' का 'कम्म' नहीं हुआ। अतः वैज्ञानिक नियम सभी परिस्थितियों में सत्य तथा अकाट्य होते हैं परन्तु अपवादों की बहुलता के कारण ध्वनि-नियम सर्वावस्थाओं में न घटित होते हैं और न अकाट्य ही। ध्वनि-नियम वर्तमान या भविष्य के सम्बन्ध में न होकर केवल भूतकाल के सम्बन्ध में होते हैं और एक विशिष्ट जातिगत भाषा के अन्तर्गत ही होते हैं। इसलिए कुछ विद्वान इन्हें ध्वनि-नियम न कह कर ध्वनि-प्रवृत्ति (Phónetic tendency) ही कहना उचित समझते है। ध्वनियों में अपवादों का बाहुल्य ही नियम की संज्ञा को शिथिल कर देता है। ध्वनि-नियमों में अपवाद होने के सामान्यतः चार कारण है। (क) सादृश्य सबसे बड़ा कारण है। सादृश्य के कारण शब्द नियमानुसार रूप धारण न कर अन्य रूप धारण कर लेता है। (ख) विदेशी शब्दों का उधार आना भी अपवाद का महत्वपूर्ण कारण है। नवागत विदेशी शब्दों पर ध्वनि-नियम घटित नहीं होते हैं। (ग) तीसरा कारण एक भाषा के प्राचीन या तत्कालीन शब्द-रूपों

का ग्रहण करना है जिन पर ध्वनि-नियम लागू नहीं है। (घ) अनेक बार ऐसा होता है कि अन्य भाषा का मिलता-जुलता रूप भाषा में अयनः स्थान ले लेता है और प्राचीन शब्द का ही रूप समझ लिया जाता है। उसे भी अपवाद रूप में ले लिया जाता है। जैसा कि हिन्दी शब्द कोटपाल तथा फारसी भाषा से आये शब्द 'कोतवाल' में रूप-साम्य है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वैज्ञानिक नियम की भांति ध्वनि-नियम पूर्ण नहीं है। फिर भी ध्वनि-विषयक इन प्रवृत्तियों को ध्वनि-नियम ही कहा जाता है। ध्वनि-नियम की परिभाषा निम्न हो सकती है—

"किसी विशिष्ट भाषा की कुछ विशिष्ट ध्वनियों में, किसी विशिष्ट काल और कुछ विशिष्ट दशाओं में हुए नियमित परिवर्तन या विकार को उस भाषा का ध्वनि-नियम कहते हैं।

इस परिभाषा के चार अंग हैं।

(१) विशिष्ट भाषा का अर्थ भाषा विशेष है। एक विशेष भाषा विषयक नियम अन्य भाषा पर घटित नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ अंग्रेजी फादर (FATHER) के उच्चारण में 'र' का उच्चारण न होकर 'फाद अ' होता है पर हिन्दी में 'अम्बर' शब्द 'अम्बअ' उच्चरित नहीं होता है।

(२) विशिष्ट ध्वनियों पर ही यह नियम लागू होते हैं, सब ध्वनियों पर नहीं; यथा FATHER में R का उच्चारण न होते देख MAN में 'N' के उच्चारण का त्याग नहीं कर सकते और 'मैअ' न कह 'मैन' ही कहेंगे।

(३) विशिष्ट काल का ही प्रयोग ध्वनि-परिवर्तन के लिए किया जाता है। उपर्युक्त 'अ' ध्वनि का लोप हम प्राचीन अंग्रेजी में नहीं कर सकते हैं, यह आधुनिक काल में ही प्रयुक्त होता है।

विशिष्ट परिस्थितियों से ही कोई ध्वनि-नियम बांधा जाता है। उपरोक्त उदाहरण में प्रायः यह नियम है कि वाक्य के किसी शब्द की अन्तिम ध्वनि 'R' हो और उसके बाद शब्द का प्रथम अक्षर व्यंजन हो तो 'आर' के उच्चारण न करने का नियम लागू होता है और यदि शब्द का प्रारम्भ स्वर से हो तो नहीं होगा। इस प्रकार ध्वनि-नियम में किसी न किसी अवस्था या दशा का निर्देश अवश्य रहता है।

ग्रिम नियम—(Grim's Law)—इस नियम की पूर्ण विवेचना करने वाले जर्मन भाषा के मर्मज्ञ याकोब ग्रिम हैं। उन्होंने १८१९ में जर्मन भाषा का एक व्याकरण प्रकाशित किया। जिस नियम का विवरण उस व्याकरण के द्वितीय संस्करण (सन् १८८२) में है। ये नियम, प्राचीन भारोपीय भाषा, संस्कृत, ग्रीक लैटिन, जर्मन गाथिक तथा अंग्रेजी के तुलनात्मक विवेचन के पश्चात् बनाये थे। इस नियम का सम्बन्ध भारोपीय स्पर्शों से है जो ग्रीक, लैटिन, संस्कृत आदि भाषाओं की तुलना में जर्मन भाषा में विकसित होकर परिवर्तित हो गये थे। जर्मन भाषा का यह वर्ण-परिवर्तन दो बार हुआ। प्रथम वर्ण-परिवर्तन ईसा की कई शताब्दी पूर्व हुआ था और द्वितीय वर्ण-परिवर्तन सातवीं शताब्दी के आस-पास हुआ, जब एंग्लो-सेक्सन लोग उत्तरी जर्मन लोगों से पृथक् हो गये थे। दोनों वर्ण-परिवर्तन जातीय मिश्रण के फलस्वरूप हुए थे।

प्रथम वर्ण-परिवर्तन—(First Sound Shifting)—प्रारम्भ में ग्रिम-नियम का स्वरूप इस प्रकार से था—

(१) जहां संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि में अघोष अल्पप्राण स्पर्श होता है, वहीं गाथिक अंग्रेजी, डच आदि भाषाओं में महाप्राण, ध्वनि और उच्च जर्मन में संघोष वर्ण होता है।

(२) संस्कृत आदि, का महाप्राण गाथिक आदि का सघोष उच्च जर्मन का अघोष वर्ण होता है।

(३) संस्कृत आदि सघोष-गाथिक का अघोष उच्च जर्मन में महाप्राण होता है। संक्षेप में यह निम्न प्रकार से है—

संस्कृत आदि	गाथिक	उच्च जर्मन
(१) अघोष (क्, त्, प्)	महाप्राणी (ख्, थ्, फ्)	संघोष (ग् द् ब्)
(२) महाप्राण (ख्, थ् भ्)	सघोष (ग्, द्, ब्,)	अघोष (क्, त्, प्)
(३) सघोष [ग्, द्, ब्,]	अघोष (क्, त्, प्,)	महाप्राण (ख्, थ्, फ्)

इस नियम में अनेक दोष देखकर ग्रिम ने (१८२२ ई० के) द्वितीय संस्करण में कुछ सुधार किए तथा भारोपीय ध्वनियों के पारस्परिक परिवर्तन को प्रथम वर्ण-परिवर्तन तथा उच्च-जर्मन के परिवर्तन को द्वितीय वर्ण-परिवर्तन में

रक्खा। प्रथम वर्ण-परिवर्तन के अन्तर्गत भारोपीय भाषा की परिवर्तित स्पर्श-ध्वनियों का रूप इस प्रकार है—

(क) भारोपीय मूल भाषा के घोष महाप्राण स्पर्श घ्, ध्, भ्	जर्मनिक में घोष अल्पप्राण ग्, द्, ब् हो गये।
(ख) भारोपीय मूल भाषा के घोष अल्पप्राण ग्, द्, ब्,	जर्मनिक में अघोष अल्पप्राण क्, त्, प् हो गये।
(ग) भारोपीय भाषा के अघोष अल्पप्राण क्, त्, प्	जर्मनिक में संघर्षी अघोष महाप्राण ख्, (ह) थ् फ् (घ), (ध), (भ) हो गये।

मूल भारोपीय भाषा की ये स्पर्श-ध्वनियाँ संस्कृत, ग्रीक और लैटिन में तथा जर्मनिक ध्वनियाँ गाथिक और निम्न जर्मन (अंग्रेजी) में सुरक्षित हैं। उदाहरणार्थ—

	आरोपीय			अ ग्रं नि क		
	संस्कृत	ग्रीक	लेटीन	अंग्रेजी	गॉथिक	जर्मन प्राचीन उच्च जर्मन (प्रा० उ० ज०)
(क) 'घ् से ग् (ह),	हंस	khen	(H) anser	goose गूज	gans गंस	
					—	ga-deds, tat-टाट
'ध' से 'द्' (ड)	धित: धा	Thesis	thesis	deed डीड	—	
	विधवा	—	—	widow विडो		bairan
भ् से ब्	धूम	—	—	dust डस्ट		—
	भरामि	Pherein	fero	bear बीअर	—	pim (प्रा० उ०)
	भ्रातृ	—	—	brother ब्रादर	—	Jock (याख जग)
				be बी	—	
(ख) ग् से ब्	भवा (मि)	Phuo	—			—cu
	युगम्	zugon	iugum	yoke योक	Juk	
	गो	—	—	cow काउ	—	
द् से त् (ट्)					raihun	zchn (जेत्य)
	दश	—	decem	ten टेन		- zwei
					—	
व् से प्	द्वौ	—	—	two टू		
	—	deka	labium	lip लिप्		
(ग) क् से ख्	—	--	Lomba	lap लेप		
(ह)	*स्लेउब	—	—	slip		
					hwo	hwer
	क:	—	quo	who हू		
	कद्	kunos	quod	what	haws	was
	शुन:	—	canis	hound	hunds	hund
	(प्राचीन क् के स्थान पर श्)	—		(h=kh)		

त् से थ्	त्रि	treis	tris	three थ्री	thresi	—drei द्राय
	दंत		—	tooth टूथ	—	—
	तनु	—	—	thin थिन	tawrnus	—
	तृणम्	—	—	thron थोर्न	thair:an	dorn
	तृषा	(ters-omai)	—	thirst थर्स्ट	fader	—
प् से फ्	पिता	—	pater	father फादर	nift	vater [v=f]
	पशु	—	pecus	fee फी	facih	vich
	नपात्	neptis	nepos	nephew नेफ्यू	(प्रा० उ० ज०)	neffe

द्वितीय वर्ण-परिवर्तन (Second Sound Shifting)—प्रथम वर्ण-परिवर्तन में मूल भाषा से जर्मनिक भाषा भिन्न हुई थी पर इस द्वितीय वर्ण-परिवर्तन में जर्मन भाषा के ही दो रूप उच्च तथा निम्न जर्मन हुए और उन्हीं दो भाषा में अन्तर पाया। कारण यह है कि जर्मन भाषा के विकास के पूर्व निम्न जर्मन वाले (अंग्रेज आदि) वहाँ से हट गए थे। अतः परिवर्तन उच्च जर्मन में हुआ और परिणामस्वरूप कुछ ध्वनियाँ भिन्न-भिन्न हो गई। जैसे—

	निम्न जर्मन (अंग्रेजी)	उच्च जर्मन
थ् का ड् (द्)	=थ्री (three)	ड्राय (Drei)
ड् का ट्	=डीड (Deed)	टाट (tat)
क् का ख्	=योक(yoke)	याख (joch)
ट् का ट्स् या स्स्	=फुट(foot)	फस्स (fuss)
प् का फ्	=डीप (Deep)	टीफ (tief)
	शीप (sheep)	शाफ (schaf)

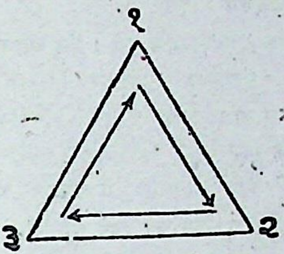
उपर्युक्त दोनों वर्ण-परिवर्तन की सहायता से निम्न नियम-तालिका ग्रिम ने बनाई—

मूल भाषा		आदिम जर्मनिक		उच्च जर्मन
घ्, ध् भ्	=	ग्, द्, ब्	=	क्, त्, प्,
ग्, द, ब्	=	क्, त्, प्	=	ख् (ह) थ् फ्
क्, त्, प्	=	ख् (ह), थ्, फ्	=	ग्, द्, ब्

(मूल भाषा → आदिम जर्मनिक: प्रथम वर्ण-परिवर्तन)

(आदिम जर्मनिक → उच्च जर्मन: द्वितीय वर्ण-परिवर्तन)

हम इसको त्रिभुजाकार रूप में इस प्रकार रख सकते हैं—



अगर हम त्रिभुज के किसी कोने से भारोपीय ध्वनियों (संस्कृत, ग्रीक, लैटिन) मानकर प्रारम्भ करें तो संकेतित दिशा में जाने से गॉथिक और निम्न जर्मन की ध्वनियाँ प्राप्त होंगी जो भारोपीय ध्वनियों का परिवर्तित रूप है। यही प्रथम वर्ण-परिवर्तन है, जैसे १ से २ तथा २ से तीन और ३ से एक एक कोना लाँघने पर अन्य कोने पर हमें उच्च या आधुनिक जर्मनिक ध्वनियां मिलेंगी जो भारोपीय से भिन्न होंगी। यही द्वितीय वर्ण-परिवर्तन की दशा है। यथा १ से ३ आदि। समझने के लिए भारोपीय घ्, ध्, भ् ध्वनियाँ क्, त्, प् उच्च जर्मनिक ध्वनियों में परिवर्तित हो जाती हैं। अर्थात् उच्च जर्मन का वर्ण-परिवर्तन, निम्न जर्मन से एक कदम आगे निर्दिष्ट दिशा में चलता है। त्रिभुज के शीर्ष से हमें वर्ण-परिवर्तन की उचित दिशा प्राप्त होती है।

ग्रिम कृत नियम-तालिका प्रथम वर्ण-परिवर्तन के लिए अधिकांश रूप में ठीक है पर द्वितीय वर्ण-परिवर्तन के लिए अपवादों के बाहुल्य के कारण सफल नहीं कही जा सकती हैं। दोनों वर्ण-परिवर्तन का प्रारम्भिक रूप जो वस्तुतः मिलता है इस प्रकार है।

X = ch = ख

मूल भाषा		निम्न जर्मन या आदिम जर्मन	उच्च जर्मन
ग, ध, भ	=	ग, द, ब,	= X, त, X
ग, द, ब	=	क, त, प,	= X, क, त्स (tz), Sz, SS, f फ
क, त, प,	=	ख (ह), थ, फ,	= X, द (ड), स्त, X

प्रश्न २ '—ग्रासमैन और वर्नर के ग्रिम-नियम-संशोधन पर दृष्टि डालते हुए ध्वनि-नियमों का विवेचन कीजिए । (दि० वि० १९५५)

ग्रिम-नियम में अनेक अपवाद देखे गये । इन अपवादों का प्रधानतः कारण सादृश्य की भावना है । उदाहरणार्थ फादर (Father), मदर (Mother) तथा (Brother) ब्रदर तीनों शब्दों में 'द' (Th) ध्वनि सामान्य रूप से मिलती है । परंतु जर्मन में इसके रूप फाटर (Fater), मटर (Mutter) तथा ब्रडर (Bruder) मिलते हैं जिनकी ध्वनियों में पर्याप्त अन्तर है परन्तु आधुनिक अंग्रेजी में सादृश्य के कारण एकरूप कर दिये गये है । सदृश विदेशी उधार ली हुई ध्वनिया भी अपवाद का कारण हैं । जैसे संस्कृत में 'क्रमेलक' शब्द सेनेटिक भाषाओं से केमिल (Camel) से उधार ली गई है । 'र' और 'क' में ध्वनियों का इसमें अन्तर्भूत होने के कारण से यह संस्कृत का शब्द प्रतीत होता है ।

ग्रिम महोदय ने स्वयमेव इन अपवादों के आधिक्य को स्वीकार किया है । कुछ अपवाद नियमित हुए हैं, यथा स्क, तथा स्प ध्वनियों में 'स्' ध्वनि ने कई स्थानों में वर्ण-परिवर्तन नहीं होने दिया । क्त (KT) और प्त (PT) में त अपरिवर्तित रहा तथा त्त (TT) गॉथिक में थ्ट (Tht) और बाद में स्स् (ss) ध्वनि में बदल गया ।

ग्रासमैन-नियम—ग्रिम के ध्वनि-नियम के अनुसार क्रमशः क्, त्, प् का ख् (ह), थ्, फ् होना चाहिए परन्तु अपवाद स्वरूप ग्, द्, ब् मिलता है । उदाहरणार्थ ग्रीक किग्खो से अंग्रेजी में हो (Ho), लुप्तोस से थम (Thump) और पियास में फाड़ी (Fody) बनना चाहिए पर, गो (go), डम (Dump) तथा बाड़ी (body) मिलता है । इस अपवाद का समाधान ग्रासमैन ने यह नियम बना कर किया कि मूल भारोपीय भाषा में यदि शब्द या धातु के आदि और अन्त दोनों स्थानों पर ध्वनियां महाप्राण हों तो संस्कृत और ग्रीक आदि में प्रायः एक ध्वनि अल्पप्राण बन जाती है । जैसे संस्कृत की √हु (=हवन करना) का मूल रूप, जुहोति, जुहुतः, जुह्वति न होकर हुहोति, हुहुतः हुह्वतिः होना चाहिए । इसी प्रकार √भी=डरना से भिभर्ति न होकर 'बिभर्ति' रूप बनता है ।

इससे यह परिणाम निकलता है कि भारोपीय मूल भाषा की दो अवस्थाएँ रही होंगी । पहली अवस्था में दो महाप्राण रहे होंगे दूसरी में केवल एक महा-

प्राण ध्वनि की स्थिति मान्य हो सकती, यथा—

पूर्वावस्था	उत्तरावस्था
भुध से भोधामि	बुध से बोधामि
धधामि	दधामि
भभार	बभार आदि ।

अपवादस्वरूप जहाँ क्, त्, प्, के स्थान पर ग्, द्, ब् मिलते हैं वहाँ प्राचीनकाल में क्, त्, प् का पुराना रूप ख् (ह) थ्, फ् अर्थात भारोपीय भाषा में घ् ध्, भ् रहा होगा जिसका आगे चलकर ग्, द्, ब् बना होगा । इस कल्पना से वर्ण-परिवर्तन नियमानुकूल हो जाता है तथा जिन रूपों में अपवाद स्वरूप एक पग आगे परिवर्तन हो जाता था, उनका इस नियम से समाधान हो गया ।

वर्नर-नियम—ग्रासमैन-नियम के पश्चात् भी कुछ अपवाद रह गये थे । जैसे क्, त्, प् के स्थान में जर्मन भाषाओं में ग्, द्, ब् हो जाता है । उदाहरणार्थ—युवक, शतम् का साधारण नियमानुसार यूथ (youth), हन्थ्रेड (hunthred) होना चाहिए था परन्तु यंग (young) तथा हन्ड्रेड (hundred) रूप मिलता है । वर्नर ने इन अपवादों पर विचार कर यह निश्चित किया कि ग्रिम-नियम स्वराघात (accent) पर आधारित था । मूल भाषा के क्, त्, प् के पूर्व यदि स्वराघात हो तो ग्रिम-नियम के अनुसार परिवर्तन होता है पर यदि स्वराघात क्, त् प्, के बाद वाले स्वर पर हो तो परिवर्तन एक पग और आगे ग्रासमैन नियम की भाँति ग, द्, ब् हो जाता है । इसमें यदि मूल भारोपीय भाषा के पूर्व स्वराघात न होने पर ख्, ठ्, फ् (x, b, f) महाप्राण स्पर्श अल्पप्राण बन जाते हैं । जैसे—

संस्कृत	गॉथिक
सप्त	सिबुन (Sibun)
शतम्	हुन्द (Hunda) Hundred
युवशंस्	युग्स (Juggs) (यहाँ 'श्' प्राचीन 'क्' का प्रतिनिधि है।

ग्रिम के कथनानुसार 'स्' के स्थान पर 'स्' न मिलकर कुछ उदाहरणों मे

'र' मिला है। जैसे स्नुषा का Snosu रूप न मिलकर Snoru रूप मिलता है। इसके लिए वर्नर ने स्वराघात को ही कारण माना। 'स्' के पूर्व स्वराघात होने पर 'स्' ही रहेगा अन्यथा 'र्' हो जायेगा।

वर्नर ने एक दृष्टिकोण रखा कि भारोपीय क्, त्, प्, के पूर्व स् मिला हो (यथा स्क, स्त, स्प) तो जर्मनिक में आने पर ध्वनियों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं मिलता। इसी प्रकार त यदि क् या प् के साथ हो तो कोई परिवर्तन नहीं होता।

उदाहरणार्थ—

	भारोपीय			जर्मनिक		
	संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	गाथी	अंग्रेजी	उच्च जर्मन
स्क स्क	—	—	piskis	fisks	fish	fisch
स्त-स्त	आस्ति	esti	est	ist	is	ist
	अष्टा	okto	octo	ahtau	—	acht
स्प-स्प	...	—	spicio	—	—	spehon (O.H.G.)
प्त-प्त	नप्ता	—	Nepits	—	—	Nift (O.H.G)

वर्नर के इस उपनियम (Corollary) के संशोधन के पश्चात् भी सादृश्य के कारण ग्रिम-नियम में अनेक अपवाद रह गये हैं।

अन्य ध्वनि-नियम

तालव्य-नियम (Palatal Law)—कंठ्य व्यंजन के तालव्य हो जाने से इसे तालव्य-नियम कहा जाता है। कुछ शब्दों में संस्कृत में च् और ज् के स्थान पर अन्य भाषाओं में क् और ग् मिलते हैं। इस प्रवृत्ति का यह नियम बना कि संस्कृत शब्दों में 'अ' स्वर, ध्वनि की दृष्टि से ग्रीक या लैटिन ओ (O) की तरह है। उसके पूर्व क् या ही ग् व्यंजन पाया जाता है पर यदि 'अ' स्वर लैटिन या ग्रीक ई (e) की भाँति है तो कंठ्य क् या ग् न होकर तालव्य च् और ज् मिलता है। जैसे—एक ही धातु पच् से बने रूप 'पचति' (च्+अ में अ ग्रीक ई (e) की भाँति है) और 'पक्म्' (क्+अ ग्रीक (o) की भाँति है) में यह देखा जा सकता है। अतः निष्कर्ष यह है कि किसी काल में संस्कृत 'अ' के स्थान पर 'इ' और 'ओ' स्वर भी थे। अग्रस्वर 'इ' के पूर्व का कण्ठ्य

व्यंजन तालव्य में परिवर्तित हो गया और फलस्वरूप क् का च् और ग् का ज् हो गया। इस खोज में ग्रीक, लैटिन आदि को 'इ' और 'ओ' ध्वनियों के सुरक्षित रहने के कारण मूल भारोपीय के संस्कृत की अपेक्षा अधिक निकट समझा जाने लगा है।

ग्रीक-नियम मूल भारोपीय शब्द में दो स्वरों के मध्यवर्गीय 'स्' का ग्रीक में 'ह्' होकर लुप्त हो जाना जैसे—*Genesos=genehos=geneos।

लैटिन-नियम—इसमें पूर्वोक्त 'स' का 'र' हो जाना, *जैसे—Genesos =generos.

फारसी-नियम—संस्कृत 'स' का फारसी में 'ह' मिलना, यथा सप्त=हप्त, सिंध=हिंद।

अन्य ध्वनि-नियम—ओष्ठ्य या मूर्धन्य नियम आदि है।

प्रश्न २२—भारोपीय परिवार की विशेषताओं और महत्व पर प्रकाश डालते हुए उसके विभाजन का भी परिचय दीजिए। (पं० वि० १९५५)

भारोपीय परिवार विश्व का सर्वाधिक लब्ध-प्रतिष्ठित परिवार है। इस परिवार की भाषाएं विश्व में सबसे अधिक संख्या के द्वारा बोली जाती हैं तथा भौगोलिक विस्तार की दृष्टि से इसका महत्व है। इस परिवार का क्षेत्र उत्तरी भारत से लेकर अर्मीनिया होता हुआ यूराल-अल्टाई भाग को छोड़कर ब्रिटिश द्वीप पर्यन्त है। इसके साथ ही प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य तथा धर्म की दृष्टि से इस परिवार का महत्व अत्यधिक है। भाषा वैज्ञानिक महत्ता की दृष्टि से संस्कृत की वैदिक निधि अन्यतम है। इसके साथ ही आज भी विश्व में इस परिवार की भाषाओं का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व है तथा वे सभ्य जातियों की भाषाएं मानी जाती हैं। अंग्रेजी, फ्रेंच, रूसी, स्पेनिश तथा हिन्दी आज अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं।

नामकरण—इस परिवार के अनेक नाम हैं। सर्वप्रथम इसे भारत-जर्मनी 'इन्डो-जर्मनिक' नाम दिया गया था क्योंकि इसकी सीमा भारत से जर्मनी तक आंकी गई परन्तु केल्टी शाखा की भाषाओं की दृष्टि से यह नाम उपयुक्त न समझा गया। मैक्समूलर का आर्य परिवार तथा अन्य नाम इण्डो-केल्टिक और जेफेटिक भी सर्वमान्य न हो सके। भौगोलिक दृष्टि से इन्डो-केल्टिक नाम

उचित ही है क्योंकि सीमा के दोनों भागों पर भारतीय तथा कैल्टिक भाषाएँ हैं। जैस्पर्सन 'आर्य' नाम को अधिक गौरव प्रदान करते हैं। परन्तु फ्रान्स और इंगलैण्ड के विद्वानों ने इस परिवार का नाम इन्डो-यूरोपियन या भारत-यूरोपियन पसन्द किया। महाद्वीप की दृष्टि से यह नाम ठीक है। भारत-यूरोपियन का संक्षिप्त रूप 'भारोपीय-परिवार' भारत तथा यूरोपियन देशों में प्रचलित हो चुका है। भाषा-वैज्ञानिक भी इस नाम को तथ्यपूर्ण मानते हैं। अर्वाचीन तथा प्राचीन सभ्यता, संस्कृति तथा साहित्य की दृष्टि से यह परिवार विश्व में सर्वाधिक गौरवमय तथा समृद्ध है। इस परिवार की भाषाओं का शोधपूर्ण अनुशीलन पर्याप्त मात्रा में हुआ है।

भारोपीय-परिवार की मुख्य विशेषताएँ—

(१) यह परिवार श्लिष्ट-योगात्मक है। आरम्भ में इस परिवार की भाषाएं प्रयोगात्मक थीं, पर विकसित होकर एक दो को छोड़कर प्राय: सभी भाषाएं वियोगात्मक हो रही हैं। सर्वप्रथम प्रत्यय शब्द का एक अंश था तथा धातु से उसका अभिन्न योग रहता था। कालान्तर में ध्वनियों में विकास के कारण प्रत्यय नष्ट होकर लुप्त हो गये और उनके स्थान पर परसर्ग यथा सहायक क्रिया आदि का महत्व बढ़ गया। इस विकार के परिणामस्वरूप अब भाषाएं संयोगात्मक और विभक्ति प्रधान रूप से वियोगात्मक तथा स्थान प्रधान हो गई हैं। जैसे 'राम मोहन को पीटता है' वाक्य में राम और मोहन के पारस्परिक स्थान, परिवर्तन से अर्थ परिवर्तित हो जाता है। यह वृत्ति अंग्रेजी, ईरानी तथा हिन्दी में अधिक परिलक्षित होती है, संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं में यह बात नहीं है।

(२) प्रत्यय का प्रकृति से योग या सम्बन्ध तत्व का अर्थ तत्व से योग अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी है। धातुएं अधिकतर एकाक्षर होती हैं। इन में प्रत्यय के योग से पद या शब्द बनते हैं। प्रत्यय-विहीन धातु का कोई अस्तित्व नहीं समझा जाता है। अनेक प्रत्ययों के योग से मूल रूप में ये संयोगात्मक कही जाती थीं। ये प्रत्यय कृत (Primary) तथा तद्धित (Secondary) हैं। कृत प्रत्यय धातु में जोड़े जाते हैं तथा तद्धित बाद में—तद्धित के दो रूप—सुप् तथा तिङ् हैं जो क्रमश: कारक के उपयुक्त पद तथा कालानुसार क्रिया बनाते हैं। उदाहरणार्थ=कर्तृभि:=कृ धातु+कृत् प्रत्यय+सुप् प्रत्यय।

३—जो प्रत्यय जोड़े जाते हैं उनके स्वतंत्र अर्थ का पता नहीं है। परन्तु यह अनुमान है कि ये भारोपीय प्रत्यय भी स्वतंत्र शब्द थे तथा अन्य भाषाओं के प्रत्ययों की भाँति उनका भी अर्थ था, कालान्तर में धीरे-धीरे ध्वनि-परिवर्तन के चक्र में पड़ने से इनका आधुनिक रूप मात्र शेष रह गया है।

४—पूर्व-सर्ग या पूर्व-विभक्तियों का प्रयोग बान्टू परिवार की भाँति सम्बन्ध सूचक या वाक्य-रचना के लिए नहीं होता है। भारोपीय कुल में इनका अधिकता से प्रयोग शब्द तथा क्रिया के अर्थ को बदलने में किया जाता है, यथा—आहार, विहार तथा परिहार में 'आ', 'वि' तथा 'परि' पूर्वसर्ग हैं तथा इनकी मूल प्रकृति समास की तरह होती है और इनकी धातु या शब्द से पृथक् किया तथा छोड़ा जा सकता है।

५. भारोपीय-परिवार की प्रमुख विशेषता समास-रचना की विशेष शक्ति है। समास बनाते समय विभक्तियों का लोप हो जाता है। समस्त पद के अर्थ तथा उन शब्दों के स्थान पर रखने से (जिनसे समास बना है) संभावित अर्थ में महान् अन्तर होता है। समस्त पद में एक नया अर्थ निकलने लगता है। वास्तव में भारोपीय समास को हम व्यवहित अवस्था में अभिव्यक्त वाक्य-खण्ड के रूप में ले सकते हैं। वेल्स भाषा का समस्त शब्द बहुत बड़ा तथा लम्बा होता है। इसी प्रकार सस्कृत में भी यही दशा है।

६—अपश्रुति या अक्षरावस्थान (Vowel gradation) इस परिवार की एक विशेषता है। इसमें स्वर-परिवर्तन से प्रत्यय या सम्बन्ध तत्व सम्बन्धी परिवर्तन हो जाता है। संभवतः आरम्भ में किसी शब्द में विशिष्ट स्थान पर स्वराघात के कारण स्वर-परिवर्तन से धीरे-धीरे प्रत्ययों का लोप हो गया तो सम्बन्ध तत्व परिवर्तन, स्वर परिवर्तन के द्वारा स्पष्ट होने लगा। इस तथ्य का दर्शन अंग्रेजी की बली क्रियाओं में स्पष्ट रूप में मिलता है, जैसे—drink, drank, drunk में। यहां (i), (a) तथा (u) में स्वर-परिवर्तन से उनमें काल सम्बन्धी परिवर्तन हो गया है। इसमें स्वराघात के फलस्वरूप ध्वनि में परिवर्तन हुआ है।

७—समस्त भारोपीय परिवार में प्रत्यय-रूपों का आधिक्य है। इसका एकमात्र कारण एक स्रोत से निकलने पर विभिन्न भाषाओं का स्वतन्त्र रूप से

विकास हुआ और आवश्यकतानुसार विभिन्न रूप से भाषाओं तथा उपभाषाओं में पृथक् रूप से प्रत्यय-रूपों का प्रयोग हुआ है। अतः यहां प्रत्ययों का बाहुल्य है। भाषा में सभी प्रकार के सम्बन्धों के लिए विभक्तियों या प्रत्ययों का प्रयोग होता है।

विभाजन

भारोपीय परिवार में कतिपय भाषाएँ ऐसी हैं, जिनमें उन स्थान पर 'क' पाया जाता है जहां संस्कृत में 'श' तथा अन्य कई योरोपीय भाषाओं में 'स' पाया जाता है। प्रागैतिहासिक भारत-यूरोपीय तालव्य क्य, ग्य आदि ध्वनि कुछ शाखाओं में ज्यों की त्यों रह गई, पर भारत ईरानी शाखा, अल्बेनियन, बाल्तोस्लाविक आदि सोष्म संघर्षी स, श, ज, ज का रूप ले लेती हैं। यह तथ्य अस्कोली ने १८७० में प्रकट किया। इससे यह अनुमानित है कि प्राग-भारोपीय में दो तरह की विभाषाएं रही होंगी, एक समीपवर्ती भारत, ईरान, आर्मीनिया, रूप आदि स्थानों में बोली जाती है। अन्य दूरवर्ती विभाषाओं में इन ध्वनियों का विकास न होने से वे कण्ठ्य रूप में स्पर्श ही बनी रहीं। इसी आधार पर ब्रानब्रंडक ने इन समस्त भाषाओं को दो वर्गों में बांटा है—

शतम् तथा केन्तुम् —इन दोनों शब्दों का अर्थ 'सौ' है। एक में 'क' ध्वनि पाई जाती है, दूसरे में 'स'।

स्पष्टार्थ—अवेस्ता—सतम्, फारसी—सद।

संस्कृत -शतम्, हिन्दी—सौ, रूसी—स्तो, बल्गेरियन—सुतो, लिथुआनियन रिजम्तास, लैटिन - केन्तुम, ग्रीक—हेपटोन, इटैलियन—केन्तो, फ्रेंच—केन्त. ब्रीटन—कैन्ट, गेलिक —क्युड, तोखारी - कन्ध।

केन्तुम् वर्ग

इस वर्ग में छः शाखाएँ हैं -१. केल्टिक, २. ट्यूटोनिक (जर्मनिक), ३. लैटिन (इटली), ४. हैलेनिक (ग्रीक), ५. हिट्टाइट (हित्ती) ६. तोखारी।

केल्टिक —इस शाखा की भाषाएँ यूरोप के दक्षिणी भाग में बोली जाती हैं। लैटिन शाखा से इसका रूप-साम्य है। इसके ध्वनि-भेद से 'क' और 'प' दो वर्ग हैं। जैसे वेल्स 'पम्प' (पांच) का आइरिश में 'कोइक' है। 'प' वर्ग को ब्रितेनिक और 'क' वर्ग को गाइलिक कहते हैं। गाइलिक को आइरिश,

स्कॉच, मैंक्स तथा ब्रितेनिक की वेल्स, कार्लिक और ब्रिटन भाषाएँ हैं।

ट्यूटोनिक—यह भारोपीय परिवार की महत्वपूर्ण शाखा है। इसकी भाषाएँ जर्मनी, स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क, इंगलैंड आदि में बोली जाती हैं। इस की तीन उपशाखाएँ हैं १. पूर्वी जर्मन २. उत्तरी जर्मन ३. पश्चिमी जर्मन। पश्चिमी जर्मन उपशाखा का साहित्य तथा प्रचार की दृष्टि से बड़ा महत्व है। इस वर्ग की जर्मन भाषा तथा अंग्रेजी ने साहित्य समृद्धि के कारण अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर ली है। 'ग्रिम-नियम' का वर्ण परिवर्तन पश्चिमी जर्मनी की उच्च तथा निम्न जर्मन भाषा पर आधृत है। ये भाषाएँ प्राचीन काल से ही संहित से व्यवहित की ओर बढ़ रही हैं।

लैटिन या इतालिक—इस शाखा की प्रमुख भाषा लैटिन है। यह रोमन कथोलिक सम्प्रदाय की धार्मिक भाषा है। केल्टिक के समान इसके भी दो वर्ग 'प' और 'क' हैं। पहले को लैटिन तथा दूसरे को एम्ब्रो सेमेनिटिक कहते हैं। प्राग्भारोपीय के अध्येता के लिए लैटिन का महत्व भी संस्कृत और ग्रीक के समान ही है। इसी से रोमान्टिक फ्रेंन्च, स्पेनिश, पुर्तगाली, इतालियन तथा रूमानियन भाषाओं का विकास हुआ है।

हैलेनिक—वैदिक संस्कृत के बाद इस परिवार की भाषाओं का प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य ग्रीक भाषा में होमर की इलियड तथा ओडेसी महाकाव्यों में सुरक्षित है जो ई० पू० ८५० का कहा जाता है। यह लैटिन के समान सभ्य तथा विद्वान् समाज की भाषा रही है। ग्रीक भाषा तथा वैदिक संस्कृत में अत्यधिक साम्य है। दोनों में ही संगीतात्मक स्वराघात प्रधान था तथा बाद में दोनों बलात्मक स्वराघात की ओर प्रवृत्त हुईं। संस्कृत में संज्ञा, सर्वनाम तथा ग्रीक में क्रिया और अव्यय के रूपों की अधिकता है। ग्रीक में स्वरों तथा संस्कृत में व्यंजनों की अपेक्षाकृत अधिकता है।

हित्ती या हिट्टाइट—हित्ती भाषा का परिचय १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में एशिया माइनर के बोगाजकोइनर की खुदाई से प्राप्त कीलाक्षर लेखों से मिलता है। प्रो० ह्राजनी ने इसे भारोपीय परिवार की सिद्ध कर दिया है। हिट्टाइट की विभक्ति, सर्वनाम, क्रिया तथा कारक भारोपीय ही हैं। यह लैटिन के अधिक निकट है।

तोखारी—यह पूर्वीय तुर्किस्तान के तुरखान प्रदेश की भाषा है। 'सौ' के लिए इसमें 'कन्ध' या 'कन्त' शब्द मिलने से यह भाषा के केन्तुम वर्ग की है। इस के भारतीय (ब्राह्मी, खरोष्टी) लिपि में कुछ पत्र प्राप्त हुए हैं। इस पर यूराल-अल्टाई का समीपता के कारण अत्यधिक प्रभाव है। इसमें स्वरों की जटिलता कम है। संधि नियम तथा विभक्तियाँ संस्कृत के समान हैं। शब्द भण्डार भी संस्कृत के निकट है; यथा पितृ का पाचर्, मातृ का मातर्, अष्ट का ओक्त।

शतम् वर्ग

इस वर्ग की भाषाओं के चार उपकुल हैं—१. अल्बेनियन, २. बाल्तोस्लाविक, ३. आर्मेनियन तथा ४. आर्य या भारत-ईरानी।

अल्बेनियन या इलीरियन—यह शाखा कारिन्थियन की खाड़ी से इटली के दक्षिणी पूर्वी भाग तक फैली थी। उसमें शिलालेखों के अतिरिक्त कोई भी साहित्यिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती। इसके प्राचीन कालिक तथा माध्यकालिक रूपों का कोई भी अवशेष आज प्राप्त नहीं है।

बाल्तो-स्लाविक या लेटो-स्लावक—इस शाखा में बाल्टिक तथा स्लावोनिक युगल उपशाखाओं का अस्तित्व है। बाल्तिक शाखा की प्राचीनतम प्रकृति का पता नहीं लगता है। मध्यकाल में इसकी तीन शाखाएं हैं—लिथुआनियन, लेतिश तथा प्रशियन। प्राचीन प्रशियन संभवत: जर्मन के प्रभाव से नष्ट हो गई है। शेष दोनों भाषाएँ रूस और पश्चिमी भागों में बोली जाती हैं। स्लाविक उपशाखा की भाषाएँ बल्गेरिया, जैकोस्लेवाकिया, पोलेन्ड यूगोस्लाविया, यूक्रेन तथा रूस में बोली जाती हैं। आदि भारोपीय ध्वनिया इस शाखा में सुरक्षित है

आर्मेनियन—आर्य वर्ग के पश्चिम में इस शाखा की भाषाएँ स्थित हैं। इसमें ईरानी, तुर्की तथा फारसी शब्द पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। योरुप तथा एशिया की सीमा पर बोली जाने वाली फ्रीजियन इसी के अन्तर्गत है। इस भाषा का नवीन रूप प्राचीन रूप से सर्वथा भिन्न है तथा प्राचीन रूप अब भी धार्मिक कार्यों में प्रयुक्त होता है। इस शाखा पर आर्य तथा अनार्य दोनों भाषाओं का प्रभाव है।

भारत-ईरानी तथा आर्य शाखा—भारोपीय परिवार की आर्य शाखा का

महत्व अतुलनीय है । आर्यों का एक समूह ईरान की ओर बढ़ा कुछ आर्यों ने भारत में प्रवेश किया । अतः इसको भारत-ईरान की शाखा भी कहते हैं । इस शाखा के तीन उपकुल हैं—(१) भारतीय, (२) दरद तथा (३) ईरानी भारतीय आर्य शाखा की प्राचीनतम भाषा संस्कृत है तथा प्राचीन साहित्य जो वैदिक मन्त्रों के रूप में उपलब्ध है । यह परिवार प्राचीनतम साहित्यिक निधि है । यह वैदिक साहित्य डेढ़ दो हज़ार ईसा पूर्व का है । भारतीय आर्य शाखा की परवर्ती भाषाएँ प्राकृत तथा अपभ्रंश की स्थिति को पार करती हुई आज की भारतीय आर्य भाषाओं के रूप में विकसित हुई हैं । अतः इनके तीन विभाग किये गये हैं—प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक काल । ईरानी उपशाखा के अर्न्तगत पारसियों की प्राची भाषा अवेस्ता मिलती है और यह ऋग्वेदिक मंत्रों से मिलती-जुलती है । इसकी प्राचीनतम भाषा ईसा से लगभग ८०० वर्ष पूर्व की कही जाती है । दरद भाषाओं का क्षेत्र पामीर तथा पश्चिमोत्तर पंजाब है । पश्तो की तरह वाक्य-गठन की दृष्टि से दरद का स्थान ईरानी तथा भारतय भाषाओं के मध्य है । यदि पश्तो का झुकाव ईरानी की ओर है तो दरद का भारतीय भाषाओं की ओर । दरद उपवर्ग की तीन भाषाएँ हैं—खोवार, काफिर और दरद । अवेस्ता के अतिरिक्त ईरानी का प्राचीन रूप अकेमेनिद राजाओं के ५२१ ई० पू० क्यूनिफोर्म शिलालेखों में प्राप्त होते है । परवर्ती भापा पहलवी तथा प्रमुख आधुनिक फारसी हैं ।

प्रश्न २३—भारतीय आर्य भाषाओं पर अन्य भाषाओं का क्या प्रभाव पडा है ? इसको स्पष्ट करते हुए बताइए कि भारत में किन परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं ।

भारतवर्ष एक वड़ा तथा विस्तृत देश है तथा इस दृष्टि से इसको उपमहाद्वीप भी कहा जा सकता है । इसमें अनेक परिवार की भाषा तथा बोलियाँ बोली जाती हैं । इस का मात्र कारण अनेक जाति तथा देशवासियों का इस देश में खप जाना है । भारोपीय भाषाएँ तो इसी स्थान की अमूल्य सम्पत्ति हैं । इसके अतिरिक्त अभारोपीय भाषाओं में द्रविड़ कुल की भाषाएँ सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं तथा प्रातः समस्त दक्षिण भारत में इनकी व्यापक स्थिति है । अन्य भारोपीय भाषाएँ अधिकांशतः असभ्य आदिवासियों या

अर्धसभ्य जातियों का प्रतिनिधित्व करती हैं, इस प्रकार की कम ही भाषाओं
में लिखित सामग्री उपलब्ध होती है। कुछ भाषाओं के साहित्य का दर्शन लेश-
मात्र भी प्राप्त नहीं होता है। भारतीय आर्य-भाषाओं पर इन भाषाओं के
शब्द-भाण्डार, वाक्य-गठन का बहुत प्रभाव पड़ा है।

ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण के अनुसार भारत में छः वर्गों की १७९
भाषाएँ तथा ५४४ बोलियाँ बोली जाती थीं। अब करेन और मन भाषा-वर्ग
का क्षेत्र वर्मा में है। अतः उसे भारत के अन्तर्गत नहीं लिया जाता है। इन
सब भाषाओं को निम्न रूप से वर्गीकृत किया जा सकता है—

१. आस्ट्रिक या आग्नेय परिवार—(क) इण्डोनेशियन। (ख) आस्ट्रो-
एशियाटिक।

२. एकाक्षर परिवार—(क) स्यामी-चीनी। (ख) तिब्बत-बर्मी।

३. द्रविड़ परिवार।

४. आर्य परिवार अथवा भारत-ईरानी भाषाएँ।

५. विविध तथा अनिश्चित समुदाय।

१. आस्ट्रिक या आग्नेय परिवार—इस परिवार की भाषाएँ समस्त
प्रशान्त महासागर के आर पार तक फैली हुई हैं। इनका विस्तार पूर्व-पश्चिम
में मेडागास्कर से ईस्टर द्वीप तथा उत्तर-दक्षिण में उत्तरी पंजाब से न्यूजी-
लैंड पर्यन्त व्याप्त है। इन भाषाओं के बोलने वालों की संख्या कम है परन्तु
क्षेत्र अन्य परिवारों से विशाल है। इसके दो स्कन्ध हैं—आग्नेय देशी और
आग्नेय-द्वीपी। आग्नेय द्वीपी खण्ड मलय-पालेनेशियन भी कहा जाता है।
आग्नेय देशी या आस्ट्रो-एशियाटिक स्कन्ध की भाषाएँ भारत के अनेक भागों
में बोली जाती हैं। धीरे-धीरे ये लुप्त होती जा रहीं हैं। अविशिष्ट भाषाओं के
तीन विभाग किये जाते हैं—कोल या मुण्डा, मोनख्मेर या खासी तथा
निकोबारी।

भारत में इस परिवार की भाषाओं में मुण्डा सर्वाधिक प्रधान है, यह
प० बंगाल-बिहार, मध्य भारत, उड़ीसा तथा मद्रास प्रान्त के गञ्जाम जिले
तक मुण्डा तथा कोल वर्ग की भाषाएँ फैली हुई हैं। भाषाएँ अनेक स्थानों
पर द्रविड़ भाषाओं से घिरी हुई हैं। हिमालय श्रृंखला के किनारे इनका

विस्तार है और इसका एक लघु खंड शिमला पर्वत-श्रेणी तक व्याप्त है। इसे कनावरी भाषा कहते हैं। साबर भाषा साबरों (जंगली शिकारियों) की भाषा है। अन्य महत्वपूर्ण भाषाएँ संताली (बिहार, उड़ीसा, बंगाल, आसाम), मुण्डारी (बिहार में रांची के पास तथा अन्यत्र) तथा हो (सिंहभूमि जिले में) हैं। मोनख्मेर में मोन एक परिमार्जित तथा साहित्य-सम्पन्न भाषा थी, परन्तु अब यह स्याम, बर्मा तथा भारत के जंगली तथा आदिवासियों द्वारा बोली जाती है। इन भाषाओं के सातवीं से ग्यारहवीं शती के शिलालेख मिलते हैं। निकोबार द्वीप की भाषा इसी जाति की है। भारत में इससे सम्बन्धित भाषा आसाम प्रान्त में 'खासी' है। अब इस भाषा का रूप विकसित होकर भिन्न हो गया है।

भारतीय आर्य-भाषाओं पर मुण्डा-भाषाओं का प्रभाव मुंडा भाषा में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिन से भारतीय आर्य-भाषाएँ प्रभावित हुई हैं। मुंडा के प्रभाव के कारण ही बिहार में क्रिया रूपों की अत्यधिक जटिलता है। मुंडा की एक विशेषता दुहरे बहुवचन का उत्तम पुरुष सर्वनाम प्रयोग है। इसके एक प्रकार में मध्यम पुरुष को सम्मिलित कर लिया जाता है तथा दूसरे रूप में नहीं। उदाहरणार्थ—गुजराती में 'आपणे गया हता' का अर्थ 'हम (और तुम) गये थे' तथा 'अमे गया हता' का अर्थ 'हम गये थे' मिलता है, जो मुंडा का प्रभाव है। अनेक गणनावाचक सख्याओं में भी मुंडा का प्रभाव पड़ा है। 'कोरी' या 'कोड़ी' आर्य-भाषा में मुंडा शब्द 'कुड़ी' से आया है।

२. **एकाक्षर परिवार**—इसे तिब्बत-चीनी परिवार भी कहते हैं। चीनी भाषा का प्रयोग भारत में नहीं होता परन्तु तिब्बत बर्मी-भाषा का प्रयोग उत्तर भारत का पर्वतीय प्रदेश में होता है। इसकी तीन शाखाएं है—तिब्बत-हिमालयी, असमोत्तरी तथा असम-बर्मी। तिब्बत-हिमालयी शाखा में तिब्बत की मुख्य भाषाएं और बोलियाँ तथा हिमालय के उत्तरी आंचल की छोटी-छोटी बोलियां पाई जाती हैं। लद्दाख तथा कश्मीर में इसी प्रकार की बोलियाँ हैं। असमी-बर्मी शाखा में बर्मी तथा असमी के सीमान्त की छोटी-छोटी बोलियाँ सम्मिलित हैं। जैसे लुशेई मिश्मी (उ० यू० आसाम), मेइथेइ (मनीपुर), अक (भूटान के पूर्व में)। असमोत्तरी आसाम के उत्तरी भाग में बोली जाती है। तिब्बत भाषा की कई गौण बोलियां भारतीय सीमा प्रदेश में प्रचलित हैं।

प्रभाव—स्यामी भाषा में उपसर्गों का अब प्रयुक्त होता भारतीय प्रभाव है। नेपाल की प्रधान बोली नेवरी पर भारतीय संस्कृत तथा मैथिली साहित्य का काफी प्रभाव है। एकाक्षर वर्ग की भाषाएँ स्थान प्रधान हैं, भारतीय भाषाओं में कहीं-कहीं स्थान प्रधान होने की विशेषता पाई जाती है। पहाड़ी भाषाओं पर इनका अधिक प्रभाव है।

३. द्रविड़ परिवार—भारत में आर्य-भाषाओं के पश्चात् इस परिवार की भाषाओं का अत्यधिक महत्व है। अधिकांशतः यह मुण्डा से भिन्न है। इसका साहित्य अत्यधिक विकसित तथा उन्नत है। इन भाषाओं में तामिल, मलयालम, कन्नड़ तथा तेलुगू भाषाएँ प्रमुख हैं। इस परिवार की भाषाओं में तामिल का वाङ्मय सर्वाधिक उन्नत और विशाल है तथा इसमें साहित्य की रचना आठवीं शती से चली आ रही है। तामिल की पुत्री मलयालम है जो ९वीं शताब्दी में तामिल से पृथक् हो गई थी। भारत के दक्षिणी-पश्चिमी समुद्र तट पर अब भी बोली जाती है। इसका साहित्य अच्छा है तथा ब्राह्मणों के प्रभाव से यह संस्कृत निष्ठ हो गई है। कन्नड़ मैसूर की भाषा है। इसका काव्य तथा साहित्य प्राचीन है तथा लिपि में तेलुगू के निकट है। तेलुगू अथवा आन्ध्र भारत के दक्षिण पूर्व क्षेत्र में बोली जाती है। इसके शब्द स्वरान्त तथा भाषा मधुर है। जनसंख्या में यह इस कुल की सबसे बड़ी भाषा है। इस वर्ग की भाषाएँ प्रत्यय संयोग प्रधान तथा अनेकाक्षर होती हैं।

आर्य भाषाओं पर प्रभाव—आर्य परिवार (संस्कृत) में मूर्धन्य ध्वनियाँ (टवर्ग) इसी परिवार के प्रभाव से आई प्रतीत होती हैं। लकार (गल=गर) और र का ल (हरिद्रा=हल्दी) में भी इन भाषाओं का प्रभाव दृष्टिगत है। द्रविड़ भाषा के प्रभाव से मराठी आदि में अब भी तीन लिंग प्राप्त होते हैं। आर्य भाषाओं में सोलह पर आधारित माप भी इसी परिवार की देन है, यथा सेर-छटाँक, रुपया, आना। भारतीय भाषाओं में अरबी, कठिन, कोण, उलूखल, मीन, नीर, आलि आदि अनेक शब्द इस वर्ग से ही आए हैं तथा उनमें तिङन्त की अपेक्षा कृदन्त रूपों का अधिक प्रयोग भी इन्हीं भाषाओं के कारण है।

४. आर्य-परिवार—प्रायः इन भाषाओं का क्षेत्र उत्तरी भारत है, दक्षिणी

भारत में कोंकणी भाषा भी इसी का रूप है। इस परिवार की भारत में प्रचलित भाषाएँ तीन हैं—ईरानी, दरद और भारतीय। ईरानी भाषा का फारसी रूप अब भी साहित्यिक रूपों में प्रयुक्त होता है। उर्दू और खडी बोली में भी इसके अनेक शब्द हैं। पर यह बोली नहीं जाती है। दरद भाषा को पिशाच या पैशाची भी कहा गया है। भारत में अब इसका प्रभाव लहँदा, सिन्धी, पंजाबी और सुदूर कोंकणी मराठी पर भी यथेष्ट लक्षित होता है। 'काश्मीरी' भाषा का विकास पैशाची अपभ्रंश से माना जाता है। पर इस पर संस्कृत का यथेष्ट प्रभाव है।

भारतीय भाषाओं का सर्वाधिक आधिपत्य उत्तरी भारत में है। इसका साहित्य भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। वैदिक संस्कृत से हिन्दी पर्यन्त इसका विकास अक्षुण्ण चला आ रहा है जो इन भाषाओं की महानता का सूचक है। ग्रियर्सन का विभाजन भारतीय भाषाओं पर आधारित है। हिन्दी का क्षेत्र बहुत व्यापक है तथा राष्ट्र-भाषा के कारण अन्य प्रान्तीय भाषाओं पर इसका प्रभाव है। आर्य परिवार का पाचीनतम प्रामाणिक साहित्य इसी शाखा में उपलब्ध है जो भाषा-विज्ञान के लिए एक महत्वपूर्ण सामग्री का कार्य करता है। यों तो हिन्दी की बोलियों में अंग्रेजी, फ्रेंच, पुर्तगाली, अरबी आदि के शब्द भी घुलमिल गये हैं। इस दृष्टि से इनका प्रभाव दर्शनीय है।

५. विविध या अनिश्चित समुदाय—इसमें कुछ भारत में बोली जाने वाली वे भाषाएँ आती हैं, जिनको किसी वर्ग या परिवार में रचना या रूप के अत्यधिक सम्मिश्रण के कारण नहीं रखा जा सका है। सुमेरी भाषा का सम्बन्ध कुछ विद्वानों ने हड़प्पा और मोहनजोदड़ों की सभ्यता से स्थापित किया है। दो भाषाओं का क्षेत्र भारत में है उनमें एक अंडमनी है। यह अंडमन द्वीप की भाषा है। दूसरी 'बुरुशास्की' या खजुना है। इसका क्षेत्र काश्मीर के उत्तरी-पूर्वी कोने पर है। द्रविड़ या आस्ट्रिक से इसका सम्बन्ध-सूत्र स्थापित करने का प्रयास निष्फल हुआ है।

प्रश्न २४—मूल (आदिम) भारोपीय भाषा की संस्कृत भाषा के साथ तुलना करते हुए उसकी अक्षरमाला, ध्वनियों और उदासीन स्वर (neutral vowel) की कल्पना पर प्रकाश डालिए।

भारोपीय परिवार की समस्त शाखाओं में कुछ ऐसी निकट समानताएँ हैं, जिनके कारण इन्हें एक परिवार में सम्मिलित किया जाता है । उदाहारणार्थ —

संस्कृत ग्रीक लैटिन जर्मन अँगेजी स्लावोनिक गाँथिक
१. पितृ (पितर), पतेर, (Pater), पतेर, वातेर (vater), फादर (father)
२. भरामि, फँरो (Phero), फेरो (fero)—वीयर (Bear), वेरिन (beran),
३. वृकान्, लुकोउस (lukous lukons) लुपोस (lupos) वुल्वस (wolves)
वुल्फोन्स (wulongs)

उपर्युक्ता सभी शब्दों में एक पदान्तता पाई जाती हैं। ग्रीक तथा लैटिन में तो व्यंजन ध्वनियाँ भी संस्कृत के समान ही हैं । ध्वनि-नियमानुसार जर्मन तथा अंग्रेजी ध्वनियों में परिवर्तन हो गया है । यद्यपि इन भाषाओं में अपनी-अपनी निजी विशेषताएँ हैं अपितु इन सब समानान्तर रूपों में हम एक समान सूत्र की कल्पना कर सकते हैं। वह क्रमश: १* प्अतेर (*pater), २* भरे-(bher) तथा ३* व्लृकोन्स (*wolk-ons) हो सकते हैं । तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् निश्चित किया हुआ यह रूप भारोपीय परिवार की काल्पनिक आदिम भाषा (Ursprach) का माना गया है। रूप, अर्थ, अपश्रुति तथा विभक्ति आदि के समान व्याकरणात्मक सम्बन्ध के विवेचन के आधार पर कुछ विद्वानों ने इस आदिम भारोपीय का अनुमान लगाया है। भारोपीय परिवार की विद्यमान विभिन्न प्राचीन भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध के अनुसार इसे भारोपीय भाषाओं का आदि स्रोत तथा जननी के रूप में कल्पित किया है। कल्पित रूप होने के कारण इस भाषा शब्दों को तारक चिन्हित (*) कर दिया जाता है। ग्रीक लैटिन तथा संस्कृत (वैदिक) आदि का मातृत्व इसे अनुमानित रूप से सौंप दिया गया है ।

मूल भारोपीय ध्वनियां— इन आदिम ध्वनियों का अस्तितत्व अभी विवादास्पद है । डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, डा० सुकुमार सेन, डा० बाबूराम सक्सेना, डा० उदयनायण तिवारी आदि ने विदेशी पुस्तकों के आधार पर इन ध्वनियों का विवरण दिया है ।

(१) स्वर

शुद्ध या मूल स्वर—(क) अति ह्रस्व या दुर्बल स्वर 'अ' (a) ।

(ख) ह्रस्व स्वर अ, ऐ, ओ ।
(ग) दीर्घ स्वर आ, ऐ, औ ।

संयुक्त स्वर— संयुक्त स्वरों की संख्या छत्तीस थी जो उपर्युक्त स्वरों के साथ इ, ऋ, लृ, उ, न्, म् के मेल से बने थे, जैसे अइ, अऋ, 'आलृ' तथा 'ओउ' आदि।

समीक्षा—ग्रीक में दुर्बल 'अ' को छोड़कर शेष छः शुद्ध स्वर प्राप्त होते हैं परन्तु संस्कृत में आकर अ तथा उसका दीर्घ रूप आ ही शुद्ध रूप में उपलब्ध होते हैं तथा अन्य स्वर इन्हीं में अर्न्तहित हो गये हैं उदाहरणार्थ—

संस्कृत	ग्रीक	आदिम भारोपीय
अ=ऐ भरामि	फेरो (phero)	*भेर (*pher)
अ=ओ अष्ट	ओक्तो (octo)	*ओक्तो (*oco)
आ=ओ ज्ञातः	*ग्नोतोस् (*gnotos)	*ग्नतोस् (*gn-tos)

संस्कृत ए, ओ, य, ए, औ शुद्ध भारोपीय स्वर न होकर ध्वनि-युग्मों से जनित हैं।

उदासीन या दुर्बल स्वर (NeutralV owel)—यह उदासीन या दुर्बल स्वर (a) है। यह दुंर्बल इसलिए कहा जाता है क्योंकि मात्रा की दृष्टि से यह ह्रस्व का भी आधा है। इसका उच्चारण अस्पष्ट होता है। योरोपीय भाषाओं में इसे 'श्वा' (Nehwa) कहा जाता है तथा ई (e) को उलट कर लिखते है। इसकी कल्पना का कारण यह कि जहाँ अन्य भारोपीय भाषाओं में 'अ' स्वर पाया जाता है वहां भारत ईरानी शाखा में कई समानान्तर शब्दों में 'इ' हो जाता है। यदि आ० भा० यू० में 'अ' माना जाय, तो भारतेरानी वर्ग में 'अ' अवश्य होना चाहिए था। उदाहरणार्थ—ग्रीक शब्द पतेर (pater) का सस्कृत में समकक्ष शब्द पितृ (पितर) है। यदि मूल भा[illegible]ा में 'अ' स्वर होता तो संस्कृत में *पतृ (पतर) रूप होना चाहिए था, वह नहीं मिलता। अतः स्पष्ट होता है शब्द में मूलस्वर 'अ' (a) नहीं था। इसीलिये उसे अ (a) माना गया है। इस शब्द का भारोपीय मूल रूप *पअतेर (pater) रहा होगा।

अन्तस्थ—य् (इ), व् (उ) र् (ऋ), ल् (लृ), न् (न), म् (म)। आदिम भारोपीय भाषा में ये छः अन्तःस्थ कल्पित किये गये हैं। अन्तःस्थ

वे अपवादपूर्ण व्यंजन हैं जो कभी-कभी अक्षर-संघटन (Syllabic Function) में स्वर का भी काम करते हैं। इनके स्वर रूप ऊपर कोष्ठक के अन्दर दिये गए हैं। मात्रा की दृष्टि से इनके रूप, ह्रस्व, दीर्घ तथा शून्य प्राप्त होते हैं। इनका प्रयोग संयुक्त स्वर की भाँति ध्वनि-युग्मों (अय्, ऐय्, ओय्, एय्, ओय् आदि) में भी पाया जाता है।

(३) व्यंजन—अघोष अल्पप्राण, अ० महा०, सघोष अल्प०, स० महा०

(क) स्पर्श—(१)

१. कवर्ग (i) (कण्ठ्य) क् (k), ख (kh), ग् (g) घ् (hg)

(ii) (तालव्य) क्य् (k) ख्य् (kh), ग्य् (g), घ्य् (gh)

(iii) (कंठोष्ठ्य) क्व् (k), ख्व् (kh) ग्व् (g), घ्व् (gh)

२. तवर्ग (दन्त्य) त्, थ्, द्, ध्,

३. पवर्ग (ओष्ठ्य) प्, फ्, ब्, भ्,

(ख) ऊष्म—स (ज़)

डा० चैटर्जी (i) को पुर-कण्ठ्य तथा (ii) को पश्चकण्ठ्य मानते हैं। अतः इस विषय में भी मतभेद है। तवर्ग को कुछ दन्तमूलीय या वर्त्स्य भी मानते हैं। 'ह' ध्वनि के सम्बन्ध में मतभेद है कुछ विद्वान् इसके दो रूप 'घोष' और 'अघोष' मानते हैं कुछ हित्ती के आधार पर एक उष्म या संघर्षी व्यजनों में 'स' के अतिरिक्त क, ख़, ग, घ, त्, थ्, द्, ध्, भ् अन्य संघर्षी व्यंजन का भी अनुमान लगाते हैं।

इसमें ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ भी हैं। स्वरों के अनुनासिक रूपों का प्रयोग नहीं होता था जैसे अँ इँ आदि। दो या अधिक मूलस्वर एक साथ नहीं आ सकते थे। संधि के नियम लागू होते थे। दो या अधिक व्यंजन का एक साथ आना संभव था।

भारोपीय मूल भाषा की व्याकरण सम्बन्धी विशेषताएँ—धातु में प्रत्यय जोड़कर शब्द बनते थे। रूपों के आधिक्य तथा पद-रचना बड़ी जटिल थी। प्रारम्भ में उपसर्ग तथा मध्यसर्ग का प्रयोग नहीं होता था। संज्ञा, क्रिया और अव्यय अलग-अलग होते थे। विशेषण तथा सर्वनाम संज्ञा के अन्तर्गत ही आते थे तथा अव्यय भी विकारी होते थे। सर्वनामों के विविध रूप थे। संस्कृत के

अनुसार तीन पुरुष, तीन लिंग तथा तीन वचन थे। पहले प्राकृतिक लिंग थे तथा उनका प्रयोग संज्ञा में ही होता था। आठ विभक्तियां थीं तथा समास-रचना में उनका प्रयोग छोड़ दिया जाता था। काल चार थे। क्रिया में उसके किये जाने और फल का विचार था और काल का गौण। आत्मनेपद तथा परस्मैपद दो वाच्य थे। सुर का प्रयोग प्रचलित था तथा भाषा सगीतात्मक थी। पद-रचना में अपश्रुति (ablaut) तथा स्वरक्रम (Vowel-gradation) का योग महत्त्वपूर्ण था। सम्बन्ध तत्व तथा अर्थतत्व का नीर-क्षीर-सम्मिश्रण था उनको अलग करना कठिन कार्य था। मूल भाषा की प्रवृत्ति अन्तर्मुख श्लिष्ट-योगात्मक थी।

आदिम भाषा की वैदिक संस्कृत से तुलना करने पर संस्कृत तक आते-आते ध्वनियों में पर्याप्त विकार आ गया था। व्यंजनों में चवर्ग और टवर्ग दो नये वर्ग आ गये थे। ष, श, नई ध्वनियां आ गई थीं। कवर्ग की केवल एक कंठ्य ध्वनि रह गई थी। स्वरों में भी पर्याप्त परिवर्तन हुआ। व्याकरणिक विशेषताओं में भी थोड़ा सा विकास संस्कृत भाषा में लक्षित होता है।

प्रश्न २५—अवेस्ता वैदिक और लौकिक सस्कृत का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कीजिए।

वैदिक संस्कृत तथा अवेस्ता के अध्ययन से तथा साथ ही नूतन गवेषणाओं से यह सिद्ध हो गया है कि वैदिक सस्कृत और अवेस्ता एक ही पिता की दो पुत्री है। ईरानी और वैदिक आर्यों के पितामह एक ही भाषा बोलते थे। यह अब निर्विवाद रूप से सत्य प्रतीत हो रहा है। दोनों भाषाओं का अति निकट का सम्पर्क तथा-चोली दामन का साथ है। अतः इन दोनों भाषाओं के संक्षिप्त परिचय और पारस्परिक सम्बन्ध पर आगे दृष्टिपात करेंगे।

ईरानी अथवा अवेस्ता—ईरानी में साहित्य-रचना बहुत पहले से प्रारम्भ हो गई थी परन्तु अब सब वाङ्मय या तो नष्ट हो गया था जला डाला गया। पारसी धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' में ईरानी का प्राचीनतम रूप उपलब्ध है। इसकी भाषा वैदिक मंत्रों से मिलती-जुलती है। इसके अतिरिक्त हख्मानी बादशाहों के ६वीं शताब्दी के कुछ पुराने शिलालेख भी मिलते हैं। अवेस्ता बैक्ट्रिया की राजभाषा थी। अवेस्ता का अर्थ 'शास्त्र' है। ऋग्वेदिक ऋचाओं के अनुरूप

अवेस्ता में गाथा (प्रार्थनाएँ), यज्न (यज्ञ), विस्पेरद (कर्मकाण्ड) तथा
वेन्दिदाद (प्रेतादि विरोधी नियम) उल्लिखित हैं। ईरानी की मध्यकालीन
भाषा पहलवी थी जिसमें अवेस्ता की टीका मिलती है। ईरान के पश्चिमी
भाग की भाषा प्राचीन फारसी थी। यह भाषा अवेस्ता के कुछ बाद की है।
डेरियस प्रथम (ई० पू० ५२१ से ४५५) आदि ऐकेमेनियन राजाओं के खुदवाये
कीलाक्षर अभिलेखों में इसका स्वरूप सुरक्षित है। अवेस्ता से इसका साम्य
अधिक है। अतः संस्कृत के भी यह अधिक निकट है। आधुनिक फारसी
हिन्दी की भांति वियोगात्मक या व्यवहित हो गई है। इसमें फिरदौसी का
शाहनामा प्रसिद्ध है। अनेक विदेशी शब्दों का प्रभाव भी इस पर पड़ा है।
बलूची, पश्तो इसी कुल में आती हैं।

वैदिक और लौकिक संस्कृत—इन दोनों भाषाओं के लिए संस्कृत शब्द
का प्रयोग होता है। वैदिक भाषा को 'वैदिकी', छन्दस्' या प्राचीन संस्कृत
भी कहते हैं। ऋग्वेद संहिता में प्राचीनतम संस्कृत का रूप प्राप्त होता
और वह भी प्रथम और दसवें मण्डल को छोड़कर। ये दोनों मण्डल बाद की
रचना हैं। इसी भाषा का रूप अवेस्ता के अधिक निकट है। अन्य वैदिक
साहित्य में अन्य संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक तथा प्राचीन उपनिषद् सम्मिलित
हैं, परन्तु ये सब ऋग्वेद के बाद की कृतियां हैं और प्रो० मेय्ये के मतानुसार
इसका रचना काल आर्यों के मध्य देश पहुँचने पर हैं। पूर्व में आर्य लगभग
८००, ९०० ई० पू० पहुँचे थे। उस समय भी वैदिक साहित्य की रचना हो
रही थी। यह इस समय की बोलचाल की भाषा का साहित्यिक रूप है।
आगे चलकर यही वैदिक संस्कृत लौकिक संस्कृत में पल्लवित हो गई थी।
पांचवीं शताब्दी पूर्व इस संस्कृत के साहित्यिक और बोलचाल के दोनों ही रूप
प्रचलित थे। इन बोलचाल रूप-स्वरूपों से अनेक भौगोलिक बोलियां पैदा हुईं,
जो आगे विभिन्न प्राकृतों, अपभ्रंसों तथा आधुनिक आर्य भाषाओं के जन्म का
कारण बनीं। आगे प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि मुनि ने इसका संस्करण व्याकरण
के सूत्रों में बद्ध किया। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत को बोलचाल की
भाषा नहीं माना है, परन्तु डा० भंडारकर और डा० गुणे ने इस मत का
खण्डन किया और अनेक तर्कों से इसे बोलचाल की भाषा सिद्ध किया।

संस्कृत का वाङ्मय में प्रयोग रामायण काल से लेकर मुगल-काल तक रहा। इस भाषा के अगणित शब्द समीपवर्ती देशों की भाषा, तिब्बती, चीनी, जापानी आदि में सन्निहित हो गये। संस्कृत का साहित्य विश्व के सर्वाधिक सम्पन्न साहित्यों में से एक है। इसने अनेक भाषाओं को अनेक दृष्टियों से प्रभावित किया है।

संस्कृत और अवेस्ता में साम्य—आर्य भाषाओं में एक प्रकार से अनुरूपता तथा व्याकरण की दृष्टि से अत्यन्त सान्निध्य की भावना मिलती है, जो इसे अन्य शाखाओं से पृथक् करती है। दोनों भाषाओं का तुलनात्मक साम्य निम्न दृष्टि-बिन्दुओं से देखा जा सकता है।

(१) ध्वन्यात्मकता की दृष्टि से आर्य शाखा की इन दोनों भाषाओं—संस्कृत और अवेस्ता में प्राचीन भारोपीय ऐ, ओ, अ का भेद नहीं रहा है। समस्त भारोपीय मूल स्वर *अ, *ऐ और *ओ (ह्रस्व या दीर्घ) आर्य-भाषाओं में 'अ' (ह्रस्व या दीर्घ) संस्कृत अ या आ हो जाते हैं, परन्तु ग्रीक आदि में इनका भेद बना रहा है। उदाहरार्थ—

भारोपीय	संस्कृत अवेस्ता	ग्रीक	लेटिन
*नेभास (ne'bhos),	नभस, नवह	नेफोस (nephos),	नेबूला (nebula)
*अस्थ (osth),	अस्थि, स्त (ast),	ओस्तेओन (oste'on),	os
*एपो (apo),	आपस्. अप	एपो (apo)	
*ऐक्वोस (ekwos)	अश्वः, (aspo),	हेप्पोस (heppos),	ऐक्वस (epuus)

(२) भारोपीय उदासीन स्वर अ (स्वा a) दोनों भाषाओं में 'इ' हो जाता है। परन्तु यह विकार अधिकतर ग्रीक ध्वनि दीर्घ स्वर ए, ओ, आ के अपश्रुति जनक रूप में आर्य वर्ग में 'अ' के स्थान में 'इ' हो जाता है। यथा—

भारोपीय	सं०	अवे०	ग्री०	ले०
पते (rate)	पिता	पिता	पातेर (pater)	पतेर
धे (dhe) धातु मे हितः			थेतोस् (thetos)	

(३) संस्कृत, अवेस्ता में 'र' (ऋ) और 'ल' (लृ) मूल भारोपीय ध्वनियाँ परिवर्तित हो जाती हैं। भारोपीय भाषा में इन दोनों में अधिक भेद

नहीं था (रलयोरभेदः)। जैसे।—

भारोपीय	सं०	अवे०	ग्री०	ले०
*उल्क्वोस (ulquos)	वृकः	वह्र्को (vahrko)	लुकोस्	(lukos) लुपुस (lupus)
*रुंक (runc)	लुञ्चामि—	ओरुसो (orusso)		रुनकर (runcare)
*Leighmi	रेह्मि (वै० सं०)—leicho लेह्मि (लौ० सं०)			लिंगो (lingo)

संस्कृत में लृ पर आधारित एक धातु क्लृप् उपलब्ध होती है।

(४) संस्कृत और अवेस्ता दोनों में ही भारोपीय मूल स् ध्वनि इ, उ र तथा कंठ्य ध्वनियों के परे क्रमशः ष् और श् में परिवर्तित हो जाती है। उदाहरणार्थ—

भा०	स०	अवे०
*स्थिस्थामि	तिष्ठामि	हिस्तैति
*जिउस्टर	जोष्टा	ज ओ शो (zao sa)

(५) दोनों भाषाओं में षष्ठी बहुवचनान्त 'नाम्' प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। यथा—

संस्कृत	अवेस्ता
तर्त्यानाम्	मश्यानाम् (Masyanam)
वसूनाम्	वोहुनम् (Wohunam)

(६) इन दोनों भाषाओं में आज्ञात्म (लोट्) रूपों के लिए अन्य पुरुष में '—तु' और 'न्तु' प्रत्यय मिलते हैं, जैसे—संस्कृत के भरमु, भरन्तु अवेस्ता में वरतु, वर अन्तु होते हैं।

(७) मूल भारोपीय के प्रथम श्रेणी के कण्ठ्य या पुरःकण्ठ्य क् (क्य), ख (ख्य), ग (ग्य), घ् (घ्य) भारत-ईरानी शाखा में क्रम से श, श्ह, ज, ज्ह हो गये। धीरे-धीरे संस्कृत में ये श्, ज्, और ह हो गये और ईरानी में स, ज, ज्ह हो गये।

(८) मूल या भारोपीय के तृतीय श्रेणी के कंठ्य या कंठोष्ठ्य क (क्व), ख् (ख्व्), ग् (ग्व्) घ् (घ्व्), आर्य शाखा में शुद्ध कंठ्य क, ख, ग, घ हो गये

और परे इ, ए स्वर के होने पर च्, छ्, ज्, झ् हो गये।

(९) सस्कृत तथा अवेस्ता में समान रूप तथा समानार्थी अनेक शब्द हैं, जैसे सस्कृत ओजस् का अवेस्ता में ओज:, अनु अन्य, का अनुअन्य, ददामि का ददामि आदि।

(१०) दोनों भाषाओं की रूप-रचना तथा संघटना इतनी समान है कि अवेस्ता की गाथा की भाषा को कतिपय ध्वनि नियम सम्बन्धी परिवर्तनों के आधार पर वैदिक सस्कृत के रूप में बदला जा सकता है। उदाहरणार्थ—

अवेस्ता = संस्कृत

सूरं दामोहू शविस्तम् = शूरं धाममु शविष्ठम्। आदि।

संस्कृत तथा अवेस्ता में अन्तर—दोनों के कुछ रूपों में अन्तर भी है।

(१) संस्कृत में टवर्ग है जबकि अवेस्ता में नहीं है।

(२) भारतीय में चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्,) ध्वनियाँ हैं, जबकि ईरानी में केवल च् तथा ज् हैं।

(३) पांचों वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ महाप्राण वर्ण अवेस्ता में नहीं हैं।

(४) अवेस्ता में 'ल' के स्थान पर 'र' ध्वनि है जैसे श्रील:=स्रीरो।

(५) ईरानी में स्वरों का बाहुल्य है। भारतीय 'अ' 'आ' की जगह उसमें आठ स्वर हैं।

(६) संस्कृत का ऋ अवेस्ता में अर्, र् या अ है। जैसे, वृक्षम्=वरेशेम्, श्रेष्ठ= स्रराश्त।

(७) संस्कृत घोष महाप्राण घ्, ध्, भ् ईरानी में अल्पप्राण ग्, द्, ब् प्राप्त होते हैं। यथा—

भूमि=बूमि (bumi), धेनु=दएनु (daenu) घर्म=गर्म (garm)।

(८) संस्कृत के अघोष अल्पप्राण क्, त्, प् तथा अघोष महाप्राण ख्, थ्, फ् ईरानी में सोष्म या संघर्षी ख्, थ्, फ् हो गये हैं। जैसे—क्रत्वा=ख्थ्वा (xraowa), स्वप्न=ह्वफनम् (xafnem), सत्य:=हइथ्यो, शफ=सफ (safa) यथा=यया (yada), सखा=हख् (haxa)

(९) आदि स्वरागम और अपिनिहित भी अवेस्ता में संस्कृत की अपेक्षा अधिक हैं—

भरत=बरइति तथा भवति=बवइति आदि।

(१०) संस्कृत पदादि (शब्द के आदि की) स अवेस्ता में ह पाया जाता है। संस्कृत पदादि 'श' अवेस्ता में 'स' होता है तथा सं०—ष अवेस्ता में श मिलता है। संस्कृत पदादि 'ह' वहाँ 'ज़' हो जाता है। उदाहरणार्थ—सप्त=हप्त, सिंधु=हिन्दु, शरत् (द्)=सर्अद(saradu), जोष=जोष्ह=ज़ओश (xaosa), हस्त=ज़स्त, (zasta) हन्ति=ज़इन्ति।

वैदिक और लौकिक संस्कृत की सामान्य-विशेषताएँ

(१) भाषा श्लिष्ट योगात्मक थी। (२) वैदिक और लौकिक संस्कृत की ध्वनियों में थोड़ा सा अन्तर था। लौकिक संस्कृत में ऋ, ॠ, ऌ का उच्चारण स्वर रूप में निश्चित नहीं रहा। ळ, ळ्ह, जिह्वामूलीय और उपाध्मानीय ध्वनियों का प्रायः लोप हो गया था। (३) शब्दों मे मूल धातु का अर्थ प्रायः सुरक्षित था। लौकिक संस्कृत तक आते-आते कतिपय अंशों में अर्थ-परिवर्तन आरम्भ हो गया था। (४) वैदिक संस्कृत में संगीतात्मकता का बाहुल्य था। गौण रूप से स्वराघात से कहीं-कहीं अर्थ बदल जाते थे। संस्कृत में संगीतात्मकता के लोप से स्वाराघात का प्रमुख स्थान हो गया। (५) वैदिकी में रूप-रचना अत्यन्त जटिल थी। रूपों की अधिकता थी तथा इसके फलस्वरूप अपवाद भी पयाप्त सख्या में थे। पाणिनि आदि वैयाकरणों ने लौकिक संस्कृत को नियमबद्ध किया जिससे अपवादों और रूपों की संख्या अपेक्षाकृत कम हो गई। (६) भाषा में तीन लिंग, तीन वचन तथा सर्वनाम के तीन पुरुष थे। (७) वाक्य में शब्द का स्थान निश्चित नहीं था। वह वाक्य में कहीं भी प्रयोग किया जा सकता था। उपसर्ग का मूल शब्द से पृथक् प्रयोग वैदिक भाषा में अधिक प्रचलित या लौकिक में आते-आते कम हो गया। (८) वैदिक संस्कृत का शब्द-भाण्डार अधिकांशतः तत्सम शब्दों का था। किन्तु तद्भव, देशज या विदेशी शब्द भी थे। तद्भव शब्दों का भाषा में आगमन प्राकृत या बोलचाल के प्रभाव के कारण था, जैसे – स्वर्ग – सुवर्ग, स्वर्ण—सुवर्ण आदि विदेशी शब्दों में द्रविड़ तथा अष्ट्रिक आदि के सैकड़ों शब्द हैं, जैसे—कदली, नाग, ताम्बूल, कुण्ड, तूल, नीर, दण्ड, सूर्य आदि।

प्रश्न २६—प्राकृत क्या है ? प्राकृत, पालि की भाषागत विशेषताएँ बताइये और इनका सम्बन्ध संस्कृत तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं से निर्धारित कीजिए।

अथवा

'संस्कृत प्राकृत भाषाओं की जननी है' इस कथन का युक्तियुक्त उत्तर दीजिए।

पालि तथा प्राकृत दोनों ही भारतीय भाषाओं का उद्भव वैदिक संस्कृत के पश्चात् होता है। सर्वप्रथम हम पालि के विषय में विवेचन करते हैं। मध्यम आर्य-भाषाओं के प्रथम युग की महत्त्वपूर्ण भाषा 'पालि' है तथा इसका समय छठी शताब्दी ई० पू० से पहली शती ईसवी तक माना जाता है।

पालि का नामकरण

'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। 'पालि' शब्द भाषा के लिए प्रयुक्त न होकर 'बुद्ध-वचन' के लिए प्रयोग किया गया है। इसका उल्लेख चौथी सदी के ग्रन्थ 'दीप बंस' तथा आचार्य बुद्धघोष के द्वारा किया गया है। भाषा के रूप में मागधी या मगध भाषा का व्यवहार होता था। भाषार्थ में 'पालि' का प्रयोग अति अर्वाचीन है और पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा किया गया है। 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति में कुछ प्रमुख मत उल्लेखनीय हैं। कुछ यूरोपियन विद्वानों ने प्रलि (prali) से 'पालि' की व्युत्पत्ति मानी है जिसका अर्थ पुस्तक-पृष्ठों की पंक्तियाँ हैं। श्री विधुशेखर भट्टाचार्य के अनुसार इसका सम्बन्ध 'पंक्ति'7पन्ति पत्ति7पट्ठि 7पल्लि7पालि7 से है। भिक्षु सिद्धार्थ सं० शब्द 'पाठ' पालि7 पालि (पालि में संस्कृत 'ठ' का 'ल' हो जाता है) से मानते हैं। इन सबका अर्थ बुद्धपाठ या बुद्ध-वचन है, बाद में यह भाषा के अर्थ में विकसित हो गया। कुछ विद्वानों के मतानुसार 'पल्लि' (गांव की भाषा) से पालि बना है क्योंकि संस्कृत की तुलना में यह गाँव की भाषा थी। कुछ इसको 'प्राकृत'(>पाकट 7पाअड7पाअल7पालि) का ही विकसित रूप मानते हैं। 'पा रालेति तक्खतीति' के अनुरूप ही बौद्ध विद्वान कौशाम्बी ने इसका सम्बन्ध—पाल्= रक्षा करना से माना है। एक मत से 'प्रालेय' या 'प्रालेयक' (पड़ोसी) से पालि का सम्बन्ध है। रजवाड़े ने 'प्राकट (पाअड7पाअल7पालि) से इसकी

व्युत्पत्ति का उल्लेख किया है। डा० मैक्सवेलेसर ने 'पालि' को 'पाटलि (पाटलीपुत्र की भाषा) से व्युत्पन्न माना है। भिक्षु जगदीश कश्यप ने इसका विकास परियाय (सं० पर्याय) (7पलियाय7पालियाय7पालि) से माना है। धम्म-परियाय का प्रयोग बुद्ध-उपदेश के लिए बौद्ध साहित्य में प्राप्त होता है।

पालि भाषा—पालि भाषा का सम्बन्ध मागधी से जोड़ा जाता है क्यों कि बुद्ध भगवान ने इसी भाषा में अपने उपदेश दिये थे। कुछ विद्वानों की राय में यह उज्जयिनी, मध्य-प्रदेश, कलिंग तथा कौशल की भाषा थी। विंडिश और गाइगर 'पालि' को तत्कालीन सम्पूर्ण देश की अन्तर्प्रान्तीय परिनिष्ठित भाषा के रूप में मानते हैं। यही कारण है कि मागधी के अतिरिक्त अनेक भाषाओं के रूप भी उपलब्ध होते हैं। मध्य-प्रदेश की समीपवर्ती बोल-चाल की भाषा के रूप में इसे माना जाता है तथा अन्य बोलियों का इस पर प्रभाव पड़ा हो। पालि-साहित्य में बौद्ध-दर्शन, काव्य, कथा आदि का विवरण है। जातक धम्पद, अट्ठकथा, महावंश आदि ग्रंथ प्रमुख हैं। पालि ने लंका, बर्मा तथा स्याम की भाषाओं पर अपना अमित प्रभाव डाला है।

संस्कृत और पालि—संस्कृत और पालि दोनों ही मध्यकालीन भाषाओं का उद्भवस्थान वैदिक भाषा हैं। दोनों की ध्वनियों में पर्याप्त अन्तर मिलता है। वैदिक ध्वनियाँ ळ, ळह पालि में सुरक्षित हैं जब कि संस्कृत में ये लोप हो गईं। व्यंजनों में अघोष का सघोष हो जाना, (क7ग, च7ज, थ7 ध) श, ष का स हो जाना भी 'पालि' की एक विशेषता है। पालि से कुछ वैदिक ध्वनियाँ लुप्त भी हो गयीं। यथा7ऋ, ॠ, लृ, ऐ, औ, श, ष, विसर्ग या अघोष ह, जिह्वामूलीय उपध्मानीय ये दश ध्वनियाँ लुप्त हो गयी। स्वर-भक्ति, समीकरण, विषमीकरण, विपर्यय आदि ध्वनि-परिवर्तन की प्रवृत्ति के संकेत हमें 'पालि' से मिलने प्रारम्भ हो गये थे। ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ दो नई ध्वनियाँ भी विकसित हुई। अनेक बोलियों के तत्वों के रहते हुए 'पालि' भाषा वैदिक संस्कृत के अधिक निकट है, पालि साहित्य का विकास उत्तरोत्तर चार रूपों में हुआ। साहित्य की प्रथम रूप में भाषा वैदिक संस्कृत के अधिक निकट थी। परन्तु अन्तिम रूप-तरणि के साहित्य पर संस्कृत का यथेष्ट प्रभाव पड चुका था।

'पालि' भाषा में तद्भव शब्दों का बाहुल्य है। तत्सम तथा देशज अपेक्षाकृत मात्रा में कम हैं। संगीतात्मक स्वराघात की स्थिति इस भाषा में अनिश्चित सी है। ग्रियर्सन के मतानुसार इसमें केवल बलात्मक स्वराघात था। लिंग तीन थे। द्विवचन तथा आत्मनेपद रूप कम ही थे। 'पालि' में स्वर-परिवर्तन संस्कृत की अपेक्षा अधिक था।

प्राकृत भाषाएँ—हेमचन्द के अनुसार प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से हुई है। नमि साधु सामान्य लोगों के वचन-व्यापार को प्राकृत का आधार मानते हैं। प्राकृत की व्युत्पत्ति 'प्राक् + कृत' (अर्थात् संस्कृत से पूर्व बनी हुई) से मानते हैं। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि एक भाषा का संस्कार करके उसके रूप को संस्कृत का नाम दिया गया, वह भाषा जो असंस्कृत थी और पंडितों या विद्वानों में प्रचलित इस भाषा के विरुद्ध जो 'प्राकृत' या सामान्य लोगों में सहज रूप से बोली जाती थी, स्वभावतः 'प्राकृत' नाम की अधिकारिणी बन बैठी। पालि-काल की समाप्ति पर लोक-भाषा का यही रूप प्रचलित था।

शिलालेखी प्राकृत—यह पालि भाषा के समकालीन थी। अशोक के शिलालेखों की प्राकृत को अशोकीय प्राकृत कहते हैं। अशोक ने स्तम्भों और चट्टानों पर राज्य के विभिन्न भागों में शासन तथा धर्म सम्बन्धी सिद्धान्त ब्राह्मी तथा खरोष्ट्री लिपि में अभिलेख रूप में बीस से अधिक खुदवाये थे भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इन अभिलेखों का बड़ा महत्व है। इनसे ई० पू० तीसरी सदी के लगभग मध्य भाग की भाषा के विभिन्न स्वरूपों का जिन्हे तत्कालीन प्राकृत कहा जाता है, परिचय मिल जाता है। विद्वानों के अनुसार इनकी पांच बोलियाँ थीं। कहीं श्, स्, ष् तीनों रूप प्राप्त होते हैं और कहीं पालि की भाँति 'स' ही। र्, ल्, य्, ण् के प्रयोग में पर्याप्त अन्तर है। इसं रूप कम हैं। शेष पालि की भांति हैं।

प्राकृतों के भेद

प्राकृतों के प्रकारों के विषय में पर्याप्त मतभेद हैं। विद्वानों ने बीस अधिक प्राकृतों का उल्लेख किया, है, परन्तु भाषा की दृष्टि से प्रमुखतः पां भेद ही माने जाते हैं—(१) शौरसेनी, (२) पैशाची, (३) महाराष्ट्री, (४ अर्ध मागधी तथा (५) मागधी।

१. **शौरसेनी**—यह प्राकृत मथुरा या शूरसेन के निकटवर्ती प्रान्त की बोली थी। मध्य देश की भाषा होने के कारण से इसका अत्यधिक महत्व है और इस पर संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। संस्कृत नाटकों की भाषा शौरसेनी ही है। अश्वघोष के नाटक तथा कर्पूरमजरी इसी में लिखी गई हैं। जैन शौरसेनी मूल शौरसेनी से थोडी भिन्न है। शौरसेनी के अन्य स्थानीय रूप अवन्ती, आभीरी आदि हैं। दो स्वरों का मध्यवर्ती सं० 'त' और 'थ' इसमें 'द' और 'ध' हो गया है; यथा गच्छति=गच्छदि, कथय=कधोहि 'क्ष' का 'क्ख' रूप हो जाता है, जैसे—इक्षु=इक्खु। केवल परस्मैपद का प्रयोग मिलता है।

२. **पैशाची**—इसको ग्राम्य-भाषा या भूत भाषा भी कहते हैं। इसका प्रदेश उत्तर-पश्चिम काश्मीर के पास था। इसको संस्कृत तथा शौरसेनी का विकृत रूप माना जाता है। ग्रियर्सन और हार्नली इस पर दरद तथा द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव मानते हैं। पैशाची निम्न स्तर के मनुष्यों की भाषा मानी जाती है। इसमें साहित्य बहुत कम है। इसके कैकय, पांचाल, व्राचड़ आदि अनेक भेदों का उल्लेख किया गया है। इसमें 'र' का 'ल' तथा ष के स्थान पर 'श' और 'ष' मिलता है यथा—कुमार=कुमाल, विषम=विसमो आदि। स्वरों के मध्यवर्ती घोष स्पर्श व्यंजन अघोष हो गये हैं, जैसे—गगन=गकन।

३. **महाराष्ट्री**—महाराष्ट्र इस प्राकृत का मूल स्थान है। शौरसेनी की यह उत्तरवर्ती शाखा है, ऐसा कुछ विद्वान मानते हैं। यह अति समृद्धिशाली और परिनिष्ठत भाषा है। काव्य और साहित्य की रचना में इसका अधिकांश प्रयोग किया गया है। इसमें गीति, खंड और महाकाव्य लिखे गये हैं। कालिदास, हर्ष और हाल आदि कवियों की कृतियों के गीतों की यह भाषा रही है। जैन महाराष्ट्री में श्वेताम्बर जैनियों के धर्मग्रन्थ लिखे गये हैं। इस प्राकृत पर अर्द्धमागधी का प्रभाव पड़ा है। इसमें दो स्वरों के मध्यवर्ती अल्प-प्राण स्पर्श (क, त, प, द, ग आदि) लुप्त हो जाते हैं, तथा प्राकृत=पाउअ। उसी स्थिति में महाप्राण स्पर्श तथा ऊष्म ध्वनियों (श, ष) का 'ह' हो जाता है, जैसे—क्रोध=कोहो, तस्य=ताह। कर्मवाच्य 'य' का 'इज्ज' हो जाता है; यथा—गम्यते=गमिज्जइ।

४. अर्द्ध मागधी—इसका क्षेत्र मागधी और शौरसेनी का मध्यवर्ती प्रदेश है। यह प्राचीन कोशल के आसपास की भाषा है। नाटकों तथा जैन-साहित्य में गद्य-पद्य दोनों रूपों में इसका प्रयोग हुआ है। जैनियों ने इसे 'आर्षी' या 'आदि-भाषा' कहा है। इनका प्राचीनतम प्रयोग अश्वघोष के नाटकों में मिलता है। श, ष के स्थान पर 'स' तथा चवर्ग के स्थान पर कहीं-कहीं तवर्ग मिलता है। दन्त्य ध्वनियाँ मूर्द्धन्य हो गई हैं। यथा श्रावक=सावग, स्थित=ठिअ।

५. मागधी—मागधी प्राकृत मगध के आस-पास की भाषा है। लंका में पाली को ही मागधी कहा है। इसका उद्भव शौरसेनी से माना जाता है। संस्कृत नाटकों में निम्न श्रेणी के पात्र इसका प्रयोग करते हैं। गौड़ी, शाबरी, चाण्डाली आदि इसके अनेक भेद हैं। इस प्राकृत में स, ष, के स्थान पर 'श' तथा 'र' सर्वत्र 'ल' हो जाता है, यथा, सप्त=शत्त, पुरुष=पुलिश, राजा=लाजा। 'स्थ' और 'र्थ' के स्थान पर 'स्त' मिलता है। जैसे उपस्थित=उपस्तिद, अर्थवती=अस्तवदी।

प्राकृत की कुछ सामान्य विशेषताएँ—प्राकृत भाषाएं ध्वनि की दृष्टि से पालि के अधिक सन्निकट हैं। इसमें भी ह्रस्व ए, ओ, ळ, ळ्ह का प्रयोग चलता रहा। ए, ओ, लृ का प्रयोग नहीं हुआ। प्राकृत में तीनों ऊष्म श (मागधी, पैशाची आदि) ष (पैशाची) तथा स (अर्धमागधी) में मिलती है तथा कहीं-कहीं पर यह दूसरी ऊष्मध्वनि में परिवर्तित हो गई हैं। मागधी में 'र' का 'ल' 'ज' का 'य' पाया जाता है। अन्य प्राकृतों में 'य' का सामान्यतः 'ज' तथा 'र' 'ल' का परस्पर परिवर्तन में देखने में आया है। इन प्राकृतों में स्पर्श घोष संघर्षी व्यंजन भी थे, यथा ग़, घ़, ध़, ज़ आदि प्राकृतों में 'न' का विकास प्रायः 'ण' हो गया है। प्राकृतों में व्यंजनान्त शब्द नहीं हैं। अल्पप्राण स्पर्शों का स्वर मध्यम होने पर लोप तथा महाप्राण स्पर्श का मध्यम होने पर 'ह' में परिवर्तन हो जाता है। संस्कृत में विसर्ग (:) के स्थान पर प्रायः ए, ओ था 'म' का 'व' रूप और घोष स्पर्शों का अघोष तथा अघोष का घोष में परिवर्तन हो जाता है। समीपकरण, लोप, स्वरभक्ति ध्वनि-परिवर्तन की प्रवृत्तियां अधिकतर महाराष्ट्री तथा मागधी भाषाओं आदि में लक्षित होती हैं। 'नीय' प्राकृत के अतिरिक्त अन्य प्राकृतों में द्विवचन का रूप दृष्टिगत नहीं

होता है। आत्मनेपद तथा नामधातु रूपों का आधिपत्य नहीं रहा। इससे सादृश्य के कारण भाषा में सरलता का प्रवेश हो गया था। भाषा में वियोगात्मकता आ गई थी। शब्द में अधिकांशतः तद्भव रूपों का बाहुल्य था तथा पद के अर्थ में विकार आ गया था।

अपभ्रंश भाषा—इसके अन्य नाम देसी', 'देश-भाषा', 'ग्रामीण भाषा', 'अपभ्रष्ट' 'अवहत्य' तथा 'अवहंस' आदि हैं। इसका समय मध्य आर्य-भाषाओं के पश्चात् आता है। अपभ्रंश का काल लगभग ५०० ई० से १२०० ई० तक माना जाता है। इन भाषाओं का विकास प्राकृतकालीन बोलचाल की भाषा से हुआ है और इस रूप में उसे प्राकृत और आधुनिक आर्य-भाषाओं के मध्य की कड़ी माना जा सकता है। पंडितों ने संस्कृत भाषा की तुलना में इसको अपभ्रंश की संज्ञा से सम्बोधित किया जिसका अर्थ 'बिगड़ा' भ्रष्ट या गिरा हुआ रूप है। इस भाषा का प्रारम्भ ६०० ई० के पूर्व ही हो गया था और अच्छे साहित्य की १००० ई० तक रचना होती रही। कीथ के मतानुसार अपभ्रंश का सम्बन्ध आभीरों तथा गूजरों से माना है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा डा० सक्सेना परिनिष्ठित अपभ्रंश को मध्यदेशीय (शौरसेनी अपभ्रंश) मानते हैं। यद्यपि बाद में उस पर अनेक भाषा-रूपों का प्रभाव पड़ा। इन अपभ्रंश भाषाओं के भेद के विषय में अनेक विद्वानों के विभिन्न मत हैं। परन्तु यह निश्चय है कि कालान्तर में इसके अनेक भेद हो गये होंगे। अपभ्रंश प्राकृत और आधुनिक भाषाओं के बीच की कड़ी है तथा यह मानना यथार्थ से दूर नहीं कि प्राकृत की ये बोलियाँ अपभ्रंश में अनेक रूप धारण कर आधुनिक आर्य भाषाओं में विकसित हो गईं। १४००-१५०० ई० के आसपास उत्तरी भारत में लगभग पंजाबी, लहँदा, सिन्धी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, खड़ी बोली—ब्रज, अवधी, छत्तीसगढ़ी, पहाड़ी, भोजपुरी, मगही, मैथिली, उड़िया आसामी तथा बंगाली, ये तेरह रूप पर्याप्त विकसित हो चले थे। निम्न सारणी इन भाषा रूपों का अपभ्रंश भाषाओं से सम्बन्ध स्थिर करती है—

अपभ्रंश	उनसे निकलने वाली आधुनिक भाषाएँ
१. शौरसेनी	[क] पश्चिमी हिन्दी (१)

[ख] इस अपभ्रंश के नागर रूप से

[अ] राजस्थानी]३]

[ब] गुजराती [३]

२. पैशाची — [क] लहँदा (४]

[ख] पंजाबी [इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव है।) [५]

३. व्राचड़ — सिन्धी [६]

४. खस — पहाड़ी [शौरसेनी अपभ्रंश तथा उसके नागर रूप [पुरानी राजस्थानी] का प्रभाव है।] [७]

५. महाराष्ट्री — मराठी [८]

६. अर्द्ध मागधी — पूर्वी हिन्दी [९]

७ मागधी —

[क] बिहारी [१०]

[ख] बंगाली [११]

[ग[उड़िया [१२]

[घ] असमिया [१३]

अपभ्रंश से उपर्युक्त भाषाओं के उद्भव के सम्बन्ध में विद्वानों में किंचित् ही मतभेद है।

संस्कृत प्राकृत भाषाओं की जननी है—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास मूलतः प्राकृत भाषाओं से ही हुआ है। अपभ्रंश भाषाएं भी एक प्रकार से प्राकृत का ही परिवर्तित रूप हैं। पर क्रम से अपभ्रंश, प्राकृत, पालि, संस्कृत आदि के सम्यक् अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक संस्कृत ही भारतीय भाषाओं के क्रमिक विकास का मूल स्रोत है। वैदिक संस्कृत का सहज स्वाभाविक रूप पालि या प्राकृत का मूल रूप वैदिक युग में प्रचलित था। अतः वैदिक संस्कृत या संस्कृत ही प्राकृत के जननीत्व के पद को सुशोभित करती है। सर्वप्रथम आर्यभाषाओं में भारत में संस्कृत ही एक परिनिष्ठित तथा आर्य समाज की प्रचलित तथा व्यापक रूप में बोली जाने वाली भाषा थी। आर्यों के सुदूर पूर्व में पहुँचने पर पंजाब से

बंगाल तक की संस्कृत भाषा में प्रान्तीय या देशीय रूप से थोड़ा सा परिवर्तन अवश्य हो गया था। उस थोडे या ईषत् परिवर्तन ने ही विभिन्न प्राकृत भाषाओं को जन्म दिया। प्राकृत भाषाओं से तदन्तर अपभ्रंश तथा उनसे आधुनिक आर्य भाषाएं उद्भूत हुईं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संस्कृत रूपी एक माता की समस्त भारतीय भाषाएँ [द्रविड़ भाषाओं को छोड़कर] पुत्री तथा प्रपौत्रियाँ हैं जो एक महान् भाषा परिवार की रचना करती है।

प्रश्न २७—डा० ग्रियर्सन के भारतीय भाषाओं के वर्गीकरण के औचित्य पर विचार प्रकट करते हुए विभिन्न विद्वानों द्वारा किये गये वर्गीकरण पर प्रकाश डालिए।

डा० ग्रियर्सन ने सर्वप्रथम आधुनिक भारतीत आर्य-भाषाओं का वर्गीकरण ऐतिहासिक दृष्टि से किया। हार्नले यह माना कि भारत में आर्यों का आगमन कम से कम दो बार हुआ है। इस कल्पना के मतानुसार परागत आर्यों ने पूर्वागत आर्यों को पराजित कर हिमाचल, गुजरात, सिन्ध, राजस्थान आदि की ओर भगा दिया और स्वयं मध्य-प्रदेश या मध्यवर्ती उत्तरी भारत में निवास करने लगे। इसी सिद्धान्त के आधार पर डा० ग्रियर्सन महोदय ने आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं को तीन उपशाखाओं में विभाजित किया—बहिरंग, अन्तरंग और मध्यवर्ती शाखा। पूर्वागत आर्यों की भाषाओं को बहिरंग तथा परागत आर्यों की भाषाओं को अन्तरंग कोटि में रखा। मध्यवर्ती प्रदेश की भाषाएँ मध्यवर्ती कहलाईं। उनका प्रथम वर्गीकरण इस प्रकार है—

१. वहिरंग उपशाखा—(क) पश्चिमोत्तरीय समुदाय (लहंदा, सिन्धी) (ख) दक्षिणी समुदाय (मराठी), [ग] पूर्वी समुदाय [१. बंगाली, २. बिहारी ३. उड़िया तथा ४. आसामी।) २. मध्यवर्गी उपशाखा [घ] मध्यवर्गी समुदाय [पूर्वी हिन्दी]। ३. अन्तरंग उपशाखा—(ङ) केन्द्रीय समुदाय (१. पश्चिमी हिंन्दी, २. पंजाबी, ३. गुजराती, ३. भीली, ५. खानदेशी तथा ६. राजस्थानी) [च] पहाड़ी समुदाय—[१. पूर्वी पहाड़ी या नेपाली, २. केन्द्र-वर्ती तथा ३. पश्चिमी पहाड़ी।]

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने ग्रियर्सन के वर्गीकरण के तीनों आधारों की तर्कसगत आलोचना की। वे आधार ये थे—१. ध्वनि, २. व्याकरण या रूप तथा ३. शब्द-समूह।

१. ध्वनि

(क) ग्रियर्सन के अनुसार अन्तरंग में ऊष्म ध्वनियों का उच्चारण दन्त्य 'स' रूप में होता है किन्तु बहिरंग भाषाओं में यह 'श' (बंगाल, महाराष्ट्र) 'ख' (पूर्वी बंगाल, असम) तथा 'ह' (बंगाल तथा पश्चिमोत्तरी) हो जाता है।

आलोचना—स्वर मध्यम 'स' का 'ह' अन्तरंग भाषाओं में भी पाया जाता है, यथा सं० एकसप्तति > प० हिन्दी एकहत्तर, सं० द्वादश > बारह (प० हिन्दी), सं० करिष्यति > करिहइ (प० हि०) बहिरंग में 'स' कहीं-कहीं है जैसे लहँदा में करेसी (करेगी)। बंगाल में 'श' मागधी प्राकृत के प्रभाव से है, तथा मराठी में तालव्य ध्वनियों (इ, ई, य) के प्रभाव। अन्तरंग गुजराती, में यह 'श' भी दृष्टिगत हो जाता है; यथा—करशे (करिष्यति)।

(ख) ग्रियर्सन के कथानुसार 'म्ब' ध्वनि का विकास बहिरंग में 'म्' तथा अन्तरंग में 'व्' रूप में हुआ है। बहिरंग भाषाओं में महाप्राण ध्वनियाँ अल्पप्राण हो जाती हैं, जबकि अन्तरंग में ऐसा नहीं होता।

आलोचना—उपर्युक्त सिद्धान्त के विपरीत अनेक उदाहरण मिलते हैं।— यथा—अन्तरंग में सं० जम्बुक का जामुन (प० हिन्दी) या निम्ब का नीम।

दूसरी बहिरंग—(बंगला) में निम्बुक या लेबू या 'नेबू' रूप मिलता है। भगिनी का बहिन (हिन्दी) आदि अनेक अपवाद मिलते हैं।

(ग) अन्य सिद्धान्तों में 'र' का 'ल्' या 'ड्' के स्थान पर प्रयोग केवल बहिरंग भाषाओं में मिलता है। बहिरंग भाषाओं में 'द्' का 'ड्' में परिवर्तन हो जाता है।

आलोचना—'र' का 'ल' या 'ड़' के लिए अवधी, ब्रज, खड़ी बोली आदि अन्तरग भाषाओं में भी प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ—बर (बल), गर (गला), किवार (किवाड़), भीर (भीड़)। 'द' का 'ड' में परिवर्तन अन्तरंग में भी होता है, यथा—हिन्दी में डीठि (दृष्टि), डंड (दण्ड), डँसना (दंश), डोली (दोलिका) आदि।

२. **व्याकरण या रूप**—(क) भाषा की गति कभी संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर अभिमुख होती है और कभी इसके विपरीत वियोगावस्था से

संयोगावस्था की ओर। परन्तु ग्रियर्सन महोदय के मतानुसार यह गति या विकास इस प्रकार हुआ है कि संयोगात्मक भाषा संस्कृत से विकसित होकर आधुनिक भाषाएँ (कारक रूप में) वियोगात्मक हो गई हैं; किन्तु आधुनिक भाषाओं में भी 'बहिरंग भाषाएँ' एक कदम और आगे बढ़कर संयोगात्मक हो रही हैं। जैसे हिन्दी में 'राम की किताब' में सम्बन्ध-वाचक शब्द 'की' की सत्ता संज्ञा राम से भिन्न है। परन्तु बंगाली 'रामेर बोई' में रामेर में 'एर' प्रत्यय पृथक् न होकर राम शब्द से अभिन्न है। अन्तरंग उपशाखा में प्राप्त संयोगात्मक रूप प्राचीन भाषा के अवशेष मात्र हैं। अतः अन्तरंग और बहिरंग भाषाओं में महान् अन्तर है।

आलोचना—डा० चटर्जी ने तुलनानात्मक अध्ययन के उपरांत यह सिद्ध कर दिया है कि अन्तरंग भाषाओं में बहिरंग भाषाओं की अपेक्षा संयोगात्मक रूप कम नहीं हैं। अतः यह सिद्धान्त भी अकाट्य नहीं है। उदाहणार्थ—ब्रज 'पूतहिं (कर्म), भनहिं भौनहिं (अधिकरण) में यह संयोग रूप सामान्य है। (ख) ग्रियर्सन ने स्त्री प्रत्यय 'ई' के आधार पर बहिरंग उपशाखा की पूर्वी और पश्चिमी भाषाओं को एक एक वर्ग की सिद्धि करने का प्रयास किया है।

आलोचना—'ई' स्त्री प्रत्यय अन्तरंग भाषाओं में भी मिलता है, यथा—हिन्दी में क्रिया रूप में (गाती, दौड़ी) परसर्ग की, (बड़ी, छोटी), विशेषण, संज्ञा (लड़की, बेटी) में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। अतः वर्गीकरण का यह आधार उचित नहीं है।

(ग) ग्रियर्सन के मतानुसार विशेषणात्मक प्रत्यय 'ल' बहिरंग भाषाओं विशेषता है।

खण्डन—अन्तरंग भाषाओं में भी यह पर्याप्त मात्रा में मिलता है जैसे—रंगीला, हठीला, खर्चीला, चमकीला आदि।

(घ) बहिरग भाषाओं में भूतकाल क्रियाओं का रूप कर्त्ता, पुरुष तथा वचन के अनुसार बदलता रहता है, यथा—मराठी में गेलो (मैं गया) और 'गेला' (वह गया)। किन्तु अन्तरग भाषाओं में वे भूतकाल क्रियाएँ सभी पुरुषों में एक सी रहती हैं जैसे—हिन्दी 'मैं गया', 'वह गया', 'तू गया', सभी पुरुषों में 'गया' रूप समान है।

खण्डन—सकर्मक भूतकाल क्रियाओं से कर्त्ता के पुरुष तथा वचन का ज्ञान केवल पूर्वी बहिरंग भाषाओं में हो सकता है, पश्चिमी भाषाओं में नहीं।

३. **शब्द-समूह**—(क) शब्द-समूह के आधार पर ग्रियर्सन बहिरंग भाषाओं में साम्य मानते हैं।

खण्डन—ये धातु या शब्द न बहिरंग में सम-रूप हैं तथा न अन्तरंग भाषाओं में। मराठी-बंगाली में बंगाली-हिन्दी से अधिक साम्य नहीं है।

(ख) आर्यों का पूर्वागत तथा परागत विषयक सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है। इसके विपरीत आर्यों का पहले से ही सप्तसिन्धु में निवास करना एक प्रामाणिक तथ्य माना जाता है।

इन सब आलोचनाओं के अतिरिक्त डा० चैटर्जी ने कहा है कि भारत में मध्यप्रदेश की भाषा सदैव से राष्ट्र-भाषा के पद को सदा सुशोभित करती रही है। आजकल पश्चिमी हिन्दी इस प्रदेश की भाषा है। 'सुदूर की और पश्चिम की भाषाओं को एक साथ नहीं रखा जा सकता। इन सबका सम्बन्ध पश्चिमी हिन्दी से है, अतः उसे ही केन्द्रीय भाषा माननी चाहिए।' अतः पश्चिमी हिन्दी को केन्द्रीय भाषा मानकर किया गया चटर्जी का वर्गीकरण निम्न है—

१. **उद्दीच्च (उत्तीय) वर्ग**—सिंधी, लहँदा, पंजाबी।
२. **प्रतीच्य (पश्चिमी) वर्ग**—गुजराती, राजस्थानी।
३. **मध्यदेशीय वर्ग**—पश्चिमी हिन्दी।
४. **प्राच्य (पूर्वी) वर्ग**—पूर्वी, हिन्दी, बिहारी, उड़िया, बंगाली आसामी।
५. **दक्षिणात्य (दक्षिणी) वर्ग**—मराठी।

वे पहाडी भाषाओं को पैशाची, दरद और खस प्रादुर्भूत मानते हैं जो एक प्रकार से राजस्थानी का रूपान्तर सा है।

ग्रियर्सन का द्वितीय वर्गीकरण—

डा० ग्रियर्सन ने डा० चटर्जी के वर्गीकरण को देख पश्चिमी हिन्दी को केन्द्र मानकर उसका नवीन रूप यह रखा—

(क] **मध्यदेशीय भाषा**—पश्चिमी हिन्दी।

(ख) **अन्तर्वर्शी भाषाएँ**—(१) मध्यदेशीय (प०हिन्दी) से विशेष घनि-

एकता वाली भाषाएँ—पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पूर्वी केन्द्रस्थ तथा पश्चिम पहाड़ी (२) बहिरंग भाषाओं से अधिक सम्बन्ध—पूर्वी हिन्दी।

(ग) बहिरंग भाषाएं—(१) पश्चिमोत्तर वर्ग—लहँदा, सिन्धी। (२) दक्षिणी वर्ग—मराठी। (३) पूर्वी वर्ग—बिहारी, उड़िया, बंगाली तथा आसामी।

डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी का अन्य वर्गीकरण—चैटर्जी ने डा० ग्रियर्सन के इस वर्गीकरण के आधार पर अन्य वर्गीकरण प्रस्तुत किया।

१. उत्तरी पहाड़ी श्रेणी—(क) पूर्वी पहाड़ी या नेपाल। (ख) मध्य पहाड़ी (गढ़वाल या कुमायूँ)। (ग) पश्चिमी पहाड़ी।

२. पश्चिमोत्तरी पहाड़ी श्रेणी—(क) लहँदा या पश्चिमी हिन्दी। (ख) सिन्धी।

३. मध्यदेशीय श्रेणी—(क) हिन्दी, गोष्ठी या पश्चिमी हिन्दी (खड़ी बोली, व्रज, उर्दू, बाँगरू, बुन्देली, कन्नौजी)। (ख) पंजाबी या पूर्वी पंजाबी। (ग) राजस्थानी और गुजराती।

४. पूर्व मध्य श्रेणी—कोशली या पूर्वी हिन्दी (अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी।)

पूर्वी श्रेणी—आसामी, बंगला, उड़िया और बिहारी (मैथिली, मगही और भोजपुरी)।

६. दक्षिणी श्रेणी—इसके अन्तर्गत कोंकणी और हलबी आती हैं।

डा० धीरेन्द्र वर्मा का वर्गीकरण—डा० चैटर्जी के वर्गीकरण के आधार पर ही डा० वर्मा का स्वाभाविक वर्गीकरण इस प्रकार है।

(क) उदीच्य (उत्तरी)—१. सिन्धी २. लहँदा तथा ३. पंजाबी।

(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी)—४. गुजराती।

(ग) मध्यदेशीय—५. राजस्थानी, ६. पश्चिमी हिन्दी, ७, पूर्वी हिन्दी तथा ८. बिहारी।

(घ) प्राच्य (पूर्वी) ९. उड़िया, १०. बंगाली तथा ११. आसामी।

(ङ) दक्षिणात्य (दक्षिणी)—१२. मराठी।

इस वर्गीकरण में प्रमुख चारों रूपों को मध्यदेशीय माना है। लगभग

वेकर का वर्गीकरण भी इसी प्रकार का है।

श्री सीताराम चतुर्वेदी ने सम्बन्ध-सूचक परसर्ग [विभक्ति या कारक] के आधार पर वर्गीकरण किया है। यथा—१. का (हिन्दी, पहाड़ी, जयपुरी तथा भोजपुरी)। २. दा (पंजाबी और लहँदा) ३. जो (सिन्धी, कच्छी) ४. नो (गुजराती) तथा ५. एर (बंगाली, उड़िया, आसामी) वर्ग बनाए हैं। यथार्थतः यह कोई वर्गीकरण है नहीं।

राममूर्ति मलहोत्रा 'आदर्श-वर्गीकरण'

(क) **पश्चिमी भाषाएँ**—१. सिंधी, २. पंजाबी, ३. लहँदा, ४. राजस्थानी ५. गुजराती, ६. मराठी तथा ७. पहाड़ी।

(आ) **केन्द्रीय भाषाएँ**—पश्चिमी हिन्दी।

(इ) **पूर्वी भाषाएँ**—८. पूर्वी हिन्दी, ९. बिहारी, १०. बंगाली, ११. उड़िया तथा १२. आसामी।

एक वर्गीकरण डा० भोलानाथ तिवारी ने प्राकृत के आधार पर किया है। इन वर्गीकरण से आर्य-भाषाओं को वैज्ञानिक परिचय मिलता है।

प्रश्न २८—भारत की प्राचीन भाषाओं का तारतम्य दिखाते हुए हिन्दी के विकास पर प्रभाव डालिये।

अथवा

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति के क्रमिक इतिहास का स्पष्ट दिग्दर्शन कराइये।

वैदिक संस्कृत ही सभी भारतीय आर्य-भाषाओं का मूल-स्रोत मानी जाती है। लौकिक संस्कृत का जन्म इसी से हुआ है। अपनी साहित्यिक समृद्धि और प्रतिष्ठा के कारण इस भाषा ने विश्व में अमर ख्याति प्राप्त कर ली है। बौद्ध और जैन धर्म का विकास उस समय की प्रचलित लोक-भाषा में हुआ। उसका नाम पाली विख्यात हुआ। आगे चलकर यही रूप विभिन्न प्राकृत भाषाओं के रूप में विकसित हो गया। संस्कृत/पाली तथा प्राकृत में साहित्य की रचना होने के कारण वैयाकरणों ने उन्हें व्याकरण के नियमों में बाँध दिया। फलस्वरूप उसका जन-भाषात्व विलीन होकर उसका स्वाभाविक प्रवाह तथा विकास रुक गया और कालांतर में प्राकृत की नवीन बोलियाँ पल्लवित होकर अपभ्रंश

कहलाने लगी। अपभ्रंश ही वास्तव में आधुनिक आर्य-भाषाओं की जननी है। इसके स्थान-भेद से अनेक नाम हैं। पश्चिमोत्तर प्रदेश में बोली जाने वाली अपभ्रंश व्राचड तथा कैंकय से क्रमशः सिन्धी और लहदा आधुनिक प्रान्तीय बोलियों का जन्म हुआ। लहँदा पश्चिमी बंगाल की मूल भाषा है। मध्यप्रदेशीय शौरसेनी अपभ्रंश से पंजाब, राजस्थानी तथा पश्चिमी हिन्दी की उत्पत्ति हुई जो क्रमशः पूर्वी पंजाब, राजपूताना तथा पश्चिम में हिसार, पूर्व में कानपुर, उत्तर में मेरठ तथा दक्षिण में बुन्देलखंड तक बोली जाती है। नागर अपभ्रंश से गुजराती, अर्ध मागधी से पूर्वी हिन्दी जिसमें अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी बोलियाँ हैं तथा मागधी से बिहारी, बंगला आसामी; उड़ियाँ बोलियों की उत्पत्ति हुई। दक्षिण में महाराष्ट्री से मराठी का जन्म हुआ है। इस प्रकार आधुनिक आर्य-भाषाओं के क्रमिक विकास का श्रीगणेश संस्कृत से लेकर अपभ्रंश पर्यन्त चलता है।

उक्त विवरण से ज्ञात होता है कि हिन्दी भाषा के दो रूप हैं—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी। इन दोनों रूपों का उद्भव स्थान शौरसेनी और अर्द्ध मागधी अपभ्रंश भाषाएँ हैं। हिन्दी का क्षेत्रीय विस्तार अन्य भाषाओं के क्षेत्रों की तुलना में सर्वाधिक है। इसकी पश्चिमी सीमा पंजाब में है और दक्षिणी सीमा मध्यप्रदेश के दक्षिण में है और हिन्दी की छत्तीसगढ़ी बोली मराठी के सीमोप्रांत भाग में बोली जाती है। दूसरे हिन्दी आर्य-भाषाओं की मध्यवर्ती भाषा है। यह मध्यप्रदेश की भाषा सदैव से राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन रही है। संस्कृत, शौरसेनी और हिन्दी आदि मध्यप्रदेशीय भाषाओं ने विकसित होकर राष्ट्रभाषा जैसी महत्वपूर्ण पदवी को अलंकृत किया है। हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं का मूल-स्रोत एक ही है परन्तु स्थान-भेद तथा परिस्थिति-वश उनमें अन्तर बहुत हो गया है। हिन्दी भाषा का महत्व सर्वाधिक है। इसके दो कारण हैं—पहला इसका देश की मध्यस्थ भाषा होना तथा दूसरा देश के अधिकांश भाग में इसका प्रचलित होना।

आज सम्पूर्ण राष्ट्र की भाषा हिन्दी है तथा यही देश-निवासियों की शिक्षा का माध्यम है। आधुनिक काल में हिन्दी भाषा अधिक विकसित और समर्थ हो गई है तथा इसका रूप अब अधिक प्रांजल सुगठित, सुन्दर और सुगम हो गया

है प्राचीन रूप से इसमें अनेक हो परिवर्तन हो गये हैं। हिन्दी के विकास की दृष्टि से हिन्दी को तीन कालों में विभक्त किया गया है—

१. प्राचीन काल (१५०० ई० तक)।

२. मध्यकाल (१५०० से १८०० तक)।

३. आधुनिक काल (१८०० से अब तक)।

प्राचीन काल— हिन्दी भाषा के प्रारम्भिक रूप तथा सामग्री का दर्शन हमें तीन राज्यों में उपलब्ध होता है—दिल्ली, कन्नौज तथा अजमेर। इन राज्यों में परस्पर फूट और घरेलू युद्ध होते रहते थे। दिल्ली में चौहान वंश के राजा पृथ्वीराज चौहान का शासन था और उनका राजकवि चन्द था। राठौर वंश की राजधानी कन्नौज के अन्तिम सम्राट् जयचन्द का दरबार साहित्यिक चर्चा का मुख्य केन्द्र था तथा संस्कृत तथा प्राकृत भाषा को अधिक समादर प्राप्त था। महाकाव्य नैषधीय-चरित्र के रचयिता श्री हर्ष जयचन्द के राजकवि थें। महोवा का राजकवि जगनायक या जगनिक तथा अजमेर के नरपति नाल्ह का नाम आदर से लिया जाता है। अधिकांश वाङ्मय के नष्ट हो जाने से उसके मूल-रूप का परिचय प्राप्त नहीं हो पाया है। ११९' ई० में पृथ्वीराज और जयचन्द की पराजय से दिल्ली, कन्नौज और महोवा पर जो हिन्दी के तीन केंद्र थे, मुहम्मद गौरी के आधिपत्य के कारण मुसलमानों का शासन स्थापित हो गया था। इस प्रकार प्रायः समस्त हिन्दी प्रदेश विदेशी शासकों के अधिकार में था। इस कारण हिन्दी भाषा के शिलालेख और ताम्रपत्रों की संख्या न्यूनतम है, केवल पृथ्वीराज तथा समरसिंह राज दरबार से सम्बन्धित हिन्दी के कुछ प्राचीन नमूने प्राप्त होते है परन्तु वे प्रामाणिक नहीं माने जाते हैं।.

सिद्ध तथा नाथपंथी कवियों का वाङ्मय (समय ७०० ई० से १३०० ई० तक) का प्राप्त होता हैं परन्तु इस सामग्री की प्राचीनता तथा प्रामाणिकता अभी संदिग्ध है। सिद्ध-साहित्य की भाषा अपभ्रंश मागधी मानी जाती है। गोरखनाथ की गोरखवाणी प्रसिद्ध है। गुलेरी जी के 'पुरानी हिन्दी' लेख में उद्धृत हिन्दी रूप अपभ्रंश भाषाओं से प्रभावित राजस्थानी का ही एक भेद है। भारत में विदेशी आधिपत्य के फलस्वरूप फारसी और तुर्की की ओर जनता की रुचि जाग्रत हुई तथा संस्कृत और हिन्दी को उपेक्षा की दृष्टि से

देखा गया। अतः तत्कालीन भाषा का प्राचीनतम रूप चारणों के धार्मिक तथा लौकिक काव्य-ग्रन्थों में मिलता है। प्रामाणिक हस्तलिपि के अभाव में इस प्रकार की समस्त सामग्री संदेहास्पद है। कालान्तर में भाषा में अधिक परिवर्तन हो गया है। अमीर खुसरो (१२५५ से १३२५ ई०) ने भाषा को मनोरंजन का माध्यम बनाया। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थों की भाषा फारसी है। अन्तिम समय में धार्मिक आन्दोलन के फलस्वरूप साहित्यिक विषयक रचना का श्रीगणेश हो गया था। इनमें गोरखनाथ, रामानन्द तथा कबीर आदि उल्लेखनीय हैं। मैथिल-कोकिल विद्यापति के पद तथा कबीर आदि सन्तों की वाणी में प्रारंभिक हिन्दी का रूप अवश्य लक्षित होता है।

मध्यकाल—(१५०० से १८०० ई०)—हिन्दी भाषा की दृष्टि से इस काल का सर्वाधिक महत्त्व है और इसे स्वर्ण काल के नाम से अभिहित किया जाता है। इस काल में तुर्की शासन का अन्त हो गया था तथा समस्त भारत का शासन-सूत्र प्रायः मुगलों के हाथ में था। तत्कालीन अशांति के वातावरण ने भक्ति की व्यापक नदी को सर्वत्र प्रवाहित कर दिया। नदी के दो प्रबल किनारे अवधी और ब्रजभाषा के रूप में थे। अवधी भाषा में जायसी के पद्मावत तथा तुलसी के 'रामचरितमानस' ने जन-मानस में भक्ति की एक तरंग बिखेर दी थी। १६वीं शती में ब्रजभाषा ने धार्मिक तत्वों की संरक्षता अनेक प्रकार के काव्य की सृष्टि करके की। सूर का सूर-सागर तथा तुलसी की विनय-पत्रिका प्रमुख हैं। अष्टछाप के कवियों की भाषा ब्रज ही थी। धीरे धीरे यह भाषा परिष्कृत होकर १७वीं शती के समस्त हिन्दी-साहित्य का प्रायः माध्यम थी। आधुनिक काल की खड़ी बोली हिन्दी का रूप हमें प्राचीन तथा मध्यकाल के ग्रन्थों में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। रासो, कबीर, भूषण आदि की भाषा में खड़ी बोली के अस्तित्व के दर्शन होते हैं। खड़ी बोली उर्दू के सर्वप्रथम कवि वली का काल १८वीं सदी है। इसके पश्चात् गालिब, इंशा, मीर, दाग आदि कवियों ने इस भाषा को विकसित किया। इस प्रकार हिन्दी साहित्य की इस नवीन भाषा का प्रादुर्भाव हुआ और शनैः-शनैः परिनिष्ठत होकर आज राष्ट्र-भाषा के महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित है।

आधुनिक काल—आधुनिक काल का जन्म संघर्ष और क्रांति में हुआ।

अफ़गान, मराठा और अंग्रेजी के राजनीति संघर्ष के फलस्वरूप मध्यप्रदेश की हिन्दी प्रभावित हुई। १८वीं सदी में ब्रजभाषा की शक्ति क्षीण हो चुकी थी और खड़ी बोली तथा उर्दू का प्रकार और प्रसार मुसलमानों में अधिक हो गया था। अंग्रेजी ने हिन्दी के प्रचारार्थ फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की जिसमें लल्लूलाल तथा सदलमिश्र ने 'प्रेमसागर' और 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। लल्लूलाल की रचना में ब्रजभाषा के अवशिष्ट रूप की झलक मिलती है। १९वीं शती के उत्तरार्द्ध में दयानन्द सरस्वती, भारतेन्दु हरिचन्द्र तथा उनके सहयोगी अन्य लेखकों ने खड़ी बोली हिन्दी गद्य का प्रचार किया। मुद्रण-कला के विकास के साथ ही खड़ी बोली का साहित्य में प्रयोग तीव्रगति से होने लगा तथा बीसवीं सदी में इसका प्रयोग प्रायः साहित्य की समस्त प्रणलियों तथा विधाओं में किया जाता है। आधुनिक युग में खड़ी बोली गद्य, पद्य आदि रचना के लिए व्यापकता से प्रयुक्त होती है। नव भाषा खड़ी बोली आज समस्त भारत की साम्राज्ञी है और उसके साहित्य रूपी सिंहासन में अनेक रत्न रात-दिन जड़े जा रहे हैं तथा जिसकी चमक दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ रही है।

प्रश्न २९—हिन्दी भाषा की मुख्य बोलियों के साम्य-वैषम्य पर प्रकाश डालिए।

हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है। क्षेत्र तथा जनसंख्या की दृष्टि से इसका क्षेत्र अधिक विशाल तथा व्यापक है। सूक्ष्म रूप से ही इसे मध्यदेश या अन्तर्वेद की भाषा कह सकते हैं। अतः आगरा को हिन्दी का केन्द्र मानने पर इस का क्षेत्र उत्तर में हिमालय की तराई तक पश्चिम में दिल्ली से आगे तक दक्षिण में नर्वदा की घाटी तक तथा पूर्व में कानपुर तक माना जाता है। इस भूमि-भाग में हिन्दी के दो रूप माने जाते हैं—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी। पश्चिमी हिन्दी का रूप ही हिन्दी नाम से प्रयुक्त हुआ है क्योंकि यह शौरसेनी का मध्यप्रदेशीय रूप है। पूर्वी हिन्दी अर्द्धमागधी की वंशज है। हिन्दी के प्राचीन साहित्य में इसी मध्यप्रदेशीय भाषा को हिन्दी कहते थे। इनमें खड़ी बोली, बाँगरू, ब्रज, कन्नौजी, बुन्देली, पश्चिमी हिन्दी की बोलियाँ हैं। आजकल पश्चिमी हिन्दी के साथ पूर्वी हिन्दी भी समग्र रूप हिन्दी के अन्तर्गत समझी जाती है। पूर्वी हिन्दी में अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी बोलियाँ हैं।

हिन्दी भाषा का साहित्यिक रूप, खड़ी बोली ब्रज, और अवधी हैं तथा अन्य ग्रामीण बोलियाँ हैं, क्योंकि बुन्देली को छोड़कर अन्य बोलियों में साहित्य नहीं के बराबर है।

खड़ी बोली—यह पश्चिमी रुहेलखंड, गंगा के उत्तरी दोआब तथा अम्बाला जिले की बोली है। अधिकांशतः यह दिल्ली-मेरठ प्रदेश या उसके समीपवर्ती प्रांत में बोली जाती है। मुसलमानों के अधिक सम्पर्क के कारण ग्रामीण खड़ी बोली में अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों की संख्या हिन्दी की अन्य बोलियों की अपेक्षा अधिक है परन्तु इनका व्यवहार अर्द्धतत्सम तथा तद्भव रूपों में पाया जाता है। तत्सम शब्दों के बाहुल्य से इसका पृथक् रूप उर्दू कहा जाता है। आरम्भ में यह निरी गंवारू बोली थी, पर साहित्यिक रूप में प्रयुक्त होकर इसका रूप निखर गया है। साहित्यिक हिन्दी में आज संस्कृत शब्दावली का प्राधान्य पाया जाता है। अपने मूल में खड़ी बोली रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून, अम्बाला तथा पटियाला रियासत के पूर्वी भाग में बोली जाती है। इसके बोलने वाले प्रायः साठ लाख के लगभग हैं। सरहिन्दी इसका दूसरा नाम है।

बाँगरू—यह खड़ी बोली का ही उपरूप है। यह दिल्ली, करनाल, रोहतक हिसार, नाभा और पेप्सू के कुछ गाँवों में बोली जाती है। हिन्दी-भाषी क्षेत्र पानीपत और कुरुक्षेत्र बाँगरू की सीमा के अन्तर्गत हैं। एक दृष्टि से यह पंजाबी और राजस्थानी का मिश्रित रूप है। इसका अन्य नाम जाटू या हरियानी भी है। बांगरू बोली के लोकगीत अधिक प्रसिद्ध हैं। इसमें प्रौढ़ साहित्य का अभाव है। यह वोली उच्चारण में कठोर तथा कटु है।

ब्रजभाषा—हिन्दी के मध्यकाल में ब्रजभाषा सर्वाधिक उन्नत तथा प्रौढ़ भाषा थी। इसमें सुन्दर और समृद्ध साहित्य के दर्शन भक्तिकाल और रीतिकाल में होते हैं। अतः विगतकाल में यह एक प्रमुख साहित्यिक भाषा रही है। हिन्दी में इसका स्थान आजकल खडी बोली ने ले लिया है। शुद्ध रूप में अब भी यह मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुर में बोली जाती है। बुलन्दशहर और बरेली की तरफ इसमें खड़ी बोली एटा और मैनपुरी की ओर कन्नौजीपन तथा गुड़गाँव, भरतपुर, करौली तथा ग्वालियर के पश्चिमोत्तर भाग में बुन्देली तथा राजस्थानी की झलक मिलती है। ब्रजभाषा बोलने वालों की संख्या ९०

लाख है।

कन्नौजी—वास्तव में यह ब्रजभाषा का एक उपरूप है। इसमें ग्रामीणता का आभास स्पष्टतः अधिक है। इस बोली का क्षेत्र अवधी और ब्रज के मध्यगत है। इसका केन्द्र फर्रुखाबाद है। उत्तर में हरदोई, शाहजहाँ तथा पीलीभीत तक और दक्षिण में इटावा तथा कानपुर तक इसका क्षेत्र है। इस भूभाग के कवियों की साहित्यिक भाषा ब्रज ही रही है। अतः इस बोली में साहित्य की रचना नहीं हो पाई है।

बुन्देली—बुन्देली और ब्रज भाषा में पर्याप्त साम्य है, केवल दोनों के प्रादेशिक रूपों में अन्तर है। यह बुन्देलखंड की बोली है। इसका विस्तार झाँसी, हमीरपुर, जालौन, ग्वालियर, भूपाल, ओरछा, सागर, शिवनी तथा होशंगाबाद तक है। मध्यकाल में बुन्देलखंड साहित्यिक रचना का केन्द्र रहा है पर यहां के स्थानीय कवियों ने बुन्देली से प्रभावित ब्रजभाषा में कविता की है। अतः इसमें थोड़ा बहुत साहित्य उपलब्ध होता है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग अस्सी लाख है।

अवधी—हरदोई जिले को छोड़कर प्रायः समस्त अवध की बोली अवधी ही है। यह लखनऊ उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, फैजाबाद, बहराइच, प्रतापगढ़, बाराबंकी तथा सुल्तानपुर में शुद्ध रूप में बोली जाती है। इलाहाबाद, कानपुर तथा मिर्जापुर में थोड़े बहुत अन्तर से अवधी ही बोली जाती है। बिहार के मुसलमान भी बोलचाल में अवधी का प्रयोग ही करते हैं। तुलसीदास जी कृत प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रामचरितमानस' इसी भाषा में लिखा गया, जिस पर संस्कृत का अत्यधिक प्रभाव है। जायसी के 'पद्मावत' की भाषा शुद्ध रूप से अवधी है। ब्रजभाषा के सम्मुख अवधी भाषा अधिक दिन न टिक सकी। इसके बोलने वालों की संख्या डेढ़ करोड़ है।

बघेली—यह अवधी का ही एक उपरूप है। अवधी से पृथक् इसका कोई अन्य रूप नहीं कहा सकता है। इसका क्षेत्र अवधी के दक्षिण में है। इस का केन्द्र रींवा राज्य है। रींवा राज्याश्रित कवि अवधी को ही साहित्यिक भाषा मानकर उसी में कविता किया करते थे। यह मध्य प्रांत के दमोह, जबलपुर, मांडला तथा बालाघाट के जिलों तक विस्तृत है। इसके बोलने वालों

की संख्या लगभग पचास लाख है।

छत्तीसगढ़ी—यह ग्रामीण बोली है। इसमें साहित्य का सर्वदा अभाव है। कुछ नई किताबें ही उपलब्ध होती हैं। यह मध्यप्रांत में रामपुर और बिलासपुर के जिलों तक तथा कांकेर, नन्दगाँव, रायगढ़, कोरिया, सरगुजा, उदयपुर आदि राज्यों में विभिन्न रूपों में प्रचलित हैं। इसको लहरिया या खल्वाही भी कहते हैं इसके बोलने वालों की संख्या लगभग चालीस लाख है।

भोजपुरी—यह प्राचीन काशी जनपद की बोली है। यह बोली मिर्जापुर, जानपुर, गाजीपुर, गोरखपुर, आजमगढ़, शाहाबाद में बोली जाती है। भोजपुरी हिन्दी के अधिक निकट है। इस पर बिहारी भाषा का भी प्रभाव है। इसमें विकसित साहित्य नहीं है। काशी संस्कृत के साथ हिन्दी का केन्द्र भी रहा है तथा यहाँ के कवियों ने हिन्दी साहित्य की यथेष्ट समृद्धि की है।

इन भाषाओं और बोलियों के अतिरिक्त राजस्थानी और बिहारी का भी हिन्दी से निकट का संपर्क है और इन भाषाओं को भी हिन्दी के अन्तर्गत रखा जा सकता है। हिन्दी की विभिन्न बोलियों में विषमता का मुख्य कारण उच्चारण-भेद है। कुछ बोलियों के उच्चारण में ग्रामीणता की स्पष्ट झलक मिलती है। बाँगरू और बघेली अधिक कर्णकटु और लट्ठमार हैं।

प्रश्न ३०—हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी के अन्तर को स्पष्ट करते हुये उनके सामंजस्य की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए।

हिन्दी के साहित्यिक दृष्टि से तीन रूप हैं—१. हिन्दी, २. उर्दू तथा ३. हिन्दुस्थानी। हिन्दी के विभिन्न रूप शब्द-भाण्डार, वाक्य-रचना तथा विदेशी प्रभाव के कारण हुये हैं।

हिन्दी—हिन्दी शब्द की व्युत्पत्ति के साथ ही दो समान रूप शब्दों का प्रयोग और किया जाता है—हिन्द और हिन्दू। ये दोनों ही फारसी शब्द रूप संस्कृत के सिन्धी, सिन्ध तथा सिन्धु के ही रूपांतर हैं, परन्तु इनके अर्थों में भी पर्याप्त भेद पाया जाता है। कुछ विदेशी मनुष्य हिन्द या भारत की भाषा को हिन्दी समझते हैं, यथार्थः ऐसा नहीं है। हिन्दी भारत के एक सीमित प्रदेश की भाषा है, न कि संपूर्ण भारत की। व्यवहार की दृष्टि से

हिन्दी का क्षेत्र पूर्व में इलाहाबाद, पश्चिम में हिसार, उत्तर में कुमायूँ, गढ़वाल तथा नैपाल की तराई तथा दक्षिण में रायपुर तक समझा जाता है। शब्दार्थ या व्युत्पत्ति की दृष्टि से हिन्दी शब्द का प्रयोग हिन्द या भारत में बोली जाने वाली किसी भी आर्य अथवा अनार्य (द्रविड़ या अन्य कुल) की भाषाओं के लिए हो सकता है। साधारणतः इसका उपयोग मध्यदेश या अन्तर्वेद की भाषाओं के अर्थ में होता है। इस विशिष्ट भूखण्ड मे भारतीयों के आधुनिक साहित्य पत्र-पत्रिकाएँ, शिष्ट बोलचाल तथा स्कूल की शिक्षा एकमात्र हिन्दी भाषा में ही होती है। हिन्दी की ग्रामीण बोलियाँ मारवाड़ी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी, मैथिली-बाँगरू, बुन्देली तथा बघेली तथा साहित्यिक भाषाएं ब्रज, अवधी तथा खड़ी बोली हैं। पुरातन साहित्य के कारण ब्रज और अवधी का अत्यधिक महत्व है तथा आजकल खड़ी बोली का वाङ्मय अति विस्तृत तथा विकसित हो गया है। कुछ विद्वान हिन्दी की विभाषा के रूप में बिहारी तथा राजस्थानी बोलियों को समझते हैं। आधुनिक खड़ी बोली के साहित्य पर संस्कृत शब्द-समूह का विशेष प्रभाव है।। कुछ लोग भ्रमवश हिन्दुओं की भाषा को हिन्दी समझने लगे हैं, पर यथार्थतः यह उपर्युक्त भूमि-भाग के प्रत्येक भारतीय की भाषा है। भाषा-शास्त्रीय दृष्टि से पश्चिमी हिन्दी तथा पूर्वी हिन्दी का कुछ अंश ही हिन्दी भाषा समझा जाता है।

उर्दू—उर्दू का अर्थ 'लश्कर' या 'फौजी छावनी' है। फौज में विभिन्न भाषा-भाषी युवक अपनी-अपनी विशिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं। वास्तव में इस प्रकार से एक मिश्रित भाषा या खिचड़ी भाषा बन जाती है। वही लश्कर जबान उर्दू है। कुछ लोग उर्दू को बाजारू भाषा के अर्थ में लेते हैं। भारत में मुसलमानों के शासक रूप में स्थिर हो जाने पर मुसलमानों का केन्द्र दिल्ली रहा। अतः फारसी, तुर्की और अरबी बोलने वाले मुसलमानों ने जन-सम्पर्क स्थापित करने के लिए धीरे-धीरे दिल्ली के आस-पास की बोलियों को सीखा। फलतः उन बोलियों में विदेशी शब्द-समूह भी सहज ही घुल-मिल गये। इस प्रकार सर्वप्रथम उर्दू खड़ी बोली का व्यवहार प्रारम्भ हो गया था क्योंकि उर्दू का मूलाधार दिल्ली के निकट खड़ी बोली है। इसी बोली ने धीरे-धीरे साहित्यिक रूप ग्रहण किया जो आज साहित्यिक खड़ी बोली के नाम

से पुकारी जाती है। अतः जन्म से उर्दू और आधुनिक साहित्यिक हिन्दी सगी बहनें हैं। विकसित होने पर दोनों के मूल रूपों में अन्तर आ गया।

दोनों के व्याकरण रूपों में कम ही अन्तर है किन्तु साहित्यिक वातावरण, शब्द-समूह तथा लिपि में महान् अन्तर है। वास्तव में उर्दू भाषा के क्रिया-पद खड़ी बोली हिन्दी में हैं, पर शब्द-समूह में अरबी-फारसी शब्दों का बाहुल्य है। उसके व्याकरण और काव्य-पद्धति पर फारसी का प्रचुर प्रभाव है। इसमें तद्भव तथा देशज शब्दों की संख्या भी कम नहीं है। हिन्दी और उर्दू में यह मौलिक अन्तर है कि हिन्दी पर प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा उस वर्तमान रूप का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है जबकि उर्दू का उद्भव और विकास भारत के प्राङ्गण में होते हुए भी अरब की सभ्यता और साहित्य मे उसने जीवन-विश्वास ग्रहण किया है। उर्दू का साहित्यिक रूप मुसलमानी दरबार से आरम्भ हुआ और शाही दरबार से सम्बंधित हिन्दुओं ने भी इसे अपना लिया। दक्षिणी सूफी कवियों की भाषा उर्दू ही थी। उसे दक्खिनी उर्दू भी कहते हैं। औरंगाबादी वली उर्दू के प्रथम कवि माने जाते हैं। आगरा और दिल्ली की ओर इसका अधिक प्रचार है। अब भी यह उत्तर भारत की शिष्ट मुसलमान जनता की अपनी भाषा है। दूसरे शब्दों में "उर्दू आधुनिक साहित्यिक हिन्दी के उस दूसरे साहित्यिक रूप का नाम है जिसका व्यवहार उत्तर भारत के शिक्षित मुसलमान तथा उनके अधिक सम्पर्क में आने वाले कुछ हिन्दुओं जैसे पंजाबी, काश्मीरी तथा पुरानी पीढ़ी के कायस्थों में पाया जाता है।" खड़ी बोली के हिन्दी और उर्दू दो साहित्यिक रूप हैं।

हिन्दुस्तानी—इस भाषा का जन्म भी खड़ी बोली से हुआ है। हिन्दुस्तानी हिन्दी और उर्दू के मध्य की भाषा है। इसमें फारसी, अरबी तथा संस्कृत आदि के तत्सम शब्दों का व्यवहार कम होता है। इसमें प्रायः सभी भाषाओं के सरल रूपों का सम्मिश्रण है। एक विद्वान् का कथन है—"पुरानी हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी के मिश्रण से जो एक नई बोली स्वयमेव बन गई है, वह हिन्दुस्तानी के नाम से प्रसिद्ध है।" हिन्दुस्तानी का कोई साहित्य विशेष नहीं है। यह उर्दू का बोल-चाल वाला रूप है। इसका व्यवहार प्रायः भारत में सर्वत्र ही सामान्य रूप मे विचार-विनिमय के लिये होता है। यूरोपीय तथा अंग्रेज लोगों ने सर्व-

प्रथम हिन्दुस्तानी का श्रीगणेश किया था । गांधी जी तथा अन्य कांग्रेसी नेता इस हिन्दुस्तानी भाषा के प्रचार के पक्ष में रहे हैं। यह हिन्दी और उर्दू दोनों ही लिपियों में प्रयुक्त होती है । शिष्ट समाज में आजकल हिन्दी के राष्ट्र-भाषा पद पर आरूढ़ हो जाने के कारण यह स्वतः ही लुप्त होती जा रही है ।

हिन्दी, उर्दू दोनों ही खड़ी बोली के साहित्यिक रूप हैं तथा हिन्दुस्तानी का प्रयोग बोलचाल के लिए अधिक होता है । हिन्दी के राष्ट्रभाषा पद पर आसीन होने के लिए तथा समस्त भारत में इसके प्रचार तथा प्रसार के लिए इसके सामान्य तथा समन्वित रूप पर अधिक बल देने की आवश्यकता है। हिन्दी और उर्दू दोनों का ही क्षेत्र भारत है, कोई विदेशी भू-भाग नहीं। अतः इन दोनों भाषाओं के समानान्तर विकास से ही राष्ट्रभाषा के समृद्ध रूप की कल्पना की जा सकती है तथा वही रूप सर्वमान्य तथा सर्वग्राह्य हो सकता है। हिन्दी में उर्दू तथा अनेक विदेशी या देशी भाषाओं के प्रचलित शब्दों को स्थान देने से इसका सर्वाधिक विकास तथा प्रचलन सम्भव है। यही समन्वित रूप राष्ट्र भाषा के उत्तरदायी पद को निबाहने में सक्षम हो सकता है ।

प्रश्न ३१ – ऐतिहासिक उद्‌गम की दृष्टि से हिन्दी शब्द समूह किन मुख्य वर्गों में विभक्त किया जाता है ? हिन्दी में प्रयुक्त अंग्रेजी शब्दों में होने वाले ध्वनि परिवर्तनों के मुख्य सिद्धान्त भी उदाहरण सहित दीजिए ।

भाषा शब्द समूह का ही क्रमबद्ध तथा संगठित रूप है । यह समाज सापेक्ष वस्तु है। जन संसर्ग में परस्पर विचार विनिमय से भाषा में परिवर्तन आ जाता है तथा अन्य भाषा-भाषी वक्ता का प्रभाव भी उस पर पड़ता है । यही कारण है कि एक भाषा पर विदेशी तथा प्रान्तीय शब्द समूह का प्रभाव स्वभावतः पड़ता है। यही बात हिन्दी शब्द-समूह पर भी लागू होती है.। अन्य समस्त भाषाओं की भांति हिन्दी भाषा के समूह में भी अनेक जीवित तथा मृत भाषाओं के शब्द मिलते हैं, ऐतिहासिक उद्‌गम की दृष्टि से हिन्दी शब्द-समूह को तीन मुख्य वर्गों में विभाजित किया जाता है—

१. भारतीय आर्य-भाषाओं का शब्द समूह ।

२. भारतीय अनार्य भाषाओं से आगत शब्द ।

३. विदेशी भाषाओं के शब्द ।

१. भारतीय आर्य भाषाओं का शब्द समूह—हिन्दी शब्द-समूह पर अधिकतर भारतीय आर्य-भाषाओं का प्रभाव है । इसके पूर्ण-विश्लेषण पर विद्वान् निम्न शब्दों की उद्भावना करते हैं, संस्कृत या प्राकृत भाषाओं के आगम शब्द, देशज शब्द, अनुकरणात्मक शब्द, तत्समाभास, अर्धतद्भव या तद्भवाभास, प्रतिध्वन्यात्मक तथा द्विज शब्द ।

संस्कृत या प्राकृत भाषाओं के आगम शब्दों के तीन रूप हैं—तत्सम, अर्द्ध तत्सम तथा तद्भव शब्द । हिन्दी भाषा का विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं से हुआ है । प्राचीन आर्य भाषाओं में प्रायः संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं की गणना होती है । संस्कृत भाषा ही इन सबकी मूल या जननी भाषा है । अतः संस्कृत के मूल रूपों को तत्सम=उसके (संस्कृत) सम रूप कहा गया है । इस तत्सम शब्दों की प्रचुरता हमें साहित्यिक हिन्दी प्रमुखतः आधुनिक हिन्दी में दिखाई देती है । तत्सम तथा संस्कृत के विशुद्ध रूपों का व्यवहार में विद्वता प्रदर्शन करने की आकांक्षा ही मूल कारण है । अर्द्ध तत्सम रूप वे हैं जो अपने तत्सम रूप में यत्किंचित प्रयोग के कारण आधुनिक युग में प्रायः विकृत हो गये हैं । उदाहरणार्थ —कृष्ण का किशन तथा अग्नि का अगनि आदि । अर्द्ध तत्सम में तत्सम का रूप स्पष्टतः लक्षित होता है । हिन्दी के शब्द समूह अधिकांश रूप में तद्भव शब्दों से परिपूर्ण है । इन हिन्दी तद्भव रूपों का उदय क्रमशः प्राकृतों के माध्यम से शौरसेनी तथा अर्द्धमागधी अपभ्रंश में से हुआ है । प्राकृतों की उत्पत्ति वैदिक संस्कृत के शब्द रूपों से है । हिन्दी में इन रूपों का बाहुल्य है ! ये प्रायः प्राकृत तथा अपभ्रंश से आगम, लोप, विपर्यय आदि ध्वनि परिवर्तनों के नियमानुसार विकृत होकर हिन्दी में आये हैं । जैसे सर्प से सांप, कार्य से काज, कृष्ण से कान्हा आदि ।

देशज—जिनकी व्युत्पत्ति का कोई पता नहीं चलता तथा जो देश या स्थान के फलस्वरूप शब्द समूह में आ गए हैं उन्हें देशज कहते हैं, यथा—तेंदुआ, खिड़की, उस आदि ।

अनुकरणात्मक शब्द—वास्तविक तथा कल्पित ध्वनियों के अनुकरण पर निर्मित शब्दों को अनुकरण मूलात्मक शब्द कहते हैं । इनकी संख्या अपेक्षाकृत

हिन्दी के कम है। खटखटाना, धमकाना आदि कुछ ऐसे भी शब्द हैं जो तत्सम कहे जा सकते हैं, पर वास्तव में है नहीं।

तत्समाभास—कुछ शब्द संस्कृतज्ञों के गढ़े चले आ रहे हैं और तत्सम समान प्रतीत होते हैं। जैसे—राष्ट्रीय, पौराणिक, उन्नायक, श्राप, प्रण आदि।

अर्धतद्भव या तद्भवाभास—हिन्दी शब्द समूह में कुछ ऐसे भी शब्द हैं जो लिंग परिवर्तन में सादृश्य के अनुसार बना लिए गए हैं। जैसे—मौसी का पुल्लिग मौसा। यह तद्भव का ही रूपान्तर मात्र है। अन्य उदाहरण दुलहिन आदि है।

प्रतिध्वन्यात्मक—कभी कभी किसी शब्द के सादृश्य या सम्बन्ध बोध करने के लिए तथा प्रभाव डालने के लिए आवृत्ति कर दी जाती है; यथा लोटा-ओटा, रोटी-फोटी।

द्विज शब्द—हिन्दी में अनेक ऐसे शब्द हैं जो दो भाषाओं से शब्दों में समास करने पर बने हैं। उदाहरण—सरदार, काटना, रेलगाड़ी, अजायब घर।

हिन्दी शब्द समूह पर अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा है और उन प्रान्तीय भाषाओं के शब्द यथा स्थान हिन्दी में प्रवेश पा गये हैं।

उदाहणार्थ—मराठी—प्रगति, लागू, छावू, बादू। गुजराती—पड़ताल आदि।

२. भारतीय अनार्य भाषाओं से आगत शब्द—हिन्दी के तत्सम तथा तद्भव शब्दों में कुछ रूप ऐसे हैं जो प्राचीन काल में अनार्य-भाषा से आर्य-भाषाओं में आ गये थे। जिन प्राकृत शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत शब्दों से नहीं हो पाती है उनको भी हम अनार्य-भाषाओं से आए मान लेते हैं और ऐसे अनेक शब्द द्रविड, तामिल, तेलुगु, कोल आदि अन्य भाषाओं में उपलब्ध होते हैं। ऐसे शब्दों की मात्रा हिंदी में न्यूनतम है। द्रविड़ भाषाओं से आए शब्दों का अर्थ हिंदी में बहुत कुछ बदल गया है। पुत्रवाची द्राविड़ 'पिले' हिंदी में 'पिल्ला' होकर कुत्ते के बच्चे का अर्थ देता है। हिंदी में मूर्धन्य वर्णों (टकार) का आगमन द्रविड़ भाषाओं के प्रभाव के कारण है। हिन्दी का गणनावाचक 'कोड़ी' शब्द कोल भाषाओं से आया है।

३. विदेशी भाषाओं के शब्द—ये शब्द भारत में विदेशी शासन के फल-

स्वरूप हिन्दी आदि भारतीय भाषाओं में प्रवेश पा गये हैं। भारत पर मुसलमान और अंग्रेजों के दीर्घकालीन शासन के का कारण दो प्रकार का प्रभाव हिन्दी भाषा पर पड़ा है—(क) मुसलमानी प्रभाव तथा (ख) योरोपीय प्रभाव।

मुसलमानी प्रभाव—हिन्दी के शब्द-भाण्डार पर मुसलमानों की भाषाओं का साहित्यिक तथा ग्रामीण (बोलचाल) दोनों ही क्षेत्रों में अधिक प्रभाव पड़ा है। मुसलमानों की अरबी, फारसी और तुर्की के अनेक शब्द हिन्दी भाषा में आ गये हैं। अरब और तुर्की भाषा के जो शब्द हिन्दी में उपलब्ध हैं वे फारसी से होकर ही हिन्दी में आए हैं। फारसी यवन शासकों की दरबारी तथा साहित्यिक भाषा थी। अतः इनका तद्‌कालीन हिन्दी भाषा पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उदाहरणार्थ—अरबी—इम्तहान, औरत। फारसी—आदमी, आबादी, दुकान। तुर्की—तोप, लाश आदि। ये मुसलमानी शब्द आगम विपर्यय, लोप सम्बन्धी नियमों के सहारे रूपान्तरित होकर हिन्दी में ऐसे घुल-मिल गये कि ये शब्द सहसा विदेशी प्रतीत नहीं होते। जैसे मर्द से मरद, अमानत से अनामत, साहिब आदि।

योरोपीय प्रभाव—समस्त भारत पर शताब्दियों तक अंग्रेजी शासन के कारण अंग्रेजी भाषा के असंख्य शब्द हिन्दी में इस प्रकार मिल गये हैं कि ये किंचित् भी विदेशी नहीं प्रतीत होते। जैसे—टाइम, कोट, कांग्रेस, मिनट, रबर, मशीन, ट्रक, वारन्ट, सोडावाटर आदि। अंग्रेजी शब्द भी तत्सम तथा तद्भव दोनों ही रूपों में हिंदी में आये हैं पर अधिकांश शब्द तद्भव ही हैं। तत्सम रूप के निम्न उदाहरण दिये जा सकते हैं यथा—इंच, फुट, बोर्ड, बटन आदि। तवद्भव शब्दों का रूप आगम, विपर्यय, लोप आदि ध्वनि-परिवर्तन के अनुसार तत्सम रूपों से विकृत होकर हिन्दी में गृहीत हुआ है क्योंकि विदेशी शब्दों तथा ध्वनियों को भारतीय रूप में उच्चारण की विधा के अनुसार ढाल कर परिवर्तित कर दिया गया है। उदाहरणार्थ—

आगम—Sample—सैम्पुल, Recruite रंगरूट, Dozen=दर्जन।

विपर्यय—Desk=डेक्स।

लोप—Report=रपट, Lantern—लालटेन, Quinine=कुनैन।

कभी-कभी अंग्रेजी से हिन्दी में शब्द ध्वनि-परिवर्तन होकर आ गये हैं। स्वर

तथा व्यंजन दोनों ही ध्वनियों का परिवर्तन हो गया है, जैसे ड से द—डिसम्बर, ट से त—अगस्त (August) आदि। कहने का तात्पर्य यह है कि अंग्रेजी ध्वनियों को हिन्दी ध्वनियों के अनुरूप बना लिया गया है। प्राय: प्रत्यय भी हिन्दी के लगे हैं। अन्य योरोपीय शब्द भी हिन्दी में आ गये हैं। जैसे पुर्तगाली— पिस्तौल, पलटन, कैमरा। फ्रेंच—कारतूस। डच—तुरुप आदि।

अन्य शब्द—चीनी का चाय, मालय का साबू तथा तिब्बती—चुभी आदि अनेकों शब्द हिन्दी के शब्द-भण्डार में दृष्टिगोचर होते हैं।

प्रश्न ३२— भिन्न-भिन्न अन्तवाली हिन्दी संज्ञाओं के मूल रूप (Direct or Nominative Form) तथा विकृत रूप (Oblique Form) दीजिए तथा उन रूपों की व्युत्पत्ति पर टिप्पणी लिखिए।

अथवा

संज्ञा में ध्वनि परिवर्तन को सोदाहरण समझाइए।

हिन्दी में भिन्न-भिन्न अन्तवाली संज्ञाओं के पृथक्-पृथक् रूप मिलते हैं। हिन्दी विभक्तियों की रचना संज्ञाओं में कारक-चिह्नों के संयोग से होती है। जिस प्रकार संस्कृत में विभक्ति-संख्या आठ है और प्रत्येक विभक्ति में तीन-वचनों के क्रम से एक संज्ञा के चौबीस रूप बन जाते हैं, इसी प्रकार हिन्दी में भी कारकों की संख्या आठ है और एक वचन यथा बहुवचन मिलते हैं जब कि द्विवचन प्राय: समाप्त हो गया है। भिन्न-भिन्न कारकों के एकवचन तथा बहुवचन में भी संख्या में चार से अधिक रूप में मिलते हैं। लिंग-भेद से भी रूपों के स्वरूप में अन्तर पड़ जाता है। इस प्रकार संज्ञाओं के रूपों में अन्त वचन तथा लिंग-भेद के अनुसार अनेक रूपान्तर प्राप्त होते हैं। उनमें कारक-चिन्हों के जोड़ कर (तथा कभी-कभी कारक-चिन्हों का लोप भी हो जाता है) भिन्न-भिन्न विभक्तियों के रूपों की रचना की जाती है। उदाहरण के लिए 'श्याम' संज्ञा के संस्कृत तथा के तुलनात्मक रूप दिये जाते हैं—

	संस्कृत में			हिन्दी में	
कारक	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	श्यामः	श्यामौ	श्यामाः	श्याम (ने)	श्याम [ने]
कर्म	श्यामम्	श्यामौ	श्यामान्	श्याम को	श्यामों को
करण	श्यामेन	श्यामाभ्याम्	श्यामैः	श्याम से	श्यामों से
सम्प्रदान	श्यामाय	,,	श्यामेभ्यः	श्याम को [के लिए]	श्यामों को
अपदान	श्यामात्	,,	,,	श्याम से	श्यामों से
सम्बन्ध	श्यामस्य	श्यामयोः	श्यामानाम्	श्याम का, के, की	श्यामों का के, की
अधिकरण	श्यामे	,,	श्यामेषु	श्याम में, पर	श्यामों में, पर
सम्बोधन	(हे) श्याम	श्यामौ	श्यामाः	[हे] श्याम	[हे] श्याम

उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी और संस्कृत के इन रूपों में महान् अन्तर हो गया है। व्यंजन के संज्ञा-रूपों में विभक्तियां प्रायः संयुक्त रूप से जुड़ी हुई हैं जब कि हिन्दी में वियुक्त होकर कारक-चिन्हों के रूप में स्वतन्त्र सत्ता रखने लगी हैं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि हिन्दी रूपों का सम्बन्ध संस्कृत के रूपों से बिल्कुल नहीं है। ब्रज-भाषा, अवधी आदि हिन्दी की बोलियों में कुछ संयोगात्मक रूप पाये जाते हैं जैसे 'घर को' के लिए घरे रूप मिलता है। किन्तु खड़ी बोली में ऐसे रूपों का प्रायः नितान्त अभाव है।

संज्ञा के विकृत रूप (Oblique Form)

कारक-चिन्ह का प्रयोग करने के पहले हिन्दी संज्ञा के मूल रूपों में कुछ परिवर्तन करना पड़ता है। यह परिवर्तित रूप ही संज्ञा का विकृत रूप कहा जाता है। भिन्न-भिन्न अन्त वाली संज्ञाओं के प्रत्येक कारक में चार रूप अवश्य मिल जाते हैं। हिन्दी की इन संज्ञाओं के चार रूपों में दो मूल तथा दो विकृत रूप वचन भेद की दृष्टि से उपलब्ध होते हैं। यथा—

रूप	एकवचन	बहुवचन
पुं० घोड़ा—मूल रूप (कर्त्ता)	घोड़ा	घोड़े
विकृत रूप (अन्य कारक)	घोड़े	घोड़े
स्त्री० लड़की—मू० रूप (कर्त्ता)	लड़की	लड़की, लड़कियाँ
वि० रू० (अन्य कारक)	लड़की	लड़कियों इत्यादि

कुछ आकारान्त एक वचन शब्दों में भी कर्त्ता के अतिरिक्त अन्य कारकों में एकारान्त विकृत रूप उपलब्ध होता है जैसे ऊपर कर्त्ता एकव० 'घोड़ा' अन्य कारक में एकारान्त एकव० 'घोड़े' रूप में परिवर्तित हो गया है। इन विकृत रूपों के विषय में यह मत है कि ये संस्कृत की भिन्न-भिन्न विभक्तियों के एक वचन रूपों का अवशेष मात्र हैं।

प्राय: यह देखा जाता है कि हिन्दी संज्ञाओं के मूल तथा विकृत रूपों में 'ओं' लगाये से पूर्व ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों में 'ई' और 'ऊ' के स्थानों पर क्रमश: 'इ' और 'उ' कर दिया जाता है। स्त्रीलिंग के अन्त रूपों में इकारान्त या ईकारान्त तथा ऊकारान्त संज्ञाओं के मूलरूप बहुवचन में इआँ, इएँ तथा उएँ रूप बन जाते हैं। संज्ञा के मूल तथा विकृत रूपों में सामान्यत: समस्त सम्भावित परिवर्तन इस प्रकार दिए जा सकते हैं—

	पुंल्लिंग		स्त्रीलिंग	
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
		अकारान्त		
मूल रूप	आ	ए	×	एँ
विकृत रूप	ए	ओं	×	ओं
		अन्य रूप		
मूल रूप	+	×	×	एँ, आँ
विकृत रूप	+	ओं	×	ओं

लिंग

प्राकृतिक जड़ तथा चेतन पदार्थों के अनुसार लिंगों का वर्गीकरण प्राचीन तथा प्रारम्भिक काल से तीन वर्गों में विभाजित किया गया। पुरुषवाची पदार्थ पुंल्लिंग, स्त्रीवाची स्त्रीलिंग तथा लिंग की भावना के बिना पदार्थों की गणना

नपुंसक लिंग में की गईं। प्राकृतिक लिंग भेद तो समस्त भाषाओं में समान रूप से वर्तमान है, किन्तु व्याकरणिक दृष्टि से लिंगों की संख्या तथा मात्रा भिन्न-भिन्न भाषाओं में पृथक्-पृथक् रूप में मिलती है। उदाहरण के लिए संस्कृत में विशेषण, कृदन्त तथा अन्य पुरुषवाची सर्वनाम के रूप पुल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंग में भिन्न होते हैं। अंग्रेजी में अन्य पुरुष सर्वनाम के रूपों में विभिन्नता पाई जाती है।

भारतीय आर्य भाषाओं में लिंगों की संख्या भिन्न-भिन्न रूप में उपलब्ध होती है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में संस्कृत और प्राकृत में तथा आधुनिक आर्य भाषाओं में मराठी, गुजराती और सिंहली में तीन तीन लिंग मिलते हैं। हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी तथा सिन्धी में तो लिंग ही पाये जाते हैं। परन्तु बिहारी, उड़िया, बंगाली तथा आसामी में व्याकरण सम्बन्धी लिंग भेद बहुत कम मात्रा में पाया जाता है। भारत की पूर्वी भाषाओं में प्रायः लिंग भेद का अभाव है।

चैटर्जी महोदय का मत है कि बंगाली और भाषाओं में लिंग भेद की भावना लुप्त हो गई है। इसका स्पष्टीकरण कोल भाषाओं का इन पर प्रभाव है। दूसरे सम्भवतः इन भाषाओं में लिंग भेद की शिथिलता का कारण इन भाषाओं का स्वाभाविक विकास हो सकता है। द्रविड़ भाषाओं में तीन लिंग प्रचलित हैं।

व्याकरण के दृष्टिकोण से लिंग भेदों की अत्यधिक जटिलता का परिचय हिन्दी में मिलता है। इसमें केवल दो लिंग होते हैं—पुल्लिग और स्त्रीलिंग। नपुंसक लिंग का इसमें नितान्त अभाव है। प्रायः प्रत्येक अचेतन पदार्थ को इन दोनों लिंगों के अन्तर्गत रखा जाता है और तत्सम्बन्धी समस्त रूप परिवर्तन इन शब्दों में भी कर दिए जाते हैं। यही कारण है कि विभिन्न भाषा-भाषियों को हिन्दी के शुद्ध लिंग का प्रयोग करने में कुछ कठिनता का अवश्य अनुभव होता है। लिंग भेद से हिन्दी क्रियाओं के रूपों में भी अन्तर पड़ जाता है। और उनका रूप पुल्लिग और स्त्रीलिंग के अनुसार बन जाता है। उदाहरणार्थ-- लड़का जाता है। संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं में ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता है। संस्कृत के कृदन्त रूपों में लिंग भेद की स्थिति उपलब्ध होती है। हिन्दी कृदन्तों में लिंग भेद मिलता ही है, साथ ही कृदन्त से बने क्रिया रूपों में

भी इसका स्पष्ट दर्शन मिलता है।

हिन्दी आकारान्त विशेषणों में इसी लिंग-भेद के कारण विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार का भेद अन्य विशेषणों में कम पाया जाता है। लिंग-भेद के कारण हिन्दी-विशेषणों में सर्व-प्रचलित परिवर्तन इस प्रकार से हैं—

		पुल्लिग	स्त्रीलिंग
एकवचन	—	आ	ई
बहुवचन	—	ए	ई, ई

हिन्दी विशेषणों में 'ई' लगा कर बने हुए स्त्रीलिंग रूपों की व्युत्पत्ति संस्कृत के तद्धित प्रत्यय 'इका'>प्राकृत के 'इआ' से अथवा इनके प्रभाव के परिणामस्वरूप मानी जाती है। हिन्दी में सर्वनाम तथा क्रिया-विशेषण ही ऐसे व्याकरण रूप हैं जिनमें लिंग-भेद का प्रभाव नहीं पड़ता है और न रूप किसी प्रकार विकृत ही हो पाते हैं। मैं, तुम, वह आदि सर्वनाम रूप स्त्रीलिंग और पुल्लिग में समान रूप से प्रयुक्त होते हैं।

लिंग-भेद

प्रसिद्ध विद्वान् बीम्स का मत है कि हिन्दी संज्ञाओं के लिंग-भेद की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में संस्कृत में निर्धारित लिंग के अनुसार ही हिन्दी तत्सम तथा तद्भव शब्दों के लिंग माने जाते हैं। संस्कृत नपुंसक लिंग शब्द हिन्दी में प्रायः पुल्लिग हो जाते हैं। पुनः बीम्स ने अनेक अपवादों को देखकर कुछ सिद्धान्त निर्धारित किये। उनके कथनानुसार हिन्दी की पुल्लिग आकारान्त संज्ञाओं की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

(क) हिन्दी में कर्ता में आकारान्त रूप संस्कृत 'अन्' अन्त वाली संज्ञाओं से रचे जाते हैं; जैसे—राजन् से राजा।

(ख) संस्कृत की 'तृ' अन्तवाली संज्ञाओं से भी आकारान्त रूप बनाए जाते हैं, यथा—कर्तृ से कर्ता, दातृ से दाता, पितृ से पिता आदि। कुछ विदेशी शब्दों (फारसी, अरबी, तुर्की आदि से आए हैं। जैसे—दरिया, दरोगा आदि।

सामान्यतः हिन्दी के ईकारान्त शब्द स्त्रीवाची होते हैं लेकिन कुछ

अवस्थाओं में पुरुषवाची भी देखने में आते हैं। यथा—

(१) संस्कृत 'इन' अन्त वाले शब्दों से हिन्दी में ईकारान्त शब्द बन जाते हैं, जैसे—स० हस्तिन से हि० हाथी सं० स्वामिन से हि० स्वामी।

(२) संस्कृत के 'तृ' अन्त वाले पुल्लिग शब्दों से। यथा—स० भ्रातृ= हि० भाई, स० नप्तृ से हिन्दी में नाती रूप ।.लता है।

(३) संस्कृत के ईकारान्त पुल्लिग या नपुंसक लिग शब्द; यथा—संस्कृत दधि (नपुं०) हिन्दी में दही और स० भगिनीपति (पुं०) हिन्दी में बहनोई बन गया।

(४) संस्कृत के 'इय', 'इक' और 'ईय' अन्त वाले पुल्लिग या नपुंसक लिग शब्द, जैसे सं० पानीय=हि० पानी, सं० ताम्बूलिक=हि० तमोली, सं० क्षत्रिय=हि० खत्री।

(५) इकार या ईकार उच्चारण वाले संस्कृत के पुल्लिग या नपुंसक शब्द अन्त्य ध्वनि के लोप से हिन्दी में ईकारान्त हो जाते हैं, यथा—जीव =जी।

(६) संस्कृत के आकारान्त स्त्रीलिंग हिन्दी में भी स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते हैं। यथा - सं० वधू=हिन्दी 'बहू'। हिन्दी में आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत के आकारान्त स्त्रीलिंग शब्द और सदिग्ध व्युत्पत्ति वाले शब्द 'डिबिया', 'चिडिया' आदि से होती है।

हिन्दी में आकारान्त पुल्लिग शब्द ईकारान्त स्त्रीलिंग बन जाते है— लड़का (पु०)=लड़की (स्त्री०) 'इन', 'इनी' या 'आनी' लगाकर अनेक शब्द पुल्लिग से स्त्रीलिंग बना लिए जाते हैं; यथा—पुल्लिग धोबी से स्त्रीलिंग धोबिन (इन), हाथी (पु०)=हाथिन (स्त्री०), लुहार=लुहारिन। मुगल (पु०) =मुगलानी (स्त्री०), मेहतर=मेहतरानी आदि।

सस्कृत तथा हिन्दी में एक शब्द के रूप में लिंग-परिवर्तन दिखाई देता है। उदाहरणार्थ—संस्कृत के पु० देह, बाह हिन्दी में (स्त्री०) बन गये। संस्कृत नपु० अक्षि शब्द हिन्दी में आंख (स्त्री०) बन गया। सं० विष (नपु०) हिन्दी में पुल्लिग रूप में आता है।

वचन

हिन्दी में लिंग की भाँति वचन की संख्या में भी परिवर्तन हुआ और इसके

केवल दो रूप उपलब्ध होते हैं—एकवचन तथा बहुवचन। जब कि प्राचीन भारतीय अर्थ-भाषाओं में इन दोनों के अतिरिक्त द्विवचन का व्यवहार अधिक होता था परन्तु आधुनिक भाषाओं में धीरे-धीरे इसका लोप हो गया। हिन्दी में एकवचन से बहुवचन रूपों का निर्माण अत्यन्त सरल ढंग से होता है। पुल्लिग व्यंजनान्त तथा कुछ स्वतन्त्र संज्ञाओं में प्रथम एकवचन तथा बहुवचन के रूप समान होते हैं—घर, वर्तन, आदमी आदि संज्ञाएँ दोनों वचनों में समान रूप से प्रयुक्त होती हैं।

१. स्त्रीलिंग आकारान्त तथा व्यंजनान्त संज्ञाओं में प्रथम बहुवचन में 'एँ' लगता है। उदाहरण—रात से रातें (एँ), औरत से औरतें, कथा से कथाएँ आदि।

२. पुल्लिग आकारान्त शब्दों में बहुवचन बनाते समय कर्त्ता में 'आ' के स्थान में 'ए' कर दिया जाता है। यथा - लड़का से लड़के।

ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों में प्रथमा बहुवचन में या तो अनुस्वार जोड़ दिया जाता है अथवा 'ई' के स्थान पर 'इयाँ' कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ—लड़की से लड़कों या लड़कियाँ, पोथी से पोथियाँ, नदी से नदियाँ आदि।

४. अन्य सभी कारकों में बहुवचन में समान रूप से—ओं लगता है, जैसे घरों, लडकों, नदियों इत्यादि। ईकारान्त शब्दों में 'ई' ह्रस्व होकर 'ओं' के स्थान पर 'यों' हो जाता है, जैसे पोथी से पोथियों आदि।

प्रश्न ३३—हिन्दी तथा संस्कृत संज्ञा की कारक रचना के मूल सिद्धान्तों में क्या अन्तर हो गया है? तर्कपूर्ण उत्तर दीजिए।

हिन्दी के कारक-चिह्नों का विकास संस्कृत के विभक्त्यान्त रूपों से हुआ है। संस्कृत, प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं में विभक्ति या प्रत्यय रूप संयोगात्मक या संहित थे। उनका प्रयोग संज्ञाओं के साथ घुल-मिल कर होता था परन्तु आधुनिक आर्य-भाषाओं में अधिकांशतः इनका प्रयोग पृथक् शब्द के रूप में संज्ञाओं के साथ उनके पारस्परिक सम्बन्ध के बोध के लिए होता है। इस कारण हिन्दी आदि भाषाएँ व्यवहित तथा वियोगात्मक हैं। यह विकास का एक क्रमबद्ध इतिहास है। आर्य-भाषाओं के वे प्राचीन संयोगात्मक रूप धीरे-धीरे परिवर्तित होने लगे तथा मध्यकाल के अन्त में संज्ञा का प्रायः

रूप घिसकर विभिन्न विभक्तियों में प्रयुक्त होने लगा था। ये रूप इतने बदल गये कि इनके मूल रूप का परिचय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो गया है। अ. हिन्दी के वर्तमान कारक चिह्न मध्यकाल के अन्त में व्यवहृत सहकारी शब्दों के अवशेष मात्र है। इसके अतिरिक्त भाषा के साधारण शब्द-समूह में इनके अत्यन्त लघु होने के कारण इनके पृथक् अस्तित्व का आभास भी स्पष्ट नहीं मिलता है। फलतः संज्ञा के विकृत रूपों में कारक-चिह्न लगाकर हिन्दी विभक्तियों के रूप बनाये जाते हैं। इन कारक-चिह्नों का विकास निम्न रूप से हुआ है।

१. कर्ता और करण कारक—संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं में संज्ञाओं के प्रथमा विभक्ति के रूपों में कोई विकार प्रायः नहीं होता। उसी प्रकार हिन्दी में कर्ता रूपों में भी कोई कारक-चिह्न अधिकांश रूप में व्यवहृत नहीं होता। पश्चिमी हिन्दी में प्रत्यययुक्त कर्ता कारक का चिह्न 'ने' है।

ने—इसकी व्युत्पत्ति के विषय में अनेक मतभेद हैं। ब्लाक और ग्रियर्सन ने इसका सम्बन्ध संस्कृत 'तन' से माना है। बीम्स ने गुजराती, नेपाली आदि भाषाओं के आधार पर इस चिन्ह का उद्भव करण कारक के अन्तर्गत माना है और इसे कर्मणि और भाव प्रयोग का अर्थ देने वाला बताते हैं। उन्होंने 'लगि' और 'लागि' से इसका सम्बन्ध स्थिर किया है। ट्रम्प आदि विद्वानों के मतानुसार इसकी व्युत्पत्ति तृतीया के 'एन' प्रत्यय से मानी है। यथा—'रामेण पुस्तकं पठितं' की हिन्दी सामान्यतः 'राम ने पुस्तक पढ़ी' है। परन्तु आपत्ति यह है कि 'एन' का 'ने' रूपान्तर किस प्रकार हुआ। बीम्स ने इस तर्क के खण्डन में 'ने' सम्प्रदान के चिह्न को करण कारक की क्रिया में प्रयोग होना बताया है, यथा—मारवाड़ी में सम्प्रदान के लिए 'नैं' 'ने' का प्रयोग होता है। दूसरे प्राचीन हिन्दी में इसका प्रयोग न्यूनतम हुआ है। आधुनिक हिन्दी में इस 'ने' का प्रचलन प्रचुरता के साथ होने लगा है। हिन्दी में यह एक पृथक् कारक-चिह्न के रूप में प्रयुक्त होता है। अतः इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'एन' से न होकर किसी अन्य पृथक् अव्यय या शब्द से हुई होगी। इसका एक कारण यह भी है कि प्राचीन संयोगात्मक विभक्तियों (कारक) के अवशिष्ट रूप आधुनिक भाषाओं में प्रायः संयोगात्मक रूप में ही मिलते हैं। अभी तक इस 'ने' की व्युत्पत्ति

संदिग्ध ही है।

२. कर्म तथा सम्प्रदान कारक—हिन्दी में कर्म तथा सम्प्रदान के लिए एक ही प्रकार के कारण-चिह्नों का व्यवहार किया जाता है। खड़ी बोली में 'को' चिह्न दोनों विभक्तियों में प्रयुक्त होता है तथा 'के लिए' विशेषतः सम्प्रदान में आता है।

को—ट्रम्प के मत में इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द 'कृत' से है। इसका विकास-क्रम इस प्रकार है—कृतं>कितो>किओ>को। इसी प्रकार कृतं से 'कह्' की उत्पत्ति ऋ लोप के अनन्तर 'त' ध्वनि का महाप्राणीकरण (ह) है। प्राकृत में कत और कदं रूप भी मिलते हैं।

हार्नली, बीम्स तथा चैटर्जी आदि विद्वान् 'को' उत्पत्ति संस्कृत की 'कक्ष' से मानते हैं, यथा—कक्षं>कक्खं>काँख>काँह>कहुं>कहँ>कौ>को। 'कक्षं' का अर्थ समीप या ओर के रूप में ग्रहण किया जाता है।

के लिए—के का सम्बन्ध संस्कृत 'कृते' और लिए का 'लग्ने>लग्गि>लागि>लगे से जोड़ा जाता है। हिन्दी बोलियों में इसी अर्थ में 'लागि', 'लगे' चिह्न प्रयुक्त होते हैं। सत्यजीवन वर्मा के मतानुसार 'के', 'को' कारक चिह्नों को सम्बन्धवाचक प्राचीन चिह्न 'केरक' का रूपान्तर मानते हैं। हार्नली 'लिए' की व्युत्पत्ति 'लब्धे' (लाभार्थ) से मानते हैं। पर अन्तिम दोनों मत सर्वमान्य नहीं हैं। हार्नली ने अन्य हिन्दी की कुछ ग्रामीण बोलियों के मुख्य शब्दों की व्युत्पत्ति इस प्रकार से दी है—

हिन्दी बोली		अपभ्रंश रूप		प्राकृत रूप		संस्कृत शब्द
ठाई	<	ठाणि	<	ठाणे	<	स्थाने
पाहि	<	पक्खे	<	पहि	<	पक्षे
कने	<	कणे	<	—	<	कर्णे
काज	<	कज्जि	<	कज्जे	<	कार्ये
ताईं, तईं	<	तगएं	<	तरिए	<	तरिते
बाटे	<	बट्ट	<	वक्त	<	वार्ते
वरे	<					वरे

२. उपकरण तथा अपादान कारक—हिन्दी भाषा में इन दोनों कारकों का

चिन्ह 'से' ही व्यवहृत होता है। रूपान्तर से यही से, सन (अवधी), सों, सूं (ब्रज) तथा सैं (बुंदेली) हो गया है।

से—बीम्स के मतानुसार इसकी व्युत्पति संस्कृत 'समं' से है। समं>सअं> से। हार्नली के मत में 'से' का सम्बन्ध संस्कृत अस् तथा प्राकृत सन्तों से जोड़ते हैं। अब वीम्स की व्युत्पत्ति ही मान्य है। केलाग के मत में ब्रज 'ते' या 'तें' का विकास अपादान सूचक संस्कृत तः प्रत्यय से है, यथा—सं० फलतः; ब्रज फलतें।

४. सम्बन्ध कारक—इन कारक-चिन्हों का सम्बंध क्रिया की अपेक्षा संज्ञा या सर्वनाम रूपों से अधिक है। यही कारण है कि वचन तथा लिंग-भेद से इससे थोड़ा बहुत अन्तर हो जाता है। 'का' एकवचन का रूप बहुवचन में 'के' तथा स्त्रीलिंग में 'की' हो जाता है, यथा—उसका कुत्ता तथा उसकी गेंद। इस 'का' का अन्य बोलियों में 'को, कौ' (ब्रज), कर, केर (अवधी) रूप मिलता है।

का—इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में वीम्स तथा हार्नली एकमत हैं। इसका विकास संस्कृत 'कृतः' से हुआ है—कृतः>प्रा०करितो>करिओ> केरको>केरओ (पुरानी हिन्दी)>करो>केर>का। केलाग के अनुसार हिन्दी 'को या का' का सीधा सम्बन्ध स० कृतः के प्राकृत रूप किमः या कदः से हो सकता है। चटर्जी 'का' का सम्बन्ध प्राकृत 'क्क' से स्थापित करने हैं। सर्वप्रथम मत अधिक मान्य है। के और की 'का' के रूपान्तर मात्र हैं।

५. अधिकरण कारक—हिन्दी में अधिकरण के चिन्ह में, पैं (ब्रज), पर प्रयुक्त होते हैं।

में—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'मध्ये' से है, यथा—मध्ये>मज्झे>मज्झि> मज्झहि>माहि>महि में। इसमें मतभेद नहीं है।

पर—इसका विकास संस्कृत 'उपरि' से है। हार्नली पर का सम्बन्ध सं० परे>प्राकृत परि, पर से जोड़ते हैं।

इस प्रकार हिन्दी कारक-चिन्हों का विकास अधिकांशतः संस्कृत के विभक्त्यान्त प्रत्ययों से न होकर संस्कृत के पृथक् तथा स्वतन्त्र शब्दों से हुआ है।

प्रश्न ३४—हिन्दी सर्वनामों के रूप देकर उनकी व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालिए।

संज्ञाओं के स्थान पर सर्वनामों का प्रयोग किया जाता है अतः इनके रूप कारक विभक्तियों में संज्ञा रूपों के समान चलते हैं इनको आठ भागों में विभाजित किया गया है। संक्षिप्त रूप में उनकी व्युत्पत्ति नीचे दी जाती है।

१. **पुरुष वाचक सर्वनाम**—इसके तीन भेद हैं—उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष। अन्य पुरुष का विवेचन निश्चयवाचक के साथ किया जाएगा।

उत्तम पुरुष—इनके निम्न मुख्य रूपान्तर हैं—

	एकवचन	बहुवचन
मूलरूप	मैं—	हम
विकृतरूप	मुझे (मुझ)—	हमें
सम्बन्ध कारक	मेरा—	हमारा

मैं—इसका सम्बन्ध अहं से न होकर संस्कृत तृतीय रूप 'मया' से निर्धारित किया गया है। इसका विकास मया7प्रा० मई (मए)7अप० मइँ7हिन्दी मैं, है। मैं की अनुस्वार ध्वनि तृतीया 'एन' के प्रभाव से है।

मुझ—इसका उद्भव संस्कृत 'मह्य' से माना जाता है। जैसे मह्यं > मञ्झ7मझ7मुझ। मझ से मुझ की रचना तुझ के सादृश्य पर हुई है। कुछ विद्वान् इसका विकास प्राकृत रूप मह् से मानते हैं। इसी का रूप मैं के आधार पर मुझे हो गया है।

हम—हम की व्युत्पत्ति प्राकृत रूप 'अम्हे' से है जो वैदिक 'अस्मे' का परिवर्तित रूप है । अम्हे7म्हे7हमे7हम एक क्रमिक विकाह शृंखला का फल है। हमें का सम्बन्ध प्राकृत तथा अंपभ्रंश रूप 'अम्हई' से स्थिर किया जाता है।

ब्रज आदि पुरानी हिन्दी के 'हौं' (मैं) की उत्पत्ति संस्कृत अहं से है। जैसे अहं7अहयं (शौरसेनी)7हमुं7हउं (अपभ्रंश)7हौं (ब्रज)।

मेरा, हमारा—इन दोनों सम्बन्धबोधक सर्वनाम का सम्बन्ध प्राकृत रूप 'महकेरो' या 'मह करो' से निर्धारित किया जाता है। हिन्दी में यही रूप म्हारी म्हारो, मेरा आदि रूपों में विकसित हुआ है। इसमें केरी, करो प्रत्यय हैं। हमारा अम्हकेरी से बना है।

व्रज भाषा एकवचन का 'मो' विकृत रूप संस्कृत षष्ठी रूप 'मम' से विकसित है। जैसे—मम > मह > महु > मौं—मो। बीम्स का ऐसा ही अनुमान है।

मध्यम पुरुष—इसके मुख्य रूपान्तर निम्न हैं—

	एक व०	बहु व०
मूल रूप	तू	तुम
विकृत रूप	तुझ	तुम
सम्बन्ध कारक	तेरा	तुम्हारा

तू—इसका विकास संस्कृत 'त्वया' से हुआ है, यथा—त्वया (सं०) > तुअं (प्राकृत) > तुहं (अपभ्रंश > तू हिन्दी)।

तैं (व्रज) रूप मैं की तरह त्वया (> तइ, तए > तइं > तैं) से बना है।

तुझ—संस्कृत का 'तुभ्यं' प्राकृत में तुज्झ और हिन्दी में तुझ बना। इसी का विकृत रूप तुझे है।

तुम—तुम का उद्गम संस्कृत 'तुष्मे' से माना जाता है। तुष्मे से प्राकृत तुम्हें, तुम्ह तथा हिन्दी में तुम हो गया। हिन्दी तुम्हें का सम्बन्ध अपभ्रंश तुम्हइं से है।

तेरा, तुम्हारा—तेरा तथा तुम्हारा प्राकृत के तुहं केरो तथा तुम्ह करकों या तुम्हकेरो से बना हैं।

२—**निश्चयवाचक सर्वनाम**—हिन्दी में निश्चयवाचक सर्वनाम का व्यवहार अन्य पुरुष में भी होता है। इसके मुख्य रूप ये हैं—

	एक०	बहु०
मूल रूप	वह, यह	वे, ये
विकृत रूप	उस (उसे)	उन (उन्हें)
	इस (उसे)	इन (इन्हें)

यह—यह, ये निकटवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम है। यह शब्द संस्कृत एषः से बना है।

ये—ये की व्युत्पत्ति संस्कृत 'एते' से मानी जाती है। चैटर्जी ने समस्त निकटवर्ती निश्चयात्मक सर्वनामों का सम्बन्ध एतद् के रूपों से माना है।

इस—इसका विकास संस्कृत अस्य, प्राकृत एअस्स से माना जाता है। चैटर्जी 'इस' का अनुमान संस्कृत एतस्य से करते हैं।

इन यह रूप एतेन>एदिण>एदणा से संदिग्ध है। 'न' में षष्ठी बहु-वचन का प्रभाव दृष्टिगत होता है। इसे, इन्हें मूल रूपों के विकृत रूप हैं।

वह—इसकी व्युत्पत्ति अनिश्चित है। तद् रूपों से इनका यथार्थ सम्बन्ध नहीं है। चैटर्जी के मतानुसार संस्कृत के कल्पित रूप 'अव'>प्राकृत 'ओ' से वह की उत्पत्ति है। 'अव' और 'ओ' रूप ईरानी और दरद भाषाओं में भी मिलता है। 'उस' का सम्बन्ध प्राकृत अउस्स तथा संस्कृत अवस्य से जोड़ा जा सकता है। इसी प्रकार वे और इन का अनुमान किया जा सकता है। इसे, इन्हें विकृत रूप है।

३. अनिश्चयवाचक सर्वनाम—इसके मुख्य रूपान्तर इस प्रकार हैं।

	एक०	बहु०
मूल रूप	कोई	कोई
विकृत रूप	किसी	किन्हीं

कोई—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'कोऽपि' से है। प्राकृत में कोवि तथा हिन्दी में कोई बन गया। प से व और वइ हो जाना ध्वनि-नियमों के अनुकूल है।

किसी—संस्कृत शब्द 'कस्यापि' का ही रूपान्तर हिन्दी का किसी है। किन्हीं रूप की व्युत्पत्ति संदिग्ध तथा अनिश्चित है।

कुछ—इसका सम्बन्ध संस्कृत 'कश्चिद्' से माना जाता है। प्राकृत में इस का 'कुच्छ' रूप मिलता है।

४. सम्बन्धवाचक सर्वनाम—हिन्दी सम्बन्धवाचक सर्वनाम के प्रमुख निम्न रूप हैं—

	एक व०	बहु व०
मूल रूप	जो—जो	
विकृत रूप	जिस जिसे	जिन, जिन्हें।

जो—यह तो संस्कृत 'यः;' का रूपान्तर है। यः>यो>जो।

जिस—इसका सम्बन्ध संस्कृत यस्य से है। यस्य>जिस्स>जिस।

जिन—यह सर्वनाम संस्कृत के षष्ठी बहुवचनान्त रूप 'यानाम्' से विकसित माना जाता है। 'जिसे' और 'जिन्हें' इसके विकृत रूप हैं।

५. नित्य सम्बन्धी सर्वनाम—हिन्दी 'सो' के निम्न भेद हैं—

	एक व०	बहु० व०
रूप	सो	सो
विकृत रूप	तिस (तिसे),	तिन (तिन्हें)

सो—हिन्दी की प्राचीन बोलियों में इसका प्रयोग अन्य पुरुष के रूप में होता आया है। सो का विकास इस प्रकार है—(सं०) सः7सो (प्रा०)7 सो (हि०)।

तिस—संस्कृत तस्य7प्राकृत तस्य7हिन्दी तिस।

तिन—हिन्दी तिन की व्युत्पत्ति प्राकृत तेणं संस्कृत तेणां तथा तानां (तेषां) से मानी जाती है।

निजवाचक सर्वनाम—आप—संस्कृत 'आत्मन्' से प्राकृत में 'अप्पा' या 'आपा' और इसी से हिन्दी में आप बना है।

अपना—इसका विकास इस प्रकार है—प्राकृत अप्पाणों7अपभ्रंश अप्पाण7हिन्दी अपना।

आपस—इस शब्द का उद्भव संस्कृत आत्मस्य तथा प्राकृत आपस्स से सम्भावित है।

७. आदरवाचक सर्वनाम—निजवाचक तथा आदरसूचक 'आप' की व्युत्पत्ति का मूलरूप एक ही है। शिष्टता के दृष्टिकोण से मध्यम पुरुष के स्थान पर इसका प्रयोग प्रचलित हो गया है।

८. प्रश्नवाचक सर्वनाम—प्रश्नवाचक सर्वनाम कौन के मुख्य रूपान्तर निम्न हैं—

	एक व०	बहु० व०
मूल रूप	कौन	कौन
विकृत रूप	किस (किसे)	किन (किन्हें)

कौन—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के 'कः पुनः' से है। यथा कः पुनः7को उण7कवण7कवन7कौन। प का व और व का ओ में

ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। हिन्दी की बोलियों में कौन के स्थान पर 'को' रूप भी मिलते हैं। इसकी उत्पत्ति स्पष्टतः संस्कृत 'कः' से है।

किस—संस्कृत कस्य=प्राकृत कस्य=किसी हिन्दी।

किन—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत कानां या कांणा (केषां) कल्पित रूपों से मानी जाती है। जैसे—सं०कानां=प्रा० केणां=केनां=किन। किसे,किन्हें रूप अन्य प्रचलित रूपों के समान हैं।

क्या—हिन्दी 'क्या' की उत्पत्ति अनिश्चित है। किं से इसका सम्बन्ध अभी विचाराधीन है।

प्रश्न ३५—हिन्दी क्रिया के कालों में संस्कृत कालों के कौन से रूप अवशेष रह गये हैं। दोनों का सम्बन्ध स्थापित कीजिये।

या

हिन्दी क्रियाओं की व्युत्पत्ति बताइये।

संस्कृत भाषा की बड़ी विशेषता उसका संयोगात्मक होता है। अनेक रूपों की भांति कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः संस्कृत क्रियायें संयोगात्मक ही थीं। छः प्रयोग, दस काल, तीन पुरुष और तीन वचन के अनुसार प्रत्येक संस्कृत धातु के ५४० (६×१०×३×३) भिन्न-भिन्न रूप मिलते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक की अपनी व्याकरणिक विशेषता के फलस्वरूप रूप-साम्य भी नहीं पाया जाता है। इस विशेषता के कारण संस्कृत की लगभग दो हजार धातुओं को भ्वादिगण आदि दस गणों में विभक्त कर दिया गया है। गणों की धातुओं के रूप में परस्पर अधिक भेद पाया जाता है। इसलिए संस्कृत धातु रूप अधिक जटिल और दुरूह है।

मध्यकालीन आर्य-भाषाओं में धातुरूप—रचना की दृष्टि से समयानुकूल सरल होने लगे थे। मध्यकालीन आर्य-भाषाओं में क्रिया तो संयोगात्मक ही रही पर रूपों की संख्या संस्कृत की तुलना में कम हो गई थी। भ्वादिगण में धातुओं की संख्या अधिक होने से और उपयोगिता की दृष्टि से इसका प्रभाव अन्य गणों पर भी पड़ा। यह परिवर्तन हमें पालि भाषा में दृष्टिगत होने लगा था। संस्कृत द्विवचन का पालि में लोप हो गया और छः प्रयोग में से परस्मैपद का प्रभाव अधिक बढ़ जाने से पाँच ही प्रयोग पालि में अवशिष्ट रहे। इसमें लकारों की

संख्या भी आठ मिलती है। अतः पालि में सामान्यतः प्रत्येक धातु के (५×८×२×३)=२४० रूप ही मिलते हैं। प्राकृत भाषाओं के विकास के साथ ही धातु रूपों में सरलता का सन्निवेश और अधिक हो गया। महाराष्ट्री में गणों का प्रायः अभाव है और क्रिया के रूप भ्वादिगण के समान ही चलते है। संस्कृत के छः प्रयोगों में से केवल तीन प्रयोग कर्तृवाच्य कर्मवाच्य तथा प्रेरणार्थक और केवल चार काल ही अवशिष्ट रहे। कालों के कम हो जाने से कृदन्तों का प्रयोग बढ़ा, जिसका प्रभाव आधुनिक आर्य-भाषाओं की क्रियाओं के विकास पर स्पष्ट दिखाई देता है। यद्यपि संस्कृत, पालि और प्राकृत की क्रियाएँ संयोगावस्था में ही रहीं किन्तु इनके रूपों की संख्या न्यूनतर होती गई। संस्कृत के समान प्रयोग, काल तथा वचन आदि की अभिव्यक्ति के लिए धातु के पृथक्-पृथक् रूप नहीं रह गए। तब ऐसे समय में वियोगात्मक ढंग के नवीन रूपों की सृष्टि स्वाभाविक ही थी।

आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाएँ—आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की सबसे बड़ी विशेषता रूपों का वियोगात्मक होना है। हिन्दी में क्रिया-रूप भी अपेक्षाकृत अधिक सरल तथा व्यवहित हैं। हिन्दी में क्रमागत रूप से दो ही वचन एकवचन तथा बहुवचन रह गये जिनके तीन पुरुषों में तीन रूप होते हैं। हिन्दी में दो तीन काल ही ऐसे मिलते हैं जो संस्कृत कालों के विकसित रूप कहे जा सकते हैं। इसमें शुद्ध संयोगात्मक रूपों का सर्वथा अभाव है। कुछ धातुओं में दोनों प्रकारों का मिश्रण है। पर क्रिया रूपों की वियोगात्मक प्रवृत्ति हिन्दी में अधिकांशतः लक्षित होती है। धातु क्रिया का प्रत्यय हीन मूल रूप होता है जैसे चलना, चला, चलेगा, चलता आदि में 'चल' मूल रूप है। अतः 'चल' धातु कही जा सकती है। वैयाकरणों के अनुसार संस्कृत की धातु-संख्या लगभग एक हजार मानी जाती है। वैदिक काल की दो सौ धातुएँ लौकिक संस्कृत में लुप्त हो गई थीं। केवल ८०० का प्रयोग प्राचीन साहित्य में मिलता है। आगे चलकर संस्कृत में व्यवहृत धातुओं में से भी आधुनिक आर्य-भाषाओं में बहुतों का प्रचार नहीं रहा। प्राचीन धातुओं के आधार पर कुछ नवीन धातुओं की रचना भी कालांतर में हो गई थी तथा उनका प्रचलन भाषाओं में चल पड़ा है।

हिन्दी की धातुएँ—हार्नली ने गणना कर हिन्दी की धातुएँ पांच सौ मानी हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी धातुओं के दो रूप हैं—मूल धातु तथा यौगिक धातु। संस्कृत से हिन्दी में आने वाली धातुएँ मूल कही जा सकती हैं। हार्नली के अनुसार इनकी संख्या ३६३ है। कुछ मूल धातुएँ संस्कृत धातुओं से स्वरूप की दृष्टि से साम्य रखती हैं। यथा हिन्दी की 'खा' तथा संस्कृत की 'खाद्' में पर्याप्त साम्य है। कुछ धातुओं में संस्कृत के किसी विशिष्ट गण का प्रभाव मिलता है या प्राय: गण-परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ हि० नाच∠सं० नृत=य+आदि।

(क) **मूल धातु**—मूल धातुओं को चार वर्गों में रक्खा जाता है—

१. वे हिन्दी की मूल धातुएँ जो प्राचीन भारतीय आर्य-भाषाओं (प्रा० भा० आ०) से क्रमगत आई हैं तथा उनका सम्भवत: तद्भव रूप ही मिलता है।

२. वें मूल धातुएँ जो प्रा० भा० आ० की धातुओं के प्रेरणार्थक रूपों से विकसित हुई हैं। इनका भी प्राय: तद्भव रूप मिलता है।

३. वं मूल धातुएँ जो आधुनिक काल में सीधे संस्कृत से लीं गई हैं। वे तत्सम या अर्द्ध-तत्सम रूप में हिन्दी में लक्षित होती हैं।

४. वे मूल धातुएँ जिनकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है, पर रूप की दृष्टि से संस्कृत धातुओं के सदृश प्रतीत होती हैं।

(ख) **यौगिक धातु**—हिन्दी यौगिक धातुएँ वे कहलाती हैं जिनका विकास संस्कृत धातुओं से नहीं हुआ है किन्तु जिनका सम्बन्ध या तो संस्कृत रूपों से है या आधुनिक काल में नवीन रूप में रचित हैं। इनके तीन विभाग किये जा सकते हैं-

नाम धातु—जिनका निर्माण सज्ञा रूपों से हुआ है, यथा (हि० जग ∠सं जन्म)।

२. संयुक्त धातु—जो रूपों का मिश्रण है, जैसे हिन्दी चुक∠सं० च्युत +कृ।

३. अनुकरण मूलक—उदाहरणार्थक हिन्दी फूकना, फड़फड़ाना आदि। हार्नली ने हिन्दी में यौगिक धातुओं की संख्या १८६ मानी है। मूल और

यौगिक धातुओं के अतिरिक्त कुछ विदेशी भाषाओं की धातुएँ तथा शब्द हिन्दी में धातुओं के समान प्रयुक्त होने लगे हैं।

सहायक क्रिया—सहायक क्रियाओं तथा कृदन्त रूपों का हिन्दी की काल रचना में विशेष हाथ है। हिन्दी काल रचना में 'होना' सहायक क्रिया का व्यवहार होता है तथा उसके रूप भिन्न कालों में पृथक्-पृथक् पाये जाते हैं। 'होना' के विभिन्न रूप निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाते हैं—होना (पुंल्लिग) ≥सं० अस्।

	वर्तमान (निश्चयार्थक)		भूतकाल (निश्च०)		भविष्यत् (नि०)	
	एकवचन	बहुवचन	ए० व०	ब० व०	ए० व०	ब० व०
उत्तम पु०	हूं	हैं	था	थे	होऊँगा	होवेंगे।
मध्यम पु०	है	हो	था	थे	होगा	होंगे।
अन्य पु०	है	हैं	था	थे	होगा	होंगे।

	वर्तमान (आज्ञा)		भूत (संभावनार्थ)	
उ० पु०	होऊँ	हों	होता	होते।
म० पु०	हो	होओं	होता	होते।
अ०पु०	हो	होवें	होता	होते।

भविष्य आज्ञा के अर्थ में मध्यम पुरुष बहुवचन में 'होना' रूप का व्यवहार किया जाता है। स्त्रीलिंग में अनेक रूप परिवर्तन हो जाते हैं। इस 'होना' धातु के रूपान्तरों का सम्बन्ध व्युत्पत्ति की दृष्टि से संस्कृत की एक से अधिक क्रियाओं से है। इनकी यथासम्भव व्युत्पत्ति इस प्रकार दी जा सकती है—

हूँ इन सबकी व्युत्पत्ति संस्कृत की अस् धातु से संभावित है। यथा—हि० हूँ० (बोली हों) <प्रा० अम्हि, अस्मि <सं० अस्मि।

है—हिन्दी है<प्रा० अस्थि=सं० अस्ति मिलता है। इस क्रिया से बने हिन्दी बोलियों के अनेक रूपों में तथा कुछ अन्य प्रान्तीय भाषा के रूपों में भी √अस का 'अ' वर्तमान है जैसे अहै आदि। खड़ी बोली में प्रायः इसका लोप हो गया है।

'था' आदि भूतकाल की क्रियाओं का सम्बन्ध संस्कृत 'स्था' धातु से जोड़ा जाता है। 'होना' के शेष रूपों का उद्‌भव भू धातु से माना है।

था—हिन्दी 'था'∠प्राकृत थाइ, ठाइ∠संस्कृत 'स्थित' रूप में प्राप्त होता है।

होता—हि० होता∠प्रा० होन्तो, हान्तो∠सं० भवत्।

हुआ—(बो० हुयो, भयो)∠प्रा० भवि०∠सं० भवति।

रहना—हिन्दी 'रहना' की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। टर्नर ने इसका सम्बन्ध 'रहित' आदि शब्दों की भाँति रह धातु से माना है।

पहाड़ी, बंगाली, गुजराती, राजस्थानी तथा पुरानी अवधी आदि में उपलब्ध 'छ' ध्वनि से युक्त सहायक क्रिया की व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० की कल्पित धातु√अच्छं से मानी जाती है। टर्नर इसका सम्बन्ध सं० 'आ√क्षे' से जोड़ते हैं।

बाटँ—पूर्वी हिन्दी की कुछ बोलियों में यह रूप मिलता है। इसका आविर्भाव सं०√वृत् से जोड़ा जाता है। यथा—हि० बाटँ∠प्रा० वट्टइ∠सं० वर्तते।

हिन्दी क्रियाओं के काल—प्रमुख रूप से कालों की संख्या प्रायः तीन ही मानी जाती है—वर्तमान, भूत और भविष्यत्। परन्तु निश्चयार्थ, आज्ञार्थक, के कालों की संख्या सोलह तक मानी गई है। ऐतिहासिक रूप से हिन्दी क्रिया के कालों का तीन वर्गों में विभाजन किया जा सकता है।

[क] संस्कृत कालों के अवशेष काल—इस वर्ग में वर्तमान संभावनार्थ और आज्ञार्थक की गणना की जाती है। आचार्य ग्रियर्सन के मत में हिन्दी वर्तमान सम्भावनार्थक रूपों का सम्बन्ध संस्कृत के वर्तमान काल के रूपों से स्थापित किया जाता है। उदाहरणार्थ—संस्कृत 'चलामि'7प्राकृत 'चलामि'7 अपभ्रंश 'चलऊं' और7हिन्दी चलूं का विकास हुआ है। हिन्दी के प्रथम पुरुष के रूपों की व्युत्पत्ति संस्कृत के रूपों से माना जाती है। सं० प्रथम पुरुष बहुवचन का 'न' मराठी में अब भी वर्तमान है, यथा, 'उठती' मराठी और 'वे उठते हैं' हिन्दी। इसी प्रकार मध्यम पुरुष के रूपों की उत्पत्ति संस्कृत से मानी जा सकती है। बीम्स के अनुसार उत्तम पुरुष एकवचन और बहुवचन के रूपों में परस्पर परिवर्तन हो गया है। उदाहरणार्थ—चलामः7प्रा० चलामु,

चलांउ>चलौं चलूं। इसी प्रकार सं० चलाभि>प्रा० चलाँइ>चलैं, चलें। ग्रियर्सन के मत में हिन्दी आज्ञार्थक रूपों का उद्भव संस्कृत वर्तमान काल के रूपों से है। किन्तु बीम्स के अनुसार आज्ञा के रूपों से है। वास्तव में संस्कृत के वर्तमान और आज्ञार्थक दोनों कालों का प्रभाव हिन्दी के आज्ञा रूपों पर पड़ा है।

उदाहरणार्थ—एक वचन में—संस्कृत	प्राकृत >	हिन्दी
चलानि	चलमु	चलूं।
चल	चलसु	चल।
चलतु	चलदु, चलउ	चलें।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि म० पु० एकवचन को छोड़कर आज्ञार्थक के अन्य हिन्दी रूप वर्तमान सम्भावनार्थक के ही समान हैं। आज्ञार्थक और सम्भाव्य भविष्यत् के रूपों का इस प्रकार का मेलजोल प्राकृत में भी उपलब्ध हो जाता है।

(ख) संस्कृत कृदन्तों से बने काल—इस वर्ग के अन्तर्गत भूतकाल (निश्चयार्थ, सम्भावनार्थ) तथा भविष्यत् (आज्ञार्थक) आते हैं। इनके लिए क्रमशः भूतकालिक तथा वर्तमानकालिक कृदन्त तथा क्रियार्थक संज्ञा का प्रयोग होता है

(ग) आधुनिक संयुक्त काल—इस वर्ग में वे समस्त काल आ जाते हैं जिनकी रचना कृदन्त तथा सहायक क्रियाओं के सहयोग से हुई है। इनका सम्बन्ध संस्कृत कालों से जोड़ना उचित नहीं है। वाक्य रचना के लिए हिन्दी में नवीन प्रणाली का आश्रय लिया गया है। संस्कृत में 'य' के प्रयोग से कर्मवाच्य बनता है। प्राकृत तथा आधुनिक आर्य-भाषाओं में इसके अनेक रूप प्राप्त होते हैं जैसे 'आ' के योग से बुझाय, कहाय आदि में 'आ' कर्मवाच्य की व्युत्पत्ति चैटर्जी के कथानुसार संस्कृत नाम धातु के 'आय' से हुई है।

१. प्रेरणार्थक धातु—संस्कृत के प्रेरणार्थक रूपों की 'अय' या 'पय' लगाकर होती है। यथा कारयति (√कृ), हासयति (√हस्) दापयति (दा) गपयति (गै)। प्राकृत में प्रेरणार्थक धातु रचना की दो रीतियाँ हैं—एक में सं० 'अय' का 'ए' दूसरे में 'प' का 'व' में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ—

सं० कारयति 7 प्रा०कारेई या करावेइ, करावेई आदि। हिन्दी में प्रेरणार्थक धातु के चिह्न 'आ' 'वा' प्राचीन चिह्नों के रूपान्तर मात्र हैं। सकर्मक धातुओं में दोनों चिह्नों का प्रयोग किया जाता है—यथा, जलना, जलाना, जलवाना, पकना, पकाना, पकवाना आदि। वस्तुत: हिन्दी में 'वा' रूप व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रेरणार्थक है।

२. नामधातु—संज्ञा या विशेषण में क्रिया के प्रत्यय जोड़ने से हिन्दी में नाम धातु बनते हैं। प्राचीन काल में भारतीय आर्य-भाषाओं में इनका प्रयोग मिलता है। हिन्दी नाम धातु 'आ' का उद्भव सं० नामधातु 'आप' से माना जाता है, इस पर प्रेरणार्थक के 'आपय' का प्रभाव भी लक्षित होता है।

३. अनुकरणमूलक धातु —हिन्दी में संयुक्त क्रियाओं की रचना शब्दों की आवृत्ति के द्वारा की जाती है। ये क्रियाएँ प्राय: अनुकरणमूलक हैं।

उदाहरणार्थ—खटखटाना, फड़फड़ाना, तिलमिलाना आदि।

हिन्दी संयुक्त क्रियाओं का निर्माण आधुनिक युग में ही हुआ है। प्राचीन भारतीय आर्य-भाषाओं में जो कार्य प्रत्यय के योग से होता था, वह कार्य आधुनिक भा० आ० भाषाओं में संयुक्त क्रिया के प्रयोग से सम्पन्न हो जाता है। इस कारण हिन्दी भाषा में इसका प्रयोग पर्याप्त मात्रा में होता है।

प्रश्न ३६—हिन्दी क्रिया की काल-रचना में कृदन्तों के महत्त्व का विवेचन कीजिए।

सहायक क्रिया के अतिरिक्त हिन्दी क्रिया की काल-रचना में कृदन्त रूपों का विशेष रूप से सहयोग लिया जाता है। अत: हिन्दी क्षेत्र में इनका महत्व अत्यधिक है। काल-रचना की दृष्टि से कृदन्तों का विभाजन तीन श्रेणियों में किया जा सकता है—१. वर्तमानकालिक कृदन्त, २. भूतकालिक कृदन्त, तथा ३. पूर्वकालिक कृदन्त। ४. क्रियार्थक संज्ञा।

वर्तमान-कालिक कृदन्त—हिन्दी काल-रचना में यह धातु के अन्त में 'ता' लगाने से बनता है। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के वर्तमान कालिक कृदन्त 'अन्त' (शतृ प्रत्ययान्त) वाले रूपों से मानी जाती है। यथा—

हिन्दी	प्राकृत	संस्कृत
पचता	पंचतो	पंचत् (न्)
पचती	पंचती	पचन्ती

२. भूतकालिक कृदन्त—यह धातु के अन्त में 'आ' लगाने से बनता है। इसका सम्बन्ध संस्कृत के भूतकालिक कर्मवाचक कृदन्त के 'त', 'इत' (क्त प्रत्ययान्त) वाले रूपों से माना जाता है—यथा, हिन्दी चला = प्रा० चलिओ > सं० चलितः। हि० करा > प्रा० करिओ > सं० कृतः। भोजपुरी आदि बोलियों में 'ल' अन्त वाले रूप भी उपलब्ध होते हैं। इनका सम्बन्ध मध्य भारतीय आर्य भाषा के 'इल्ल' तथा प्रा० भा० आर्य भाषा के 'ल' प्रत्यय से जोड़ा जाता है।

३. पूर्वकालिक कृदन्त—इसकी रचना हिन्दी में 'कर-के' चिह्नों के लगाने से होती है जब कि संस्कृत में 'त्वा' या 'य' प्रत्ययों से इसकी रचना की जाती है। उपसर्ग विहीन शब्दों के साथ प्राकृत में 'य' से सम्बन्धित रूपान्तरों का व्यवहार किया जाता है अतः संस्कृत के 'त्वा' और 'य' का भेद स्थिर न रह सका। उदाहरणार्थ = हिंदी सुन (ब्रज० सुनि) < प्रा० सुणिअ < सं० श्रुत्वा। बोलियों में इस प्रकार के इकारांत संयोगात्मक पूर्वकालिक कृदन्त रूपों का प्रयोग प्रायः पाया जाता है। व्यवहार में आते-आते इस प्रकार का लोप हो गया और सुनि (ब्रज) का 'सुन' रह गया। हिन्दी कर < प्रा० करिअ और के < प्रा० 'कइव' से है।

४. क्रियार्थक संज्ञा—धातु के अन्त में 'ना' जोड़ने से बनती है। बीम्स 'ना' का सम्बन्ध सं० भविष्य कृदन्त 'अनीय' से मानते हैं। जैसे—हिन्दी 'करना' < प्रा० करणीय < सं० करणीअं। बोलियों में 'अन' रूप का भी व्यवहार किया जाता है जैसे देखना, चलना। इन 'अन' रूप की व्युत्पत्ति संस्कृत क्रियार्थक संज्ञा अनं (जैसे सं० कारणं चलनं) से मानी जाती है। हिन्दी भाषा में क्रियार्थक संज्ञा का व्यवहार भविष्य (आज्ञार्थक) के अर्थ में होता है। कुछ आधुनिक आर्य भाषाओं में 'व' के संयोग से क्रियार्थक संज्ञा की रचना की जाती है जैसे बंगाली, उड़िया, ब्रजभाषा तथा गुजराती आदि में। इसका सम्बन्ध संस्कृत कर्मवाच्य भविष्य कृदन्त प्रत्यय तव्य से माना जाता है। जैसे—हिंदी करब < प्रा० करेअव्व करिअव्वं, < सं० कर्तव्यम्। हिंदी की कुछ

बोलियों में भविष्यत् काल में भी इस—'ब' अन्त वाले रूप का प्रयोग पाया जाता है। (क) कर्तृवाचक संज्ञाएँ क्रियार्थक संज्ञा के विकृत रूप में वाला, हारा आदि शब्द लगाकर बनाई जाती जाती हैं। जैसे जाने वाला, पकड़ने वाला आदि। हिन्दी वाला का सम्बन्ध सं० 'पालक' तथा 'हारा' का सम्बन्ध सं० 'धारक' से जोड़ते हैं। कुछ बोलियों में 'अइया' लगाकर भी कर्तृवाचक सज्ञा की रचना की जाती है, यथा पढ़ैय्या, करय्या आदि। इसका उद्भव भी संस्कृत 'तृक' से है। जैसे, पढ़ैया <पठतृकः।

५. तात्कालिक कृदन्त— तात्कालिक कृदन्तों का निर्माण वर्तमानकालिक कृदन्तों में 'ही' लगाकर किया जाता है। प्रायः वर्तमानकालिक कृदन्त के विकृत में ही प्रयुक्त किया जाता है, यथा— जाते ही, नहाते ही आदि। अपूर्ण क्रिया द्योतक कृदन्त वर्तमानकालिक कृदन्त का ही एक परिवर्तित रूप है। जैसे—उसे पुस्तक पढ़ते नींद आ गई। भूतकालिक कृदन्त के विकृत रूप से पूर्ण क्रिया द्योतक कृदन्त का जन्म हुआ है। उदाहरणार्थ—'उसे गये बहुत दिन हो गये।'

आधुनिक काल में हिन्दी कृदन्तों का प्रयोग काल के अर्थ में होने लगा है। संस्कृत कृदन्तों से ही हिन्दी कृदन्तों की उत्पत्ति हुई है परन्तु काल रूप में प्रयुक्त हिन्दी कृदन्तों का सम्बन्ध सीधा संकृस्त कालों से नहीं है। मूल कालों की कमी हो जाने से प्राकृत में भी इसी प्रकार कृदन्त का प्रयोग पाया जाता है। आधुनिक काल में जब प्राचीन कालों के संयोगात्मक रूप लुप्त हो गये तो कालों की रचना के उद्देश्य से अधिकांशतः कृदन्त रूपों का प्रयोग स्वाभाविक था।

कृदन्त से बने हुए हिन्दी में काल प्रायः तीन हैं—

१. भूत निश्चयार्थक—भूतकाल कृदन्त से।

२. भूत सम्भावनार्थक—वर्तमान काल कृदन्त से।

३. भविष्य आज्ञार्थक—क्रियार्थक संज्ञाओं से।

इन कृदन्त जन्य कालों के कारण ही हिन्दी क्रिया में लिंग भेद पाया जाता है जो संस्कृत कृदन्तों की एक विशेषता है। संस्कृत काल तथा लहरों में लिंग-भेद के दर्शन कहीं नहीं होते है। लिंग-भेद की दृष्टि से मूल कृदन्तों का स्थूल-

भेद इस प्रकार से किया जा सकता है—चल से—

पुल्लिग		स्त्रीलिग	
एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
चलता, चला	चलते, चले	चलती, चली	चलतीं, चलीं ।

इस प्रकार क्रिया की काल-रचना में कृदन्तों का अपरिमित महत्व है ।

प्रश्न ३७—संख्यावाचक विशेषणों की व्युत्पत्ति स्पष्ट कीजिए ।

हिन्दी भाषा में परिवर्तन के साथ संख्यावाचक विशेषणों में जो परिवर्तन हुए हैं वे विचित्र ही प्रकार के हैं । विचित्रता यह है कि इन विशेषणों का विकास अन्य हिन्दी शब्दों की भाँति क्रमिक या क्रमबद्ध नहीं हो पाया है अपितु इनका सम्बन्ध सर्वप्रचलित भाषा से है । केवल कुछ ही रूपों में प्रादेशिक, प्राकृत तथा अपभ्रंश का प्रभाव है—यथा—गुजराती—बे, मराठी – दोनों और बंगाली—दुई । इन संख्यावाचक विशेषणों को पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१. पूर्ण संख्यावाचक विशेषण
२. अपूर्ण संख्यावाचक विशेषण
३. क्रम संख्यावाचक विशेषण
४. आवृत्ति संख्यावाचक विशेषण
५. समुदाय संख्यावाचक विशेषण

१. पूर्ण संख्यावाचक विशेषण—बीम्स के ग्रंथ में इन विशेषणों का प्राचीन और परिष्कृत रूप प्राप्त होता है। इस विषय में चैटर्जी महोदय ने भी कुछ नवीन अन्वेषण किए हैं। अत: उपलब्ध सामग्री के आधार पर अब तक जो कुछ भी प्रकाश संख्यावाचक विशेषणों पर पड़ा है उसका ध्वनि-विकारों सहित संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जाता है ।

एक— संस्कृत एक>प्राकृत>एक्क>हिन्दी एक । हिन्दी गिनती में एक अनेक रूप उपलब्ध होते हैं । ग्यारह>सं० एकादश का विकृत रूप है । 'ग्य' अंग क् के घोष रूप तथा प्राकृत अग 'एगा' से प्रभावित है । एकदश का द्वादश के सादृश्य पर एकादश रूप संस्कृत बना और यह 'आ' ध्वनि प्राकृत और हिन्दी में सुरक्षित रही । संयुक्त संख्याओं में 'ए' का सम्प्रसारण

'इ' रूप मिलता है, यथा—इक्कीस, इकत्तीस, इकतालीस आदि। इनमें 'इ' ध्वनि गुण की मूल ध्वनि 'ए' का परिवर्तित रूप है।

दो—हिन्दी के दो का रूप संस्कृत में 'द्वौ' तथा प्राकृत में 'दो' हैं। संस्कृत 'द्वौ' की वह ध्वनि प्राकृत तथा गुजराती में 'बे' में बदल गई है तथा हिन्दी में भी संयुक्त संस्थाओं में प्राय: यह रूप सुरक्षित है। जैसे—बारह, बाईस, बत्तीस, बयालिस आदि। शेष 'दो' ध्वनि हिन्दी समासों में 'दु', 'दू' तथा 'दो' रूप में मिलता है, यथा दुपट्टा, दोनों, दोहरा आदि।

तीन—हिन्दी का तीन<प्राकृत तिष्णि<संस्कृत त्रीणि रूपों से साम्य रखता है। संस्कृत त्रय का स्पष्ट प्रभाव हमें संस्कृत संख्याओं में 'ते', 'तें', 'ती' या 'तिर' रूपों में दृष्टिगोचर होता है; उदाहरणार्थ—तेरह, तेंतीस, तिता-लीस, तिरपन आदि।

चार—हिन्दी का चार प्राकृत में 'चत्तारि' तथा संस्कृत में चत्वारि रूप में प्राप्त होता है। संयुक्त संख्याओं और समासों में हिन्दी के 'चौ' तथा चौर रूप मिलते हैं जिन पर संस्कृत रूप 'चतुर' तथा प्राकृत रूप 'चउरों' का प्रभाव है। यथा—चौधरी, चौरासी, चौमास, चौदह आदि। चारपाई, चारखाना आदि नवीन समस्त रूपों में चार का प्रयोग किया गया है।

पांच—हिन्दी का पाँच संस्कृत तथा प्राकृत दोनों में 'पंच' रूप में मिलता है। हिन्दी की संयुक्त संस्थाओ पर प्राकृत 'पन' या 'पण' का स्पष्ट प्रभाव है। जैसे—पन्द्रह, पेंतालीस आदि। कुछ संख्याओं में 'पन' 'वन' में बदल गया है, यथा—इक्यावन, चौवन आदि। प्राकृत का पंच कहीं 'पंच' तथा कहीं 'पच' बन गया है। उदाहरणार्थ—पंचवटी, पंचामृत, पचपन, पचासी, पचमेल आदि। इस प्रकार कुछ ध्वनि-परिवर्तन भी हो गया है।

छः—हिन्दी की यह संख्या प्राकृत में 'छ' तथा संस्कृत में 'षट्' मिलती है। प्राकृत का 'छ' का 'षट्' से विकास अनियमित सा है परन्तु 'ष' का अभाव हिन्दी के सोलह और साठ में दृष्टिगत होता है। अन्य संयुक्त संस्थाओं से 'छ' या 'छया' रूप समान रूप से मिलता है, यथा—छत्तीस, छयासठ आदि। चैटर्जी ने 'छ' का सम्बन्ध प्राचीन कल्पित रूप 'छय' या 'क्षक' से माना है। परन्तु इसका रूप अभी अस्पष्ट तथा सदिग्ध सा है।

सात—हिन्दी का सात प्राकृत में 'सत्त' तथा संस्कृत में 'सप्त' है। कुछ संयुक्त संख्याओं में प्राकृत का सत्त या सत अपने शुद्ध रूप में अब भी सुरक्षित मिलता है, तथा—सत्तरह, सतासी, सतानवें आदि। इसका 'सैं' रूप भी प्रयुक्त होता है, जैसे सैंतीस, सैंतालीस आदि। 'अड़सठ' के सादृश्य पर 'सरसठ' या 'सड़सठ' संख्या बन गई हैं।

आठ—हिन्दी का 'आठ' प्राकृत में 'अट्ठ' तथा संस्कृत में 'अष्ट' है। संयुक्त संस्थाओं में 'अट्ठ', 'अठा' तथा अठ आदि रूप मिलते हैं। उदाहरणार्थ—अट्ठाईस, अठारह, अठहत्तर आदि तथा अड़तालीस और अड़सठ में अठ का अड़ रूप हो जाता है।

नौ—यह रूप प्राकृत में 'नअ' और संस्कृत में 'नव' उपलब्ध होता है। केवल नवासी और निन्यानवे में नौ का रूप प्रयोग होता है। इनका संस्कृत मे भी समान रूप 'नवशीत नवनवति।' अन्य संयुक्त संख्या के रूपों में (दहाई वाली संख्याओं में) संस्कृत ऊन>प्रा० ऊण>हि० उन (एक कम) लगाकर बनती हैं। उदाहरणार्थ—उन्नीस, उनासी, उन्तालीस आदि।

दस—यह प्राकृत में दस तथा संस्कृत में 'दश' है।

ग्यारह आदि संयुक्त संख्याओं में प्राकृत के दह, रह, लह आदि समस्त रूप वर्तमान है, जैसे—चौदह, अठारह, सोलह आदि। हिन्दी में 'स' का 'ह' तथा र, ल का परस्पर परिवर्तन रूप से हो जाता है।

बीस—हिन्दी का 'बीस' <प्राकृत 'बीसइ' तथा संस्कृत 'विंशति' का रूपान्तर है। बीस की यह ध्वनि संयुक्त संख्याओं चौबीस और छब्बीस में सुरक्षित है परन्तु कहीं-कही 'ब' का लोप होकर 'ईस' ध्वनि शेष रह गई है। उदाहरणार्थ—इक्कीस, बाईस, तेईस, चौबीस आदि।

तीस—हिन्दी का 'तीस' प्राकृत में 'तीसा' और संस्कृत में 'त्रिंशत' रूप में दृष्टिगत होता है। संयुक्त संख्याओं में 'तीस' ही रहता है, यथा—इकतीस, बत्तीस, तैंतीस इत्यादि।

चालीस—यह हिन्दी रूप प्राकृत में 'चत्तालीसा' और संस्कृत में चत्वारिंशत् मिलता है। संयुक्त संख्याओं में 'चत्तालीस' में 'च' का लोप होकर तालीस तथा 'त' के लुप्त हो जाने पर या लीस या आलीस रूप मिलते है। जैसे—

इकतालीस, चवालीस आदि ।

पचास —हिन्दी का पचास प्राकृत में पंचासा और संस्कृत में 'पचाशत्' रूप मिलता है । संयुक्त संख्याओं में पचास का स्थानापन्न रूप 'पन', 'वन' तथा 'ऊन' है । जैसे बावन, तिरपन और चौअन आदि । उनचास, पचास के आधार पर बना है ।

साठ—हिन्दी की इस संख्या के रूप प्राकृत में 'सठ्ठि' तथा संस्कृत में 'षष्ठि' मिलते हैं । संयुक्त संख्याओं में इसका रूपान्तर 'सठ' है, यथा—इकसठ, बासठ, तरेसठ आदि ।

सत्तर—हिन्दी के सत्तर का प्राकृत में 'सत्तरि' तथा संस्कृत में 'सप्तति' रूप प्राप्त होता है । पालि तथा प्राकृत में 'त' ध्वनि पर 'र' में परिवर्तित हो गई है । हिन्दी के सत्तर पर इन्हीं प्राकृत रूपों का प्रभाव है । चैटर्जी महोदय के मत में 'सप्तति' में ति>टि>डि>रि ध्वनि विकसित हो गई है । परन्तु यह अभी सर्वमान्य नहीं है । संयुक्त संख्याओं में 'सत्तर' की 'स' ध्वनि 'ह' में बदल गई है, जैसे उनहत्तर, इकहत्तर, बहत्तर आदि । सतत्तर में 'ह' का लोप अठत्तर में 'ह' महाप्राण 'ठ' में मिल गया है ।

अस्सी —हिन्दी अस्सी का विकास>प्राकृत 'असीइ'>संस्कृत 'अशीति' से हुआ है । संयुक्त संख्याओं में आसी अथवा यासी रूप मिलता है, तथा—उनासी बयासी आदि । अस्सी में 'स' का द्वित्व रूप पंजाबी के प्रभाव से है ।

नब्बे—यह रूप प्राकृत के 'नव्वए' तथा संस्कृत के 'नवति' का रूपान्तर है । संयुक्त संख्याओं में प्राकृत गम्भीर 'नब्बे' रूप मिलता है, जैसे बानवे, तिरानवे आदि ।

सौ—हिन्दी का सौ प्राकृत में 'सअ' तथा 'सय' और संस्कृत में 'शत' है । इसका रूपान्तर संयुक्त संख्याओं में 'सै'' हो जाता है, यथा, सैकड़ा, चार सै एक ।

हजार—हिन्दी में यह फारसी का तत्सम शब्द है । संस्कृत संयुक्त संख्याओं में सहस्र के स्थान पर 'दशशत' का प्रयोग प्रचलित हो गया था । हिन्दी में 'हजार' का प्रयोग मुस्लिम-काल की देन है ।

लाख —संस्कृत में इसका रूप 'लक्ष' है तथा समासों में 'लख' रह गया है, यथा—लखपति ।

अरब, खरब—सामान्यत: इसका प्रयाग असंख्य के अर्थ में होता है।

२. अपूर्ण संख्यावाचक विशेषण—पूर्ण संख्या के किसी अंश या भाग का बोध होता है। यथा—हिन्दी पाव, पउआ<प्रा० पाव, पाअ<सं० पाद, पादक। संयुक्त रूपों में 'पई' रूप सं० पादिका का रूपान्तर मात्र है जैसे, अध-पई। हिन्दी सवा<प्रा० सवाये<सं० सपाद से विकसित हुआ है, इसके अन्य विकृत रूप, सवाया, सवाई, सवाये आदि हैं। 'चौथाई' का सम्बन्ध संस्कृत 'चतुर्थिक' से है। हिन्दी का ढाई या अढ़ाई प्राकृत में अढ़तीस और संस्कृत में अर्द्ध तृतीय मिलता है। आदि स्वर 'अ' का लोप बलाघात के कारण हुआ है।

३. क्रम संख्यावाचक विशेषण—इन विशेषणों का विकास क्रमवद्ध रूप में संस्कृत से न होकर कुछ अन्य प्रकार से ही हुआ है।

पहला- इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'प्रथम' से न होकर प्राकृत रूप 'पढिल्ल' या 'पथिल्ल' से हुई है जो संस्कृत का कल्पित रूप प्र-थ + इल' से अनुमानित है। बीम्स के मत में इसकी उत्पत्ति संस्कृत के 'प्रथर' से सम्भव है।

दूसरा, दूजा—बीम्स के मतानुसार दूसरे का सम्बन्ध संस्कृत की 'द्वि-सृत:' शब्द से है। तीसरा का उद्भव त्रिसृत: से है। दूजा और तीजा संस्कृत द्वितीय और तृतीय का परिवर्तित रूप हो सकता है।

पांचवां, सातवां, बीसवां में ध्वनि संस्कृत 'तम' से प्रसूत मानी जाती है। चौथा, छठा क्रमश: चतुर्थ तथा षष्ठ: का ही विकसित रूप है।

४. आवृत्ति संख्यावाचक विशेषण—दुगुना, तिगुना, चौगुना संस्कृत 'गुणं', शब्द के सहयोग से बने हैं।

५. समुदायवाचक विशेषण—हिन्दी में समुदाय-विशेषण अन्य भाषा-समुदाय या भाषा-परिवारों से सम्बन्धित हैं। चार के लिए 'गंडा', बारह की संख्या के लिए अंग्रेजी दर्जन (Dozen), बीस के लिए 'कौड़ी' तथा बारह दर्जन के लिए अंग्रेजी 'ग्रुस' शब्द हिन्दी में प्रचलित हो गये हैं।

प्रश्न ३८—हिन्दी भाषा के कुछ प्रमुख शब्दों की व्युत्पत्ति बताइए।

यहां हिन्दी के कुछ प्रमुख शब्द तथा विशिष्ट संख्यावाचक विशेषणों के व्युत्पत्तिजन्य रूपों का विश्लेषण किया जाएगा तथा हम उनके ध्वनि परिवर्तन के विषय में भी तर्क-युक्त विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

आज—इसका विकास हिन्दी संस्कृत शब्द 'अद्य' से हुआ है। आज में 'अद्य' के 'य' की तालव्य ध्वनि (ज) शेष रही है और स्पर्श तथा अन्तःस्थ वर्णों के योग में दोनों लुप्त हो गये हैं। लुप्त 'द' का तृतीय स्थान तालव्य ध्वनि 'ज' में सुरक्षित है और आदि स्वर दीर्घ हो गया है।

इतवार—संस्कृत आदित्यवार से इतवार की उत्पत्ति स्पष्ट है। आदि स्वर 'आ' तथा मध्य व्यंजन 'द' का लोप होकर इतवार शेष रह गया है। ध्वनि-विकास लोपीकरण का सिद्धान्त लागू हुआ है।

उन्नीस—यह संस्कृत एकोनविंशति >उनविंशति का ही रूपान्तर है। ध्वनि परिवर्तन के अन्तर्गत अन्तिम वर्ण 'त' लुप्त होकर 'व' ध्वनि 'ई' में परिवर्तित हो गई। 'श' का 'स' बन गया। अतः उन्नीस बना।

करोड़—कोटि संस्कृत शब्द से यह निःसृत है परन्तु ध्वनि-नियमों के लागू न होने के कारण इसकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है।

काज—काज संस्कृत 'कार्य' का विकसित रूप है। कार्य की मध्य ध्वनि 'र' का लोप हो गया तथा 'य' तालव्य ध्वनि 'ज' में बदल गई और काज बन गया।

केवट—यह शब्द 'कैवर्त' का रूपान्तर है। मध्य व्यंजन 'र्' का लोप हो गया तथा 'त' समीपवर्ती ध्वनि 'ट' में परिवर्तित हो गई और केवट रूप अवशिष्ट रहा।

कौड़ी इसकी व्युत्पत्ति 'कपर्द' से है। मध्य व्यंजन 'प' का घोष रूप 'व' बन गया। संयुक्त स्वर 'औ' का जन्म 'अ' और 'व' के संयोग से हुआ है। 'ट' तथा 'द' के योग से 'ड' बना। प्रयत्न की दृष्टि से 'र' लुंठित और 'ड़' उत्क्षिप्त तथा निकटवर्ती ध्वनियाँ हैं। उच्चारण की दृष्टि से भी 'द' और 'ड' में एक स्थान का अन्तर है। अतः 'ट' का 'ड़' हो गया है। अन्त्य स्वर 'अ' 'ई' में परिवर्तित हो गया।

गोरू—गोरू शब्द की व्युत्पत्ति 'गोरूप' से स्पष्ट है। 'प' के लोप हो जाने से गोरू रूप शेष रह गया।

ग्यारह—हिन्दी ग्यारह का विकास संस्कृत 'एकादश' से माना जाता है। अघोष वर्ण 'क' अपने घोष रूप 'ग' में परिवर्तित हुआ। ऊष्म व्यंजन 'श' का

'ह' हो गया और आदि स्वर 'ए' का लोप हो गया। यह सब ध्वनि-नियमों के अनुसार है पर 'द' का 'र' में परिवर्तन तेरह (त्रयोदश) और सोलह (षोडश) के सादृश्य पर हुआ है जैसा कि अन्य रूप बारह, पन्द्रह आदि में दृष्टिगोचर होता है।

चीता—इस शब्द की व्युत्पत्ति 'चित्रक' से है। मध्य व्यंजन 'र्' और 'क' का लोप होकर ह्रस्व 'इ' और 'अ' दीर्घ हो गये और चीता शब्द बन गया।

जमाई—यह संस्कृत 'जामातृ' का रूपान्तर है। अन्त्य वर्ण का व्यजन 'त्' का लोप हो गया और 'ऋ' 'ई' में बदल गई। मध्य स्वर 'आ' ह्रस्व होकर जमाई रूप बन गया।

डेढ़—संस्कृत 'द्वयर्द्ध' प्राकृत में दिअड्ढ़ रूप हो गया और अन्त में दि, अ का लोप होकर हिन्दी में डेढ रह गया।

ढाई—इस शब्द की व्युत्पत्ति 'अर्ध-तृतीय' से है जिसका प्राकृत रूप 'अड़-तीय' है। इस परिवर्तन में व्यंजन का लोप का नियत है तथा दकार स्व-समीपवर्ती उच्चारण स्थान 'ड' ध्वनि में बदल गया है। इसलिए अड़तीय में मध्य व्यंजन 'त' का लोप हुआ और 'ड़' अपनी महाप्राण ध्वनि 'ढ़' में परिवर्तित होकर दीर्घ हो गया। अढ़ाई शब्द में आदि स्वर 'अ' के लोप हो जाने से 'ढाई' बन गया।

तेल—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत तैल शब्द से हुई है। 'ऐ' का 'ए' हो गया है।

दियासलाई—इसकी व्युत्पत्ति 'दीपशलाका' से हुई है। 'प' का 'ब' और 'व' का 'य' में परिवर्तन होकर दीर्घ हो गया है। अन्तिम शब्द 'का' के 'क' व्यंजन का लोप होकर अन्तिम स्वर 'आ' 'ई' बन गया और 'श' का 'स' में परिवर्तन होकर दियासलाई रूप बना।

दूसरा—बीम्स ने इसका सम्बन्ध 'द्विसृत' से जोड़ा है। 'द्वि' का 'दू' रूप बन जाना सम्भाव्य तथा सरल है। अन्तिम वर्ण 'त्' का लोप होकर सृ के 'ऋ' से 'र' का आविर्भाव होकर दीर्घ हो गया।

निन्यानबे—यह संस्कृत 'नवनवति' का रूपान्तर है। अन्तिम वर्ण ति में 'त' का लोप होकर 'इ' का ए बन गया और नवनवे से आगे आगम होकर निन्यानवे रूप बना।

नेवला—इस शब्द का व्युत्पत्ति संस्कत 'नकुल' से है। 'उ' अर्द्ध स्वर 'व' में परिवर्तित हो गया। 'न' के 'अ' का 'ए' तथा 'ल' के 'अ' का दीर्घ हो गया। इस प्रकार नेवला शब्द बना।

पचपन—इसका संस्कृत रूप पंचाशत है, पर पंचाशतं' से 'पचपन बनना संदिग्ध है। प्रतीत होता है 'पन' की व्युत्पत्ति प्राकृत रूप 'पणासा' से है। पंच-पणासा से पंच के अनुस्वार का लोप होकर 'पंच' और अन्तिम वर्ण 'सा' का लोप हो गया। 'पणा' से 'पन' शेष रहा और रूप पचपन बन गया।

पचहत्तर—यह संस्कृत 'पंच सप्तति' का रूपान्तर है। ऊष्म से ध्वनि का नियमानुसार 'इ' हो गया। पर 'ति' का 'र' होना सम्भव नहीं। प्राकृत में इसका रूप 'सत्तरि' मिलता है। चटर्जी महोदय ने इसकी व्युत्पत्ति ति>हि>डि>रि मानी है जो प्रायः संदिग्ध है।

पहला—इसकी व्युत्पत्ति प्राकृत 'पढिल्ल' या 'पथिल्ल' से है। पथिल्ल का सम्बन्ध संस्कृत के प्र-थ-इलस में बताते हैं। पथिल्ल में मध्य स्वर 'इ' का लोप होकर महाप्राण 'थ' का 'ट' में परिवर्तन हुआ। ल दीर्घ 'ला' बन गया। बीम्स के मतानुसार इसकी व्युत्पत्ति 'प्रथम' शब्द से है जो सर्वमान्य नहीं है।

बाईस—संस्कृत 'द्वाविंशति' का ही यह रूपान्तर है। आदि व्यंजन 'द' का लोप हो गया। पुनः 'ति' का लोप होकर 'व' का 'ई' हुआ। 'श' का 'स' हो गया। इस प्रकार विंशति का 'ईश' बन कर वा के योग से बाईस रूप बन गया।

भबूत—इस शब्द की व्युत्पत्ति 'विभूति' से है। इसमें व्यंजन विपर्यय से 'भ' के स्थान पर 'व' और 'व' के स्थान पर 'भ' हो गया। पुनः मध्य और अन्त्य स्वर 'इ' का 'अ' बनकर 'भबूत' बन गया।

मूँछ—इस शब्द की उत्पत्ति संस्कृत शब्द 'श्मश्रु' से है। आदि व्यंजन 'श्' का लोप हुआ और स्वर-विपर्यय के नियमानुसार अन्त्य स्वर 'उ' आदि व्यंजन 'म' में जुड़ गया। अन्तःस्थ और ऊष्म 'श' के संयोग में 'र' का लोप हो गया, पर 'श' ने परिवर्तित होकर विगत तालव्य रूप धारण कर लिया। 'र' अन्तःस्थ का द्वितीय वर्ण था अतः इसके प्रभाव से तालव्य वर्ग का

द्वितीय वर्ण 'छ' बन गया।

मोती—इसकी व्युत्पत्ति 'मुक्ता' से है। मध्य व्यंजन 'क्' का लोप हो गया और मध्य स्वर 'उ' 'ओ' ध्वनि में बदल गया। अन्त्य स्वर 'आ' 'इ' में परिवर्तित होकर 'मुक्ता' से मोती' बन गया।

रैन—यह "रजनी' से बना है। मध्य व्यंजन 'ज' तालव्य है जो परिवर्तित होकर तालव्य अर्द्ध स्वर 'य' हो गया। 'अ' और 'य' मिलकर संयुक्त स्वर 'ऐ' बन गया। इस प्रकार रजनी > रयनी > रैनी > रैन हो गया।

सवा—इस शब्द की व्युत्पत्ति 'सपादिक' से है। लोपीकरण के सिद्धान्त से 'सपा' शेष रहा। अघोष 'प' वर्ण 'ब' से 'व' बन कर सवा बना है।

सांझ—यह संस्कृत शब्द 'संध्या' से बना है। सन्ध्या में स्पर्श और अन्तःस्थ ध्वनियों का संयोग है तथा दोनों का ही शोध होकर अन्तःस्थ 'य' के विगत तालव्य 'च' का चतुर्थ वर्ण हो गया है। इस प्रकार 'ध्या' का झ बना। अनुनासिक (सं) का अनुस्वार (सँ) होकर मध्य 'अ' दीर्घ हो गया।

सांप—इसका उद्भव संस्कृत 'सर्प' से है। मध्य-व्यंजन 'र्' का लोप हो गया। ह्रस्व 'अ' दीर्घ बन गया। अनुस्वार का आगम अकारण किसी सादृश्य से हुआ होगा।

सोहाग—इसकी व्युत्पत्ति 'सौभाग्य' से है। महाप्राण ध्वनि में 'भ' परिवर्तित होकर केवल 'ह' शेष रही है। 'ग्य' में मध्य व्यंजन 'य्' का लोप होकर 'ग' बचा है।

प्रश्न ३९—हिन्दी के उपसर्गों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

उपसर्ग—हिन्दी में उपसर्ग दो प्रकार के है—(१) स्वदेशी तथा (२) विदेशी।

स्वदेशी-उपसर्ग

अ, अन्—ये संस्कृत के तत्सम उपसर्ग अभावसूचक होते हैं। यथा—अबोध, अनजान।

अति—(तत्सम) यह अधिकवाची है। यथा—अतिकाल, अत्यन्त (अति + अन्त)।

अव्—(तत्सम) विरोध या हीन अर्थ का द्योतक है—अवमान, अवगुण।

कु—(तत्सम) बुरे अर्थ में आता है—कुचाल, कुकर्म।

द, दुर—सं० दुर>हि० दु, यथा दुवला>सं० दुर्बल, दुलारे, दुर्बुद्धि।

सु. स—हिन्दी में दोनों रूप हैं जबकि संस्कृत में सु मिलता है, यथा—सफल, सुजान।

नि—यह तत्सम निर् का रूपान्तर है, यथा निरोग, निहंग। सं०—निर्दय।

विदेशी उपसर्ग—

कम्—यह फारसी के 'कम' बना है यथा—क़मजोर, कम्वखत।

खुश्—फारसी खुश इसका मूल हैं यथा—खुशबू, खुशामद, खुशहाल।

गैर—(फा०) यथा—गैरहाजिर।

दर्—(फा०) मूल दर (भीतर) है, यथा—दर्बार, दर्कार।

ना—(फा०) उदाहरणार्थ—नापसन्द, णाखुश, नाबालिग।

ला—(फा०) यथा—लापता, लाचार, लाजवाव।

फी—(फारसी यथा अरबी)—फी मकान, फी आदमी।

बद्—(फा०) बुरा अर्थ में आता है—बदसूरत, वदनाम।

बे—(फा०) बिना अर्थ में आता है, यथा—बेचैन, बेगुनाह।

हर्—(फा०) प्रत्येक अर्थ में आता है, उदाहरणार्थ—हर घड़ी, हर रोज।

हैड—(अंग्रेजी) मुख्य अर्थ में आता है—हैडमास्ट, हैड पंडित।

हाफ—(अं०) आधे अर्थ में प्रयुक्त होता है—हाफपेन्ट।

सब—(अ) यथा—सब-डिप्टी।

प्रश्न ४०—स्वराघात का भेदों सहित विवेचन करते हुए हिन्दी में उसकी विकसित स्थिति पर प्रकाश डालिए।

उच्चारण करते हुए प्राय: ऐसा देखा जाता है कि वाक्य के किसी एक शब्द या शब्द के किसी एक भाग पर शेष भाग की अपेक्षा अधिक जोर या बल देना पड़ता है। इस जोर या बल को आघात या स्वराघात कहा जाता है। स्वराघात के समय ध्वनि में एक प्रकार का कम्पन और स्पन्दन रहता है तथा इस प्रकार लहरें पैदा होती हैं। स्वराघात में विभिन्नता इन ध्वनि-लहरियों के छोटा-वड़ा होने पर आधारित है। फेफड़ों से श्वासवायु निकलते समय जितने

बल से उसमें धक्का लगता है उतना ही अन्तर स्वरों में हो जाता है। बल की उच्चता, मध्यम गति और निम्नता के आधार पर ध्वनि बल भी तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है सबल, समबल और अबल। उदाहरणार्थ कोकिला पद में अधिकतम बल 'ला' पर है 'को' पर बल 'ला' से कम है तथा 'कि' ध्वनि पर बल सबसे कम है अतः 'ला' सबल, 'को' समबल तथा 'कि' अबल तथा निर्बल कहा जाता है।

यह बलाघात केवल किसी शब्दांश पर ही नहीं अपितु वाक्य मे किसी सम्पूर्ण शब्द पर तथा किसी अनुच्छेद में किसी विशेष शब्द वाक्य पर भी दिया जा सकता है। इस बलाघात तथा स्वराघात के कारण अर्थ में एक प्रकार के चमत्कार का समावेश हो जाता है। उदाहरणार्थ 'राम अभी बाजार जाएगा' में 'राम, अभी' बाजार, जाएगा इन चार शब्दों ने पृथक्-पृथक् पर बलाघात से वाक्य में उसके अर्थ प्रमुखता तथा निश्चितता हो जाती है। स्वराघात के तीन भेद हैं—(१) संगीतात्मक, (२) बलात्मक तथा (३) रूपात्मक।

(१) संगीतात्मक स्वराघात - इसका सीधा सम्बन्ध स्वरतन्त्रियों से है। स्वरों के आरोह, अवरोह के अनुसार सरगम की भांति ऊंचा तथा नीचा किया जाता है। जिस प्रकार सितार के तारों के शिथिल होने पर उनमें 'स्वर' उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं होती उसी प्रकार स्वरतन्त्रियों की शिथिलता से संगीतात्मक स्वराघात में अवरोध हो जाता है। संगीत में इसे विशेष संकेतों द्वारा उपस्थित किया जाता है। वैदिक संस्कृत पर संगीतात्मक स्वराघात की छाप स्पष्ट है। वैदिक साहित्य में वेद, ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में लिखित शब्दों के ऊपर तथा नीचे चिह्न लगे रहते हैं जो गीतात्मक स्वराघात के सूचक हैं। वैदिक स्वरों के तीन भेद थे—उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित। उदात्त उच्च, अनुदात्त नीचा तथा स्वरित सम स्वर था। उदात्त स्वरों पर भारतीय रीति से कोई चिह्न नहीं लगाया जाता था। अनुदात्त के नीचे पड़ी लकीर (—) और स्वरित वर्ण के ऊपर ऊपर खड़ी लकीर (।) होती है तथा उदात्त, अनुदात्त स्वरित लगाने के नियम भी प्रायः वैयाकरणों ने निश्चित कर दिये थे। उदाहरण के लिए—

अग्निहोता कविक्रतुतः सत्यश्चित्रश्रवस्तकः।

देवो देवेभिरा गमत्॥

साधारणतया प्रत्येक वैदिक शब्द में गीतात्मक स्वराघात पाया जाता है। चीनी भाषा आज भी संगीतात्मक है। वैदिक भाषा में बलात्मक स्वराघात का अस्तित्व था लेकिन वह प्रमुख न होने के कारण चिन्हित नहीं किया जाता था। प्राकृतों में महाराष्ट्रीय, मागधी (अर्द्ध) जैन, काव्यात्मक अपभ्रंश तथा जैन शौरसेनी में यह स्वराघात वर्तमान था।

२. बलात्मक स्वराघात—बलात्मक स्वराघात का सम्बन्ध फेफड़ों से है। इसमें संगीतात्मक स्वराघात की भाँति ध्वनि ऊँची-नीची नहीं की जाती है अपितु सांस को धक्के के साथ छोड़कर जोर दिया जाता है। फेफड़ा तेजी से वायु फेंकता है। इस प्रकार शब्द के जिस अंश पर बलात्मक स्वराघात होता है। उसकी आवाज कुछ जोर से सुनाई पड़ती है। लैटिन और अवेस्ता में बलात्मक स्वराघात अधिक था। आधुनिक भाषाओं में अंग्रेजी और फारसी में भी यह पाया जाता है। इससे शब्द के अर्थ में भी प्राय: परिवर्तन हो जाता है। जैसे Conduct (कॉन्डक्ट) शब्द में स्वराघात (c) पर है तो शब्द संज्ञा और यदि (d) पर है तो क्रिया हो जाएगा। यह बलात्मक स्वराघात शब्दांत के पूर्व प्रथम दीर्घ स्वर पर प्राय: रहता है। संस्कृत श्लोकों के उच्चारण में प्राय: इस प्रकार का स्वराघात प्रचलित है। शौरसेनी, मागधी तथा प्राकृतों में संस्कृत के बलात्मक स्वराघात का विकसित रूप वर्तमान कहा जाता है। प्रो० टैनर के अनुसार आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में संगीतात्मक तथा बलात्मक दोनों ही स्वराघातों का अस्तित्व है। इस विषय में अनेक विद्वानों में मत-भेद भी है। परन्तु यह निश्चित है कि वैदिक काल के पश्चात् लिखित रूप में स्वराघात चिह्नित करने का रिवाज उठ गया था अतः अधिकांश सामग्री अनुमान पर ही आधृत है।

३. रूपात्मक स्वराघात—यह स्वराघात गीतात्मक तथा बलात्मक स्वराघातों से भिन्न है। प्रत्येक मनुष्य की स्वरतंत्रियां शारीरिक बनावट के अनुसार भिन्न-भिन्न होती हैं। अत: प्रत्येक व्यक्ति के स्वर तथा लहजे में भिन्नता होती है। इसी लहजे या बोलने के विशेष ढंग से हम एक व्यक्ति की आवाज को हजारों में पहचान सकते हैं। यह स्वराघात बोलने में ही प्रयुक्त होता है। इस का यह अन्तर कायमोग्राफ के चित्रों में देखा जा सकता है।

हिन्दी में स्वराघात प्रायः बोल-चाल में प्रयुक्त होता है। संगीतात्मक स्वराघात की स्थिति हिन्दी में नहीं के बराबर है; कुछ वाक्यों में इसका दर्शन अवश्य मिलता है। जैसे 'क्या तुम बाजार जाओगे' में जाओगे का उच्चारण ऊँचे स्वर में होता है। हिन्दी में बलात्मक स्वराघात की स्थिति निश्चित नहीं है। दीर्घ स्वर पर स्वराघात होने के कारण दोनों में अन्तर स्थापित करना कठिन है। स्वर लोप तथा ह्रस्व और दीर्घ स्वरों में भेद अवश्य है।

हिन्दी स्वराघात के सम्बन्ध में कुछ नियम इस प्रकार दिये गये हैं —

१. यदि शब्द या शब्दांश के अन्त मे रहने वाले 'अ' का लोप शब्द या शब्दांश उच्चारण की दृष्टि से व्यंजनांत हो जाता है तो उपान्त्य स्वर पर ज़ोर पड़ता हैं; जैसे—आदमी, राम आदि।

२. संयुक्त व्यंजन के पूर्ववर्ती स्वर पर जोर पड़ता है, यथा—लज्जा, शुभ्र।

३. विसर्गयुक्त स्वर का उच्चारण कुछ जोर से होता है, जैसे, प्रायः दुःख, अ तःकरण।

४. प्रेरणार्थक धातुओं में 'आ' पर स्वराघात होता है जैसे, पढ़ाना, बुलाना

५. यदि एक ही शब्द रूप के अनेक अर्थ निकलते हैं तो इन अर्थों का अन्तर केवल स्वराघात से जान पड़ता है। जैसे 'की' क्रिया का उच्चारण 'की' सम्बन्धवाचक चिह्न से अपेक्षया जोर से किया जाता है।

६. प्रायः देखा जाता है कि इ, उ और ऋ के अन्त होने वाले शब्दों के पूर्व स्वर पर बल पड़ता है; जैसे हरि, साधु. पितृ।

७. मात्रिक तथा वर्णिक छन्दों का मूलाधार स्वरों की संख्या या मात्रा काल न होकर यह बलात्मक स्वराघात ही है। भारतीय छन्द नियमों के अनुसार ह्रस्व की मात्रा एक और दीर्घ स्वर की दो मात्राएं मानी जाती हैं। छन्दों में इस सिद्धांत में यथास्थिति परिवर्तन भी हो जाता है। सवैय्या जैसे छन्दों में गणों का क्रम तथा वर्ण-संख्या नियत रहती है। अतः बलात्मक स्वराघात की दृष्टि से गणों के अन्दर ह्रस्व, दीर्घ मात्राओं का ध्यान रखकर उसमें सुविधानुसार परिवर्तन कर लिया जाता है। जो निम्न उदाहरण से स्पष्ट है—

'अवधेस के द्वारे सकारे गई, सुन गोद कै भूपति लै निकसे।'

उपर्युक्त पाद में रे, रे, 'के' ये तीनों दीर्घ हैं परन्तु छंद की दृष्टि से ह्रस्व हैं। इस कारण जिन वर्णों पर स्वराघात नहीं है वे चाहे मात्रा की दृष्टि से ह्रस्व हों या दीर्घ स्वराघात के अभाव में ह्रस्व ही माने जाते हैं। कवित्त और घनाक्षरी में भी इसी नियम का प्रायः पालन किया जाता है।

अवधी में भी बलात्मक स्वराघात की स्थिति ग्राह्य है। वाक्य में व्यवहृत एकाक्षरी शब्दों में स्वराघात पाया जाता है। द्वयक्षर, त्र्यक्षर तथा अधिक अक्षर वाले शब्दों में अन्त के दो अक्षरों में से उस पर स्वराघात होता है जो दीर्घ हों या स्थान के कारण दीर्घ माना जाय। यदि दोनों अक्षर दीर्घ या ह्रस्व हों तो स्वराघात उपान्त्य अक्षर पर होता है; जैसे पिसान, पचीस, भापड़, अढ़ाई आदि।

इस प्रकार स्वराघात का हिन्दी में विकास वैदिक काल से चली हुई एक लम्बी परम्परा की शृंखला मात्र है।

प्रश्न ४१—हिन्दी भाषा की वैज्ञानिक परिभाषा दीजिए तथा उसके साहित्यिक रूप पर दृष्टि डालते हुए खड़ी बोली की उत्पत्ति और विकास पर एक लघु लेख लिखिए।

रूप की दृष्टि से हिन्दी शब्द फारसी भाषा का है जिसका अर्थ हिन्द देश का वासी या हिन्दी देश की भाषा दोनों अर्थों में ही प्रयुक्त होता था। शब्दार्थ की दृष्टि से हिन्दी शब्द का प्रयोग हिन्द या भारत में बोली जाने वाली किसी आर्य अथवा अनार्य भाषा के लिए हो सकता है किन्तु व्यावहारिक रूप से हिन्दी उस बड़े भूभाग की भाषा मानी जाती है, जिसकी सीमाएं पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर-पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पर्वतीय प्रदेश का दक्षिणी भाग, पूर्व में भागलपुर, दक्षिण-पूर्व में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खण्डवा तक पहुँचती है। भाषा-शास्त्र के अनुसार इस हिन्दी प्रदेश की तीन-चार उपभाषाएं मानी जा सकती हैं—राजस्थानी, बिहारी, पहाड़ी तथा पूर्वी हिन्दी। सूक्ष्म रूप से हम हिन्दी को प्राचीन रूप में मध्यदेश अथवा अन्तर्वेद की भाषा कह सकते है। यदि आगरा को हिन्दी का केन्द्र माना जाय तो उत्तर में हिमालय की तराई तक, पश्चिम में दिल्ली से आगे तक और दक्षिण में नर्वदा की घाटी तक और पूर्व में कानपुर

तक हिन्दी का क्षेत्र माना जाता है। इस प्रदेश में हिन्दी के दो उपरूप माने जाते हैं—पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी। ऐतिहासिक दृष्टि से पश्चिमी हिन्दी शौरसेनी की वंशज है और पूर्वी हिन्दी अर्द्ध मागधी की। पश्चिमी हिन्दी को ही वास्तविक रूप में हिन्दी कहा जा सकता है, जिसमें खड़ी बोली, ब्रज, बाँगरू, कन्नौजी और बुन्देली बोलियाँ आती हैं। पूर्वी हिन्दी की अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी भी हिन्दी के क्षेत्र में गिनी जाती हैं।

साहित्यिक रूप—हिन्दी भाषा की खड़ी बोली, ब्रज और अवधी साहित्यिक भाषाएँ हैं। शेष बोलियों में बहुत कम साहित्य मिलता है अतः वे हिन्दी की ग्रामीण बोलियाँ कही जा सकती हैं। मध्यकाल में ब्रज तथा अवधी साहित्यिक भाषाएँ थीं। भक्तिकाल तथा रीतिकाल का प्रायः सर्वाङ्गीण काव्यात्मक वाङ्-मय ब्रज और अवधी दोनों ही भाषाओं में लिखा गया था परन्तु कालान्तर में खड़ी बोली इन दोनों भाषाओं का अतिक्रमण कर अब हिन्दी-साहित्य-प्राङ्गण की राजरानी बन गई है। हिन्दी और उर्दू खड़ी बोली के दो साहित्यिक रूप हैं। एक ढाँचा भारतीय परम्परा है और दूसरी को फारसी परम्परा के आधार पर विकसित किया गया है। जिस समय मुसलमानों का आगमन भारत में हुआ उन्होंने दिल्ली और मेरठ की बोली (खड़ी बोली) को 'हिन्दवी' नाम से पुकारना प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे यही परिनिष्ठित हिन्दी के रूप में वर्तमान है। आजकल हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश में हिन्दुओं के आधुनिक साहित्य, पत्र-पत्रिकाओं, शिष्ट बोल-चाल तथा स्कूली शिक्षा की भाषा एकमात्र खड़ी बोली हिन्दी है। यह खड़ी बोली हिन्दी और उर्दू दोनों का मूलाधार है।

खड़ी बोली की उत्पत्ति और विकास

खड़ी बोली का अर्थ—खड़ी बोली में 'खड़े' शब्द के अनेक अर्थ किए जा सकते हैं—(क) खड़ी बोली अच्छे या खड़े नागरिकों की बोली है। (ख) खड़े बोली में एक प्रकार का खड़ापन या अक्खड़पन है। भाव यह है कि इस भाषा में ब्रजभाषा जैसी मधुरता तथा सौम्यता नहीं है। (ग) खड़ी बोली का अर्थ खरी बोली या शुद्ध भाषा के अर्थ में किया जाता है। सारांश यह है कि तत्का-लीन साहित्यिक भाषा ब्रज और अवधी की अपेक्षा इस बोली का स्वर प्रखर और कठोर है। इसलिए इसे खड़ी बोली कहा जाता है।

खड़ी बोली का प्रारम्भ— आरम्भ में खड़ी बोली के सम्बन्ध में एक भ्रम सा रहा है कि इसका प्रादुर्भाव अंग्रेजों के भारत आगमन पर हुआ। इतिहास से ज्ञात होता है कि यह भाषा अंग्रेजों से पूर्व की है। यह भाषा अवधी और ब्रज के समकालीन की है। इसका उद्भव उस अपभ्रंश से हुआ जो हरियाने से बुलन्दशहर तक और मेरठ, मुजफ्फरनगर जिले तक बोली जाती थी। ११वीं शताब्दी में हेमचन्द्र के शब्दानुशासन नामक व्याकरण में इसके किंचित् रूप का आभास मिलता है।

उदाहरणार्थ—'भल्ला हुआ जो मारिया, बहिणि म्हारा कन्तु' में खड़ी बोली की आकारान्त प्रवृत्ति म्हारा, मारिया आदि दृष्टिगत होती है। १५वीं शती के बीसलदेव रासो में चित्त भाट्या, मन उचट्या, मोती का आशा किया आदि वाक्य मिलते हैं।

इसके अनन्तर अमीर खुसरो का महत्व खड़ी बोली के कारण है। उनकी पहेली और मुकरियों में तत्कालीन दृष्टि से खड़ी बोली का अधिक विकसित रूप दिखाई देता है। जैसे—'लाखों का सर काट दिया, ना मारा ना खून किया। कबीर की कविता में यदा-कदा खड़ी बोलो का प्रभाव लक्षित होता है। जैसे "उठा बबूला प्रेम का तिनका चढ़ा अकास।" में 'तिनका' 'का' आदि शब्द खड़ी बोली के द्योतक हैं।

हिन्दी और उर्दू का समन्वित रूप—हिन्दी और उर्दू की भिन्नता का भान खड़ी बोली की कुछ विकसित अवस्था में होने लगा था। गंगभट्ट की 'चन्द छंद वर्णन की महिमा' नामक कृति में खड़ी बोली का परिमार्जित नहीं तो महत्वपूर्ण रूप अवश्य मिलता है। तख्त, आम खास, तमाम आदि शब्दों से इस पर उर्दू के प्रभाव का संकेत मिलता है। अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। रामप्रसाद निरंजनी कृत 'योगवाशिष्ठ' में उर्दू फारसी के प्रभाव से मुक्त खड़ी बोली गद्य का रूप मिलता है। १८२४ में दौलतराम ने रविषेणाचार्य कृत 'जैन पद्मपुराण' का भाषानुवाद किया। भाषा में पडिताऊ-पन है। क्रियापद और विराम चिन्हों का शुद्ध प्रयोग नहीं प्राप्त होता है। जटमल की 'गोरा-बादल की कथा' तथा अज्ञात लेखक कृत 'मंडोवर का वर्णन' कृतियों में खड़ी बोली गद्य का विकसित रूप मिलता है। इनमें उर्दू तथा

फारसी का प्रयोग है। उर्दू और हिन्दी दोनों बोलियों का प्रादुर्भाव एक ही भाषा खड़ी बोली से हुआ है। हिन्दू तथा मुसलमानी दो सभ्यता तथा संस्कृति की अभिव्यजना का साधन ये हिन्दी और उर्दू भाषाएं थीं। 'चकत्ता की पातशाही' राजस्थानी गद्य में लिखी हुई एक रचना है। इसकी गद्य के दो रूप थे –एक भाखा दूसरा दरबारी रूप जो मुसलमानों के सम्पर्क से बना।

फोर्ट विलियम कालेज—१८५७ में फोर्ट विलियम कालेज की ईस्ट इंडिया कम्पनी ने कलकत्ता में स्थापना की। इस कालेज के अध्यक्ष जान गिल क्राइस्ट ने हिन्दी, उर्दू में पुस्तक लिखवाने का कार्य किया और उसके लिए तब अध्यापकों की नियुक्ति की। श्री लल्लूलाल और सदल मिश्र नामक पंडितों ने हिन्दी खड़ी बोली गद्य में पुस्तकें लिखीं। दिल्ली निवासी सदासुखलाल तथा मुंशी इंशाअल्लाखां ने 'सुखसागर' तथा 'रानी केतकी की कहानी' नामक पुस्तकों की रचना की। गिल क्राइस्ट के द्वारा किया गया यह कार्य अंग्रेजी सभ्यता का प्रचार मात्र है, क्योंकि उन दिनों समस्त साहित्य पेम्फलेट तथा प्रचारात्मक पुस्तकों के रूप में था।

मुन्शी सदासुखलाल नियाज की भाषा सुव्यवस्थित तथा संस्कृत मिश्रित थी। इनकी भाषा में पंडिताऊ प्रयोग, स्पष्टता तथा स्वाभाविकता भी वर्तमान थी मुंशी इंशाअल्लाखां की 'रानी केतकी की कहानी' में "हिन्दवी को छुट और किसी भाषा का पुट नहीं है।" अतः भाषा में अस्वाभाविकता के साथ बोल-चाल का रूप लिया गया है। 'प्रेमसागर' के रचयिता लल्लूलाल की भाषा में ब्रजभाषा का प्रभाव है। पंडित सदल मिश्र की 'नासिकेतोपाख्यान' कृति में भाषा अधिक व्यावहारिक तथा सुथरी है। उसमें पूर्वी प्रयोग और खड़ी बोली के विकसित रूप का भी दर्शन होता है। १९वीं शताब्दी में राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' तथा लक्ष्मण स्वरूप ने हिन्दी के प्रचारार्थ भागीरथ प्रयत्न किया। 'सुधारक', बुद्धिप्रकाश आदि पत्रों का सम्पादन तथा अनुवाद ग्रंथों का प्रणयन किया गया। राजा लक्ष्मणसिंह के 'मेघदूत' और 'शकुन्तला' के अनुवाद बडे लोकप्रिय हैं।

आर्यसमाज का योग—स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना कर धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण क्रान्ति मचा दी। उर्दू के गढ़

पंजाब में इस क्रान्ति के फलस्वरूप हिन्दी का प्रचार शीघ्रता से हुआ। बाबू नवीन चन्द्र राय तथा राजा राममोहनराय ने ब्रह्म धर्म के प्रचारार्थ अनेक पुस्तकों का सृजन किया। हिन्दी प्रसार में श्रद्धाराम फिल्लौरी का योग महत्व-के पूर्ण है। इन्होंने कई पुस्तक तथा 'भाग्यवती' नाम का उपन्यास लिखा। इनका गद्य सुलझा हुआ तथा प्रौढ़ था। बीसवीं शती के प्रथमा चरण में राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव साहित्य के क्षेत्र में भी पड़ा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा जयशंकर प्रसाद के काल में अनेक कवि और लेखकों ने हिन्दी खड़ी बोली को समुन्नत तथा समृद्धिशाली बना लिया था। हिन्दी खड़ी बोली का क्षेत्र आगे जाकर इतना विस्तृत और अथाह हुआ कि उसमें कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, पत्र, जीवनियां आदि सभी समाहित हो गईं। आधुनिक हिन्दी साहित्य आज का भाषा का प्रतिनिधित्व करता है।

प्रश्न ४२—दक्खिनी भाषा के विकास और साहित्य का परिचय देते हुए खड़ी बोली से उसका सम्बन्ध बताइए।

चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में खड़ी बोली साहित्यिक हिन्दी के विकास में दक्षिण भारत के लेखकों, रियासत के नवाबों और उनके दरबारी कवियों, फकीरों इत्यादि ने महत्वपूर्ण योग दिया है। इस कार्य में मुसलमानों का हाथ अधिक रहने और रचनाओं की लिपि फारसी होने के कारण इसे प्रायः उर्दू समझने की भूल होती चली आई है। यथार्थ में दक्खिनी हिन्दी आधुनिक खड़ी बोली के आदि रूप का विकसित रूप है। प्रसिद्ध भाषा शास्त्री डा० बाबूराम सक्सेना ने गम्भीर अध्ययन एव विवेचन द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि खड़ी बोली के विकास और समृद्धि में दक्षिणी रियासतों ने अत्यन्त महत्वपूर्ण योग देकर उसे मुगल साम्राज्य कालीन राष्ट्रभाषा का रूप देने की कोशिश की थी। खड़ी बोली के हिन्दी के प्राचीनकाल में तीन नाम प्रचलित थे हिन्दवी, हिन्दी और दक्खिनी। हिन्दी अथवा हिन्दवी शब्द का अर्थ है-हिन्दुओं की भाषा। संस्कृतनिष्ठ हिन्दी से यह भाषा कई बातों में भिन्न है। वास्तव में यह तत्कालीन जनसाधारण की भाषा थी। हिन्दवी शब्द बहुत प्राचीन है। शेख अशरफ, मुल्ला वजही आदि प्रसिद्ध दक्खिनी विद्वानों ने इस भाषा के लिए स्पष्टतः हिन्दवी शब्द का व्यवहार किया है इन निशाती, रुस्तमी आदि लेखकों

ने इसे 'दक्खिनी' कहा है। शाह बुर्हानुद्दीन जानम बीजापुरी इसे हिंदी पुकारते हैं। वास्तव में इन तीनों शब्दों का अभिप्राय एक ही भाषा है। 'हिन्दवी' शब्द का व्यवहार मुंशी इंशाअल्लाखाँ ने जनसाधारण की प्रचलित भाषा के अर्थ में किया है। उन्होंने ऐसी कहानी कहने का प्रयत्न किया जिसमें—'हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले।' 'हिंदवी' के साहित्यिक रूप 'दक्खिनी' का प्रचार उस समय उत्तर भारत में नहीं था। इसी से यह भाषा उपेक्षणीय समझी जाती थी। इस भाषा की साहित्यिक शक्ति का इससे अधिक प्रमाण क्या हो सकता है कि यह इतने अल्पकाल में ही सम्पूर्ण हिन्दो साहित्य की प्रधान भाषा बन गई।

दक्खिनी हिन्दी का किसी भी दक्षिणी आर्य या अनार्य (द्रविड़) भाषा से किंचित् भी सम्बन्ध नहीं है। पारिवारिक दृष्टि से यह उत्तार भारतीय आर्य भाषाओं से सम्बद्ध है। हिंदवी के 'दक्खिनी' नाम पड़ने का ऐतिहासिक कारण माना जाता है। अल्लाउद्दीन खिलजी ने १३०२ ई० तक दक्षिण में कर्नाटक का प्रदेश जीतकर अपना साम्राज्य दृढ़ बना लिया था। इसके उपरान्त दक्षिण के महत्व का अनुभव कर मुहम्मद तुगलक ने दौलताबाद को राजधानी बनाने का प्रयत्न किया। परन्तु दक्षिण में यह अधिकार चिरकाल तक न रह सका। शीघ्र ही पूरा दक्षिण स्वतन्त्र हो गया। वहाँ छोटे-छोटे राज्य बन गए और वे हिन्दी के कवियों और लेखकों को संरक्षण प्रदान करते रहे। १७वीं शती तक वहां अच्छे साहित्य का सृजन हुआ परन्तु औरंगजेब ने एक वार पुनः दक्षिण पर कब्जा कर लिया जिससे साहित्यकारों के तितर बितर हो जाने से न्यूनाधिक रूप में साहित्य निर्माण होता ही रहा। हैदराबाद में निजामशाह की स्थापना के उपरांत इस राज्य में दक्खिनी भाषा के साहित्यकारों को बराबर आश्रय और प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार इस भाषा का सम्बन्ध राज्यों से रहने के कारण इसको 'दक्खिनी' की संज्ञा दी गई। जिस समय दक्षिण में यह भाषा पनप रही थी उसी समय वहाँ मराठी, तेलगू, कन्नड़ आदि भाषाओं में उच्च कोटि के साहित्य का सृजन हो रहा था। इन साहित्यों की प्रतिद्वन्द्विता में दक्खिनी साहित्य के पनपने में वहाँ के मुसलमान सुल्तानों का विशेष हाथ था। बहमनी, आदिलशाही, कुतुवशाही आदि सुल्तानों ने हिन्दुओं से निकट सम्पर्क स्थापित कर उन्हें उच्च पदों पर आसीन किया। मुसलमानों ने अपने अरबी

फारसी आदि के साहित्य के साथ भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य का भी अध्ययन अवश्य किया होगा। १७वीं शताब्दी तक के दक्खिनी भाषा के ग्रन्थों के लेखक सभी मुसलमान हुए। इसका कारण था कि हिन्दी के आदिकाल के विद्वानों की भाषा संस्कृत थी। साहित्य की भाषा अपभ्रंश थी। उस समय हिन्दू अपनी प्रचलित साहित्यिक भाषाओं—संस्कृत प्राकृत, तथा अपभ्रंश में साहित्य रच रहे थे। मुसलमान विदेशियों ने साधारण जनता की बोलचाल की भाषा को अपना कर साहित्य में उसका प्रयोग किया। भारतीय जनता के साथ संपर्क स्थापित करने के लिए इसीलिये उन्होंने इस प्रदेश की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी खड़ी बोली का सहारा लिया। मुस्लिम संत और फकीर अपने धर्म का प्रचार तथा प्रसार करने के लिये इस भाषा का व्यवहार करने लगे। इस प्रकार क्रमशः मुस्लिम संस्कृति और राज्य विस्तार के साथ-साथ हिन्दी की भी व्यापकता बढ़ती गई।

उत्तर भारत में इस हिन्दी के सर्वप्रथम कवि अमीर खुसरो माने जाते है। इन की हिन्दी बोलचाल की भाषा थी, जिसमें खड़ी बोली के साथ कुछ ब्रज भाषा का पुट भी था। खुसरो के समकालीन संत अलीकलंदर का दोहा भाषा की दृष्टि से पठनीय है—

सजन सकारे जायँगे और नैन मरेंगे रोय।
विधना ऐसी रैन कर भोर कभी न होय॥

इस प्रकार भारत में खड़ी बोली में काव्य-निर्माण १५वीं शती तक का प्राचीन उपलब्ध होता है। उसके उपरात यह परम्परा कई शतियों तक लुप्त रही। 'उस समय भारतीय परम्परा में उच्च श्रेणी का संस्कृत साहित्य रचा जा रहा था तथा प्राकृत और अपभ्रंश में काव्य, नाटक, कहानी आदि लिखे जा रहे थे तथा विदेशी परम्परा बढ़िया मार्के की चीजें फारसी में लिखते थे। पर जन-साधारण के समझने योग्य सिद्धांत और किस्से-कहानियाँ हिन्दी में भी लिख देते थे।' यह विदेशी परम्पर खड़ी बोली को साथ लेकर १४वीं शती में दक्षिणी प्रदेशों में मुसलमानी फौजों, सतों और द्रवेशों के साथ गई। दक्षिणी भारत का फारस से सीधा संपर्क कभी नहीं रहा। उसका सम्बन्ध उत्तरी भारत के मुस्लिम शासकों से था। उसी से हिन्दी यहां खूब फली-फूली। उत्तरी

भारत में मुस्लिम आक्रांता निरन्तर आते रहे और अपने साथ फारसी अरबी का प्रभुत्व भी लाये। इसी से यहां हिन्दी के पनपने में वाधा पड़ी। दक्षिणी प्रदेशों में फैले हुये मुसलमानों के लिये भाषा का सरलतम रूप हिन्दी ही परम्परागत सम्बन्ध स्थिर रखने का एकमात्र साधन था। इसी से दक्षिण की सभी सल्तनतों ने इसकी वृद्धि में योग दिया। बहमनी राज्य के दफ्तरों में हिन्दी भाषा प्रयुक्त होती थी। सल्तनत ने उसे 'सरकारी जबान' का पद दे रखा था। उत्तर में हिन्दी अठारहवीं शताब्दी तक कभी भी 'सरकारी जबान' नहीं रही।

दक्खिनी के प्रथम साहित्यकार ख्वाजा बन्दानवाज गेसूदराज मुहम्मद हुसेन थे। ये फकीर थे और इस्लाम के प्रचारक थे। आपने मीराजुल आश्कीनी हिदायतनामा और रिसाला सेहवारा नामक तीन लघु गद्य कृतियां लिखीं। इनके पोते अब्दुल्ला हुसैनी ने भी 'निशातुल इश्क' नामक एक ग्रंथ लिखा। आदिलशाही और कुतुबशाही सल्तनतों ने दक्खिनी' साहित्य को सदैव संरक्षण दिया। इन राज्यों के सुल्तान स्वयं भी कवि थे। इनमें मुहम्मद कुली कुतुबशाह और इब्राहीम आदिलशाह उल्लेखनीय हैं। बीदर राज्य में भी कुछ साहित्य रचा गया। शाह मीरां जी बुर्हानुद्दीन जानिम, इब्न निशाली आदि इस भाषा के प्रमुख साहित्यकार माने जाते हैं। सन् १८८५-८६ में औरंगजेब ने इन सल्तनतों को समाप्त कर दिया। इस काल यहाँ वली औरंगाबादी, जईफी, बहरी, बजही, इशरती, वेलूरी आदि अन्य कवि हैं।

दक्खिनी का प्रथम कवि निजामी था। बहमनी सुल्तान अहमदशाह तृतीय के शासनकाल (१४६०-६२ ई०) में मौजूद थे। गद्य में दो प्रकार का साहित्य है। एक तो इस्लाम धर्म प्रचारक सम्बन्धी और दूसरा तसव्वुफ संबंधी तसव्वुफ के ग्रथों में कथाओं के द्वारा दर्शन और आचार-शास्त्र के तत्व समझाये गये हैं। इनमें प्रमुख ग्रंथ मुल्ला बजही का 'सब रस' है। यह ग्रंथ १६३५ ई० में लिखा गया। दिल्ली से दक्खिन का संपर्क बढ़ता गया। १९वीं शताब्दी में दिल्ली का केन्द्र टूट गया। दिल्ली के कलाकार लखनऊ और हैदराबाद को चले गये। लखनऊ की नवाबी समाप्त होने पर यह आश्रय भी समाप्त हो गया अब हैदराबाद शायरों तथा कलाकारों का सुन्दर आश्रय बना। दिल्ली के

हफ़ीज दक्खिन चले गये। परन्तु इन नवीन कलाकार की कृतियों में 'दक्खिनी' की विशेषताएँ लुप्त होने लगीं। इन पर फारसी का गहरा रंग चढ़ गया था।

अब तक दक्खिनी के सभी कलाकार मुसलमान हुए परन्तु आसफजाही राज्य में कुछ हिन्दुओं ने भी इस भाषा में रचनाएँ कीं, जिनमें लाला मोहन-लाल 'मेहताब' और लाला लछिमीनारायण 'शरीक' उल्लेखनीय हैं। बीसवीं शताब्दी तक आते-आते तो हैदराबाद ही इस भाषा का एकमात्र पोषक रह गया। परन्तु इस समय तक भाषा अपना स्वाभाविक स्वरूप खोकर उर्दू का रूप धारण कर चुकी थी। अब यहाँ के सभी साहित्यकारों की भाषा खालिस उर्दू है। फिर भी दो-एक कवियों ने दक्खिनी को अपनाया है इसमें 'हलम' की ठुमरियाँ और अजमत के हिन्दी छंद अच्छे बन पड़े हैं। संक्षेप में आधुनिक खड़ी बोली की पूर्वज हिन्दी, हिन्दवी या दक्खिनी भाषा के उद्गम और विकास की यही कहानी है।

साहित्य की दृष्टि से दक्खिनी गद्य में मसनवियाँ अधिक हैं। निजामी की मसनवी कर्दमराव व 'पदम' दक्खिनी की प्रथम मसनवी है। वजही की कुतुब मुश्तरी मौलिक रचना है। जायसी के पद्मावत की कहानी पर आधृत गुलाम अली कृत दक्खिनी की मसनवी 'पद्मावत' है। मुक़ीमी की मसनवी 'चन्दर वदन है' इन मसनवियों के अतिरिक्त अहमद लुनैंदी की माह पैकर, सेवक की जंगनामा और सुल्तान इब्राहीम की नवरस उल्लेखनीय है।

अतः यह सारा साहित्य हिन्दी का आदि साहित्य कहा जा सकता है पर इसकी लिपि फारसी है। हिन्दी वालों को दुर्बोध है। यद्यपि हिन्दी की दक्खिनी शाखा के लेखक प्रायः मुसलमान थे, फिर भी उनमें भारतीयता और देशीपन पर्याप्त था।

प्रश्न ४६—देवनागरी के उद्गम और विकास पर एक लेख लिखिये तथा उसके गुण और दोषों का विवेचन करते हुए कुछ सुधारात्मक सुझाव प्रस्तुत कीजिए।

भाषा और लिपि का पारस्परिक सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ है। लिपि भाषा का आवरण तथा शरीर है। भाषा और लिपि दोनों ही विचार-विनमय के माध्यम तथा भाव-प्रकाशन के संकेत हैं। भाषा का चिह्नों द्वारा लिखित रूप

लिपि कही जाती है। भाषा के व्यवहार में स्वराघात, बलाघात तथा अंगविकार आदि भावों के स्पष्ट करने में सहायक होते हैं। पर लिपि में ऐसी कोई बात नहीं है। भाषा मानव-जीवन तक रहती है परन्तु लिपिबद्ध हो जाने पर वह चिरायु हो जाती है। अतः लिपि को वैज्ञानिक रूप से इतना सर्वाङ्गीण और समर्थ होना चाहिए कि वह भाषा का पूर्ण-प्रकाशन कर सके। उसमें सभी प्रकार की ध्वनि को वहन करने के संकेत अपेक्षित हैं। वही लिपि सर्वाधिक वैज्ञानिक और विकसित कही जा सकती है जो भाषा को यथार्थ रूप में अनावृत कर सके।

देवनागरी लिपि—नवीं शती में उत्तरी भारत में इसका प्रचार था। भारत के दक्षिण में इसको 'नागरी' या नन्दिनागरी कहा जाता था। इसकी प्राचीन नागरी से गुजराती, महाजनी, महाराष्ट्री, मैथिली, बंगला तथा कैथी आदि लिपियों का विकास हुआ है। देवनागरी के नामकरण के सम्बन्ध में निम्न मत दिये जा रहे हैं :

(१) गुजरात के नागर ब्राह्मणों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसका नाम नागरी है।

(२) प्रमुखतः नगरों में प्रचलित होने के कारण इसे नागरी कहा जाता है।

(३) कुछ लोगों ने ललित विस्तर में उल्लिखित नागलिपि ही नागरी है, पर यथार्थतः इन दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं।

(४) तांत्रिक चिह्न देवनगर के साम्य के कारक इसे देवनागरी और फिर नागरी कहा गया है।

(५) आर० शाम शास्त्री के मतानुसार 'देवनागर' से उत्पन्न होने से इसे देवनागरी कहा गया है।

(६) 'देवनगर' अर्थात् काशी में प्रचार के कारण यह 'देवनागरी' कहलाई।

ये मत कोरे अनुमान पर आधारित ही कहे जा सकते हैं जब तक विद्वानों द्वारा सर्वमान्य नहीं हो जाते।

देवनागरी वैज्ञानिक तथा पूर्ण लिपि है। पूरे हिन्दी प्रदेश की यह लिपि है। मराठी भाषा में भी कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन के साथ यह व्यवहृत होती है। संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश के लिए भी यही लिपि प्रयुक्त

होती है। देवनागरी लिपि की एक विशेषता यह है कि इसमें जो कुछ लिखा जाता है उसका उच्चारण पूर्णरूपेण उसी प्रकार किया जाता है। विश्व की अन्य लिपियों में यह गुण नहीं है। रोमन तथा उर्दू लिपि में अनेक ध्वनि-संकेत नहीं हैं। साथ ही उसमें लिखा कुछ जाता है और उसका उच्चारण अन्य प्रकार से किया जाता है। एक ही वर्ण का प्रयोग विभिन्न शब्दों में करने से इसका उच्चारण भी बदल जाता है। परन्तु देवनागरी लिपि में ऐसा नहीं होता। वहाँ एक निश्चित ध्वनि के लिए सदैव एक निश्चित वर्ण का प्रयोग ही उचित माना गया है। इसी कारण इसको वैज्ञानिक लिपि माना गया है।

हिन्दी प्रदेश में अनेक लिपियों के होते हुए देवनागरी लिपि का स्थान सर्व-श्रेष्ठ एवं उच्च है। मुद्रण में तो अधिकांशतः इसी का व्यवहार किया जाता है। इस लिपि में स्वर और व्यंजन के सैद्धान्तिक संकेत वर्तमान हैं। इतना ही नहीं उच्चारण अवयव, आभ्यन्तर प्रयत्न और वाह्य प्रयत्नों के सिद्धान्तों पर जो वर्गीकरण किया गया है। इन्हीं के प्रतीक देवनागरी के स्वर और व्यंजन के वर्ण हैं। उदाहरणार्थ अ, आ, ओ, उ, इ आदि के उच्चारण में जिस प्रकार की मुखाकृति बनती है, उसी से मिलते-जुलते ये वर्ण बने हैं। 'अ' के उच्चारण में मुख आधा खुलता है और जिह्वा की स्थिति मध्य में होती है। 'आ' की मात्रा उसके पूरे खुलने की द्योतक है। 'उ' में भी मुँह के बन्द होने का स्वरूप है। 'ओ' और ऐ की दोहरी मात्राएँ (ो, ै) मुँह के जवड़ों के दोहरे चलने का द्योतक है। एक अंग्रेज भाषा वैज्ञानिक ने हिन्दी वर्णमाला की वैज्ञानिकता की परीक्षा करने के उद्देश्य से उन वर्णों के स्वरूप के मिट्टी के खोखले रूप बनाये। उसने उनके भीतर जब स्वर फूँका तो इनमें से उन्हीं स्वरों की ध्वनि सुनाई दी। यह घटना इस लिपि की वैज्ञानिकता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है।

हिन्दी वर्णमाला के स्वर तथा व्यंजनों में अन्तर है। स्वरों के उच्चारण में स्थानों से बिना टकराये हुए श्वाँस ध्वनि निकल जाती है जब कि व्यंजनों में प्राणवायु उच्चारण-स्थानों के स्पर्श या घर्षण करती हुई चली जाती है। अतः सैद्धान्तिक दृष्टि से स्वर और व्यंजन पृथक्-पृथक् होने चाहिएँ। देव-नागरी लिपि में ऐसा ही है।

उच्चारण-स्थानों के अनुसार स्पर्श व्यंजनों के पाँच वर्ग कर दिये गये हैं,

कण्ठ्य, तालव्य, मूर्द्धन्य, दन्त्य और ओष्ठ्य । अन्तःस्थ, ऊष्म ध्वनियाँ पृथक् हैं । अनुनासिक की विशेषता यह है कि वर्णों के साथ व्यवहृत होने पर ध्वनियों में भेद पड जाता है । अतएव प्रत्येक वर्ग के साथ अपना-अपना अनुनासिक है ! इस सब की रचना लिपि ध्वनि के सिद्धान्त पर आधारित है । जिस प्रकार की ध्वनि है उसी प्रकार उसकी लिखावट है । एक व्यक्ति अपने शुद्ध उच्चारण करने या सुनने के अनुसार उसे उसी प्रकार लिख भी सकता है । एक ही ध्वनि के लिए एक ही अक्षर है, अनेक नहीं । जैसे उर्दू में 'ज' ध्वनि के लिए 'ज्वाद', 'जे', 'ज़ोय' तथा अंग्रेजी में 'सी' और 'के' दोनों ही 'क' के लिए प्रयुक्त होते हैं । इसके अतिरिक्त हिन्दी में सभी प्रकार की ध्वनियाँ हैं । ङ, छ, ध, ठ आदि ध्वनियों का रोमन लिपि में अभाव है । हिन्दी की महाप्राण ध्वनियों को उर्दू और अंग्रेजी में 'ह' का योग कराकर व्यक्त किया जाता है । जैसे 'ख' के लिए 'क' और ह का योग (KH) रूप में । उच्चारण की दृष्टि से दोनों दो व्यंजन हैं । अतः देवनागरी लिपि में महाप्राण ध्वनि को व्यक्त करने के लिए अलग-अलग वर्ण-ध्वनियाँ हैं ।

मात्राओं की दृष्टि से देवनागरी वर्णमाला पूर्ण है । इसमें ह्रस्व और दीर्घ का भेद स्पष्ट है । हिन्दी मात्राएँ स्थान अवश्य अधिक घेरती हैं पर इससे उच्चारण में किसी भी प्रकार के अन्तर या भ्रम की आशंका नहीं रहती । उर्दू और अंग्रेजी की लिपि में मात्राएँ बडी अव्यवस्थित और अनियमित हैं । हिन्दी का रामचन्द्र और पुत्र उर्दू के प्रभाव के कारण पश्चिमी भारत में सामान्यतः 'रामचन्दर' और 'पुत्तर' के रूप में उच्चरित होते हैं । अंग्रेजी का यू 'U' का 'उ', 'ऊ' और 'अ' तीनों की मात्रा के लिए प्रयोग किया जाता है। देवनागरी वर्णमाला में वह सामर्थ्य है कि उसमें सभी प्रकार की ध्वनियाँ व्यवहृत होती हैं । मात्राओं में e, o (ई, ओ) आदि के के लिए कुछ कठिनाई अवश्य है । अंग्रेजी में Egg और Model हिन्दी के 'एग' और 'मोडिल' अथवा 'मॉडल' के रूप में उचित ध्वनि नहीं देते । यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय लिपि बनाने के लिए 'ऍग' और 'मॉडल' के चित्र भी बनाये गये हैं । इस दृष्टि से इस लिपि में थोडी-सी कमी है । नागरी लिपि की प्रधान कमियाँ निम्न हैं—

(१) इनमें कुछ अक्षर या लिपि-चिन्ह आज के उच्चारण की दृष्टि से

व्यर्थ हैं। 'ऋ' का उच्चारण 'रि' है, ण का ड़ँ है और 'ष' का' 'श'। अतएव ऋ, ण् और ष् की आवश्यकता नहीं है।

(२) ख में रव के भ्रम की संभावना है, अतः इसके लिए अन्य चिह्न होना चाहिए।

(३) सयुक्त व्यंजनों के रूपों में बड़ी गड़बड़ी है। जैसे 'प्रेम' में लगता है कि र् आधा है 'प' पूरा है पर यथार्थतः स्थिति उल्टी है। क्र, ग्र, घ्र आदि में यही बात है। इस पद्धति में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है।

(४) इ की मात्रा 'ि' बड़ी अवैज्ञानिक है। इससे कभी भ्रम हो जाता है। जैसे चन्द्रिका को तोड़कर इस प्रकार लिख सकते हैं—च + ि + न् + द् + र् + क् + आ। यहाँ स्पष्ट है कि मात्रा न् के पूर्व लगी है पर शुद्ध रूप में र् के बाद लगना चाहिए। रोमन में इसे शुद्ध लिखा जाता है—CHANDRIKA। इस अशुद्धि के निवारण के लिए कोई रास्ता निकलना चाहिए।

(५) राकार के र, /, ‸ ' चार रूप हैं। इसमें से एक सर्व प्रचलित रूप की आवश्यकता है।

(६) क्ष, ‑ ज्ञ आदि स्वतंत्र ध्वनियाँ न होकर संयुक्त व्यंजन मात्र हैं, अपेक्षित नहीं हैं।

(७) न्ह, म्ह तथा ल्ह (ये संयुक्त व्यंजन न होकर स्वतन्त्र ध्वनि तत्व हैं) आदि कुछ नवीन ध्वनि तत्वों का हिन्दी में प्रवेश हो गया है। अतएव इसके लिए स्वतन्त्र चिह्न आवश्यक है।

उ, ऊ, ए, ऐ, की मात्राएँ नीचे ऊपर लगती हैं, पर यथार्थतः इन्हें व्यंजना के आगे लगाने का प्रबन्ध होना चाहिए।

(८) कुछ अक्षरों के दो रूप प्रचलित हैं—ल, ळ; अ, अ, ण, ण। इनमें से एक का प्रचलन होना चाहिए.

इस प्रकार हम देखते हैं कि देवनागरी लिपि की वर्णमाला में वर्णों की संख्या अधिक है। अतएव वर्णमाला सीखने तथा अभ्यास करने में कठिनता अनुभव होती है। मुद्रण और टाइप राइटर के क्षेत्र में उपर्युक्त अभाव के कारण इस लिपि को उचित नहीं माना जाता है। टाइप राइटर बहुत बड़ा चाहिए तथा टाइप करने की गति नहीं बढ़ने पाती है। थ, फ, झ की छपाई

में भूलों की सम्भावना रहती है। अनुनासिक में बिन्दु (ं) का ही प्रयोग किया जा सकता है।

इन कमियों को दूर करने के लिए अनेक सुधार के प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये हैं। आधुनिक विद्वान् इसे सक्षिप्त रूप प्रदान करने पक्ष में हैं। काका कालेलकर ने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा. द्वारा अपना यह मत रखा कि केवल एक वर्ण अ में ही मात्रा लगाई जायें जैसे अ, आ, अि, अी, अु, अू आदि। इस प्रकार छ: वर्णों इ ई उ ऊ ए ऐ की संख्या कम हो जाती है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, उत्तर प्रदेशीय सरकार तथा केन्द्रीय सरकार ने अनेक उपयोगी सुधार दिये हैं। सौन्दर्य, वैज्ञानिकता तथा सरलता की दृष्टि से इस पर पुन: विचार किया जाय।

देवनागरी लिपि का विकास—भारतवर्ष की प्राचीन लिपियाँ ब्राह्मी और खरोष्ट्री हैं। खरोष्ट्री लिपि में अशोक के शहबाज गढ़ी और मनसेहरा नामक स्थानों के लेख हैं। इस लिपि में व्यावहारिकता के अतिरिक्त कोई वैज्ञानिकता न थी और ईसा की शती तक पंजाब आदि पश्चिम भारत के प्रदेशों में इसका प्रचलन रहा, इसके पश्चात् लुप्त हो गई। ब्राह्मी लिपि को कुछ विद्वान् भारत की उपज मानते हैं और कुछ इसका आविर्भाव विदेशी लिपि से मानते हैं। विभिन्न विद्वानों ने इसका उद्भव फोनीसी कीलाक्षर, चीनी लिपि तथा सामी लिपि से माना है। ये मत अनुमान पर आधारित हैं। वास्तविकता यह है कि "ब्राह्मी लिपि भारत के आर्यों की अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है।"

ब्राह्मी लिपि का नामकरण—इस लिपि की प्राचीनता तथा सर्वाङ्ग सुन्दरता से चाहे इसका कर्त्ता ब्रह्मा माना गया हो, चाहे साक्षर ब्राह्मणों की लिपि होने से ब्राह्मी लिपि कही गई हो और ब्रह्म (ज्ञान, वेद) की रक्षा के लिए सर्वोत्तम साधन होने के कारण इसको यह नाम दिया गया हो। विदेशी लिपि के रूप में इसका उल्लेख किसी ने नहीं किया है। ३५० ई० के उपरान्त ब्राह्मी के दो भेद उपलब्ध होते हैं—उत्तरी और दक्षिणी। उत्तरी शैली का प्रचार प्राय: विंध्याचल के उत्तर में और दक्षिणी का उसके दक्षिण में रहा है। उत्तरी ब्राह्मी के पाँच रूप हैं—गुप्त लिपि, कुटिल लिपि, नागरी, शारदा और

बंगला । उत्तर भारत की अधिकांश आधुनिक लिपियां नागरी लिपि की सन्तान हैं । इस कारण वर्तमान देवनागरी लिपि से इनका निकट का सम्बन्ध और सदृश्य है । ब्राह्मी की दक्षिणी शैली के अन्तर्गत, पश्चिमी, मध्यप्रदेशीय, तेलगू, कन्हड़ी ग्रंथ लिपि, कलिंग लिपि तथा तामिल लिपि का प्रादुर्भाव हुआ ।

आठवीं शताब्दी से नागरी लिपि की प्रभुत्ता बराबर रही है । राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश में दसवीं शती के समस्त शिलालेख आदि इसी लिपि में लिखे गए हैं । आधुनिक देवनागरी लिपि प्राचीन नागरी लिपि का ही विकसित रूप है । गत सौ वर्ष में मुद्रण के आविष्कार ने संयुक्त व्यंजनों के ऊपर नीचे से सम्मिलित रूपों (च्च, क्क, द्व आदि) हटाकर आगे पीछे लिखे हुए रूपों (च्च, क्क क्व आदि) को ही अधिक अपनाया है ।

आज नागरी लिपि का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। हिन्दी, संस्कृत तथा मराठी की यही एकमात्र लिपि है । नेपाल की यही राजलिपि है । मिथिला और वंगला में इसका सम्मान हो रहा है तथा भारत की लिपि भी यही मानी गई है ।

परिशिष्ट

प्रश्न ४४—स्पष्ट कीजिए—

(क) भाषा की परिभाषा, (ख) भाषा अर्जित सम्पत्ति है, (ग) भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है, (घ) भाषा-चक्र, (ङ) भाषा की सामान्य प्रवृत्तियाँ ।

(क) भाषा की परिभाषा—भाषा विचार की अभिव्यक्ति तथा विचार-विनिमय का साधन है । दूसरे शब्दों में 'विचार की अभिव्यक्ति के लिए वर्ण ध्वनि संकेत जो समाज के द्वारा स्वीकृत हैं और जिनका व्यवहार होता है; वही भाषा है ।' सामान्य रूप से 'जिस साधन से हम अपने विचार या भाव दूसरों तक पहुँचा सकें, वह भाषा है ।'

डा० भोलानाथ तिवारी के भाषा-विज्ञान में दी हुई परिभाषा:—

"भाषा उच्चारणावयवों से उच्चरीय अध्ययन-विश्लेषणीय या ऐच्छिक

(arbitrary) ध्वनि प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा एक समाज के लोग आपस में भावों और विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।'

"हमारे विचार और भावनाओं के वे समस्त प्रतीक जो स्वेच्छानुसार बाह्य अनुभूति के आधार पर बनाये या व्यंजित किए जा सकते हैं अपने विशाल रूप में भाषा कहे जा सकते हैं।" —डा० पी० डी० गुणे

"मनुष्य मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिये व्यक्त ध्वनि-संकेतों का जो व्यवहार होता है उसे भाषा कहते है।'

(ख) भाषा अर्जित सम्पत्ति है—भाषा समाज-सापेक्ष्य वस्तु है तथा यह ध्वनि-संकेतों का समूह मात्र है। मनुष्य भी सामाजिक प्राणी है। वह सहयोग विनिमय के बिना नहीं रह सकता। उसकी यह प्रबल प्रवृत्ति भाषा के रूप में प्रकट होती है। भाषा आद्यन्त सामाजिक वस्तु है। क्योंकि भाषा सामाजिक सहयोग का साधन बन जाती है। भाषा का विकास, अर्जन और प्रयोग तीनों ही समाज में होते हैं। भाषा परम्परागत है। यह परम्परा से चली आ रही है। व्यक्ति उसका अर्जन परम्परा और समाज से करता है। एक व्यक्ति, उसमें यत्किंचित् परिवर्तन तो कर सकता है, उत्पन्न नहीं कर सकता। वह परिवर्तन या विकार घटना या परिस्थिति के कारण आ जाते हैं। यह परिवर्तन पूर्ण रूप से शीघ्र नहीं होता। जब एक शब्द चल पड़ता है, तब लोग उसे संसर्ग द्वारा सीखकर उसका प्रयोग करने लगते हैं। इसी प्रकार क्रमागत रूप से एक पीढ़ी की भाषा में दूसरी पीढ़ी का प्रभाव निरन्तर पड़ता रहता है और अन्त में कुछ पीढ़ियों के पश्चात् भाषा पूर्ण परिवर्तित दिखाई देती है। इसका कार्य एक सतत प्रवाहित धारा की तरह से है। भाषासंसर्ग तथा प्रयत्न द्वारा उपार्जित की जाती है। यही कारण है कि भाषा अपने पूर्वजों से सीखनी पड़ती है। भाषा आसपास के लोगों से अनुकरण रूप में अर्जित की जाती है।

भाषा कोई पैतृक या कुल क्रमागत वस्तु नहीं है। यह क्रमशः परम्परा से समाज आदि के संसर्ग से प्राप्त होती है। पैतृक सम्पत्ति की भाँति यह उत्तराधिकार रूप में प्राप्त नहीं होती। यदि कोई मनुष्य किसी भाषा का विशेषज्ञ है तो यह निश्चित नहीं कि उसका पुत्र उसी भाषा का विशेषज्ञ बने,

अपितु उसे दूसरों के संसर्ग में रहकर ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। एक बालक अपनी मातृभाषा के समान अन्य भाषा भी सुगमता से सीख सकता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य प्रयत्न के द्वारा अनेक भाषाओं का ज्ञाता हो सकता है। प्राय फ्राम में रहने वाले केल्ट जाति के लोग केल्टिक भाषा ही नहीं अपितु लैटिन-पुत्री फ्रेंच भाषा भी बोलते हैं। इससे स्पष्ट है कि भाषा संसर्ग और प्रयत्न से उपार्जित की जाती है। अतः भाषा परम्परागत सम्पत्ति होने के साथ साथ अर्जित भी है।

(ग) भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है—भाषा सामाजिक संसर्ग का परिणाम है। समाज के विकास के साथ ही भाषा में भी विकास अनिवार्य है। भाषा के व्यापक अध्ययन से सामान्यतः यही कहा जा सकता है कि भाषा की प्रवृत्ति संहिति से व्यवहिति की ओर रहती है। भाषा आदि काल में समस्त, जटिल और स्थूल रहती है, धीरे-धीरे वह सरल, व्यस्त और सूक्ष्म होती जाती है। सभी भाषाओं के इतिहास से यह स्पष्ट है कि भाषा कठिनता से सरलता की ओर अग्रसर होती है। मानव का यह जन्मजात स्वभाव है कि वह कम से कम प्रयास में अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहता है। इसी प्रयत्न-लाघव में वह मत्स्येन्द्र को सतेंन कहने लगता है और बाद में 'मत्' कह कर ही काम चला लेता है। भाषा एक सहजगामि सरिता है जो दुर्गम कठिन मार्ग से नीचे की ओर सरलता के साथ बढ़ती है।

"भारोपीय परिवार की भाषाएँ इसका ज्वलन्त उदाहरण हैं कि किस प्रकार पहिले वे संहिति प्रधान थीं और पीछे धीरे-धीरे व्यवहिति-प्रधान हो गईं। यह स्वाभाविक तथ्य है कि भाषा जितनी अधिक व्यवहृत होती है और संसर्ग में आती है उतनी ही सरल, सरस और सुकुमार बनती जाती हैं।" संहिति या संयोग का अर्थ मिली होने की स्थिति से है जैसे 'रामः गच्छति'। व्यवहिति या वियोग का अर्थ है अलग हुई स्थिति जैसे 'राम जाता है'। संस्कृत का गच्छति (संयुक्त रूप) हिन्दी में 'जाता है' (वियुक्त रूप) बन गया है परन्तु विश्व में आज भी ऐसी अनेक भाषाएँ हैं जो जटिल भौगोलिक परिस्थिति या दुर्गम पर्वतों के कारण पूर्णरूपेण संहिति प्रधान हैं जैसे लिथुआनिक भाषा जो अब भी संहिति अवस्था में स्थित है। संस्कृत, अवेस्ता आदि भाषाओं का प्राचीन रूप जटिल और संयुक्त था और धीरे-धीरे सरल और वियुक्त हो गया है। प्रत्येक परिवार की सम्पूर्ण भाषाएँ संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है और इस प्रकार भाषाएँ उत्तरोत्तर विकासोन्मुख होती जाती हैं।

(घ) भाषा-चक्र—जिस प्रकार मानव जाति का उद्भव और विकास हुआ उसी प्रकार भाषा का भी उद्भव और विकास होता है। सदा परिवर्तन चक्र में घूमते रहना ही भाषा का विकास कहलाता है। भाषा का कोई निश्चित स्वरूप नहीं है। परिवर्तन और अस्थिरता ही भाषा के जीवन का द्योतक है। कुछ विद्वानों का मत था कि भाषा एक बार संयोग से वियोग की ओर और वियोग से संयोग की ओर जाती है। इसी को भाषा-चक्र कहते हैं। इस प्रकार भाषा-चक्र सतत रूप से घूमा करता है। भाषा-चक्र के सम्बन्ध में अपवादों की कमी नहीं क्योंकि शब्दों के इतिहास में अनेक ऐसे शब्द उपलब्ध होते हैं जिनकी रचना संयोग और वियोग में स्पष्ट देखी गई है। सामान्य रूप से यही कहा जा सकता है कि भाषा की प्रवृत्ति संहिति से व्यवहिति की ओर रहती है।

एक ही परिवार की दो भाषाएँ हिब्रू और अरबी में हिब्रू अधिक संघर्ष और भाषा-भाषियों के श्रमशील होने के कारण अधिक विकसित और व्यवहित हो गई है। अरबी सदा विजेताओं की भाषा होने के कारण कुछ संहित है। संस्कृत के विकसित रूप प्राकृत, अपभ्रंश और वर्तमान देशी भाषाओं में भी व्यास प्रधानता बढ़ती गई है। इस प्रकार कभी भाषा संहित से व्यवहित की ओर जाती है और कभी व्यवहित से संहित की ओर। भाषा का यह चक्र तत्कालीन राजनैतिक तथा भौगोलिक स्थिति पर निर्भर है।

(ङ) भाषा की सामान्य प्रवृत्तियाँ तथा प्रकृति—निम्न हैं—

(१) भाषा पैतृक सम्पत्ति न होकर अर्जित सम्पत्ति है।

(२) भाषा आद्यन्त सामाजिक वस्तु है।

(३) भाषा परम्परागत है, व्यक्ति उसका अर्जन करता है, उत्पन्न नहीं करता है।

(४) भाषा का अर्जन अनुकरण द्वारा होता है।

(५) भाषा चिर परिवर्तन शील है।

(६) भाषा का कोई अन्तिम स्वरूप नहीं है।

(७) भाषा की धारा स्वभावतः कठिनता से सरलता की ओर जाती है।

(८) भाषा स्थूलता से सूक्ष्मता और अप्रौढ़ता से प्रौढ़ता की ओर जाती है।

(९) भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है।

प्रश्न ४५—भाषा विज्ञान से अन्य विषयों का संबन्ध निर्धारित कीजिए।

भाषा-विज्ञान का अनेक शास्त्रों से संबंध है।

व्याकरण

भाषा-विज्ञान और व्याकरण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्याकरण भाषा-विज्ञान के लिए सामग्री प्रस्तुत करता है और भाषा-विज्ञान व्याकरण को आगे बढ़ाता है। व्याकरण भाषा की साधुता तथा असाधुता पर विचार करता है, परन्तु भाषा-विज्ञान भाषा की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करता है और भाषा के मूल रूपों और कारणों की खोज करता है। व्याकरण प्रगतिवादी न होकर प्राचीनतावादी है और नवजात रूपों को असाधु मानता है जबकि भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध भाषा के जीवित रूप से है। व्याकरण नियम, उपनियम तथा अपवाद का सविस्तार विवेचन करता है तथा भाषा के निष्पन्न रूपों को अपनाता है और भाषा-विज्ञान प्रत्येक शब्द-रूपों की व्याख्या तथा इतिहास प्रस्तुत करता है। भाषा के प्राचीन रूप का विकास कैसे हुआ, भाषा-विज्ञान इन कारणों की खोज करता है। अतः भाषा-विज्ञान का क्षेत्र अधिक व्यापक तथा विकसित है। व्याकरण 'क्या' का उत्तर देता है और भाषा-विज्ञान 'क्यों' और 'कैसे' का उत्तर देता है। अतः भाषा-विज्ञान व्याकरण का भी व्याकरण है।

साहित्य

भाषा-विज्ञान भाषा के अध्ययन के लिए प्रायः समस्त सामग्री साहित्य से ही ग्रहण करता है। भाषा और रूप-परिवर्तन का ज्ञान कराने वाली सामग्री हमें साहित्य में ही रक्षित मिलती है। भाषा के ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन में हमें साहित्य से ही सहायता मिलती है। संस्कृत, अवेस्ता तथा ग्रीक आदि प्राचीन साहित्य के आधार पर ही हम इन तीनों को एक परिवार की मानते हैं। अतः भाषा की प्राचीन निधि साहित्य में सुरक्षित मिलती है। हिंदी भाषा की मूल प्रकृति को जानने के लिए भाषा-विज्ञान अपभ्रंश, प्राकृत, संस्कृत तथा वैदिक साहित्य की ओर देखता है और इसका क्रमबद्ध रूप साहित्य में उपलब्ध होता है। शब्दार्थ परिवर्तन आदि कारण साहित्य तथा वाङ्मय के आधार पर निश्चित किये जाते हैं।

३. मनोविज्ञान

भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान में पर्याप्त सान्निध्य है। भाषा विचारों की वाहिनी है तथा विचारों का सीधा सम्बन्ध मस्तिष्क तथा मनोविज्ञान से है। मनुष्य की इच्छा-शक्ति से भी भाषा का बहुत-कुछ सम्बन्ध है। अतः भाषा-विज्ञान भाषा की आन्तरिक गुत्थियों को सुलझाने में मनोविज्ञान से सहायता

लेता है। अर्थ-विज्ञान और वाक्य-विज्ञान में मनोविज्ञान का पर्याप्त महत्व है। भाषा की उत्पत्ति और प्रारम्भिक रूप के पूर्ण ज्ञान के लिए विशेषत: बाल मनोविज्ञान और अविकसित लोगों का मनोविज्ञान बहुत सहायता करता है। प्रयत्न-लाघव, मुखसुख, भाषा का स्वाभाविक विकास, ह्रास, प्रयोगों की बनावट आदि में मानव तथा समाज के मनोविज्ञान का बड़ा हाथ है। एक शब्द के बन जाने के पश्चात् भी उसमें अपनी रुचि के अनुसार परिवर्तन तथा परिवर्द्धन होता रहता है। मनोविज्ञान को भी भाषा-विज्ञान से पर्याप्त सहायता मिलती है।

भूगोल

भाषा-विज्ञान और भूगोल का निकट सम्बन्ध है। स्थानीय भौगोलिक परिस्थितियों का भाषा पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। किसी वस्तु के लोप के साथ उसके नाम का भाषा से भी लोप हो जाता है। 'सोमलता' शब्द का आज हमारी जीवित भाषा में न पाया जाना संभवत: भौगोलिक प्रभाव से है। किसी स्थान में एक भाषा का दूर तक प्रसार न होना, भाषा में कम विकास होना तथा किसी स्थान में बोलियों का आधिक्य भौगोलिक परिस्थिति पर ही निर्भर करता है। पर्वती तथा जंगली लोगों मे परस्पर कम सम्पर्क होने के कारण प्राय: समीप में ही भिन्न-भिन्न बोलियों का विकास हो जाता है। अर्थ-विचार में भी भूगोल भाषा-विज्ञान का सहायक है। उष्ट्र का अर्थ ऊँट और भैंसा तथा सैन्धव का नमक और घोड़ा होना इसी से सिद्ध होता है।

तर्कशास्त्र

भाषा-विज्ञान तथा तर्कशास्त्र में प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। शब्दों का अर्थ विशेष से सामान्य तक पहुँचना तर्कशास्त्र से सम्मत है। भाषा-विज्ञान की व्याख्या भी तर्क-संगत होनी चाहिए। यास्क ने निरुक्त में तर्कशास्त्र से बहुत सहायता ली है।

भौतिक शास्त्र

किसी शब्द के उच्चारण करते समय ध्वनि मुख से निसृत होकर लहरों के रूप में चलती हुई कान तक पहुंचती है। इन ध्वनि तरंगों का अध्ययन करने में भौतिक शास्त्र ही हमारी सहायता करता है। भौतिक शास्त्र से ही हमें विदित होता है कि अन्य ध्वनियों एवं भाषा ध्वनियों की लहरों में क्या अन्तर है। स्वर व्यंजन आदि के तात्विक रूप पर भौतिक शास्त्र के आधार पर अप-

रिमित प्रकाश डाला गया है।

शरीर-विज्ञान

शरीर-विज्ञान और भाषा-विज्ञान का गहरा सम्बन्ध है। भाषा का मनुष्य के शारीरिक गठन से पर्याप्त सम्बन्ध है। भाषा मुख से निःसृत ध्वनि है, अतएव स्वांस वायु की गति, स्वर-यंत्र, स्वरतंत्री, नासिक-विवर, तालु, दाँत, जीभ, ओष्ठ, कठ, मूर्द्धा आदि अवयवों का कार्य तथा कान द्वारा ध्वनि का ग्रहण आदि समस्त पद्धति का ज्ञान शरीर-विज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। ज्ञानतन्तु मस्तिष्क से मुख, नासिका आदि अवयवों को प्रेरित करते है। लिखित भाषा का ग्रहण भी नेत्रेन्द्रिय से होता है जो शरीर-विज्ञान का ही एक अंश है।

इतिहास

भाषा-विज्ञान और इतिहास का घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी देश में किसी अन्य देश का राज्य स्थापित होना दोनों ही देशों की भाषा को प्रभावित करता है। हिन्दी में अरबी, फारसी, तुर्की, पुर्तगाली तथा अंग्रेजी शब्दों का बाहुल्य राजनीतिक परतन्त्रता तथा राजनीतिक सम्बन्ध की ओर संकेत करता है। भाषा का ऐतिहासिक या तुलनात्मक अध्ययन इतिहास के तमिस्राच्छन्न पृष्ठों पर भी प्रकाश डालता है। भाषा-विज्ञान की सहायता से तत्कालीन भाषा के आधार पर प्रागैतिहास काल के समाज का अध्ययन किया जाता है। भारोपीय परिवार के अध्ययन से मूल भारोपीय लोगों की सामाजिक दशा तथा धार्मिक प्रवृत्तियों का परिचय प्राप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ प्राचीनतम आर्य परिवार बनाकर रहते थे तथा परिवार में अनेक सम्बन्धों का प्रमाण शब्दों के अस्तित्व से ज्ञात हो जाता है। आर्यों के मूल निवास-स्थान की शोध भी इसी आधार पर हो रही है।

समाज-शास्त्र

भाषा विचार-विनिमय का साधन है। समाज में ही प्रायः मानवीय भावों का आदान-प्रदान भाषा के माध्यम से ही होता है। जिन सांकेतिक ध्वनियों को समाज ने स्वीकार किया है वे ही भाषा बन गई हैं। अतः भाषा व्यक्तिगत सम्पत्ति न होकर समष्टिगत है। ईरान में 'देव' शब्द अशुभ माना जाता है जबकि भारत में शुभ अर्थ में इसका प्रयोग होता है। सम्राट् अशोक के लिए व्यवहृत 'देवानां प्रिय' का अर्थ बाद में मूर्ख हो गया। सारांश यह है कि देश

और काल के अनुसार समाज की मनोवृत्तियों और भाषा में जो परिवर्तन दृष्टिगत होता है उन सबका कारण भाषा-विज्ञान ही ढूंढ़ता है। अतः समाज-शास्त्र और भाषा-विज्ञान का गहरा सम्बन्ध है।

मानव-विज्ञान

मानव-विज्ञान में मानव-विकास का (मर्यादा, सामाजिक, मनोविज्ञान, धर्म, अंधविश्वास तथा पर्व) आदि की दृष्टि से अध्ययन किया जाता है और भाषा स्वयं मानव के विकास का प्रतीक है। अतः दोनों का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। मानव-शास्त्र हमें यह भी बतलाता है कि आरम्भिक काल में मानव जाति का विकास कब, किन अवस्थाओं में तथा किस-किस प्रकार हुआ। भाषा-विज्ञान का वह अंश भाषा-विज्ञान के लिए अधिक महत्वपूर्ण है जिसमें बातचीत, रहन-सहन और रीति-नीति का विवेचन रहता है। अर्थ-परिवर्तन में परिस्थितियों का योग, भाषा की उत्पत्ति तथा उसका प्राचीन रूप तथा लिपि-विकास के विषय में भी मानव-विज्ञान से पर्याप्त सहायता मिलती है।

प्रश्न ४६—वाक्यों के प्रकार और वाक्य-गठन में परिवर्तन के कारण स्पष्ट कीजिए।

वाक्यों से ही भाषा का निर्माण हुआ है। आकृतिमूलक वर्गीकरण में वाक्य को ही आधार माना जाता है। वाक्य के चार प्रकार हैं—

(१) **अयोगात्मक**—अयोगात्मक वाक्य में शब्द सर्वदा पृथक् रहते हैं और उनका स्थान वाक्य में निश्चित रहता है। इसका कारण यह है कि सम्बन्ध-तत्व के लिए शब्दों में किसी प्रकार का परिवर्तन या विकार उपस्थित नहीं होता है। अतः शब्दों के स्थान के निर्धारण से ही सम्बन्ध-तत्व स्पष्ट हो जाता है। यह पद-क्रम की निश्चितता एकाक्षर परिवार की चीनी आदि भाषाओं में प्रमुख रूप से मिलती हैं। अंग्रेजी, हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में पद क्रम कुछ-कुछ निश्चित सा हो गया है क्योंकि इन भाषाओं का स्वरूप वियोगात्मक है। जैसे 'राम मोहन को मारता है' तथा 'मोहन राम को मारता' है। स्थान-परिवर्तन से अर्थ में भी परिवर्तन हो गया है पर अभी इसके अपवाद भी मिलते हैं।

(२) **प्रश्लिष्ट योगात्मक**—इस तरह के वाक्यों में शब्द मिलकर एक बड़ा शब्द बन जाते हैं। इस अवस्था में शब्द का कुछ अंश छूट जाता है। जैसे—मेक्सिकन में क=खाना, नकत्ल=मांस, नेवत्ल=में के योग से 'नीनकक' वाक्य शब्द बन गया। इन वाक्यों के विश्लेषण में अधिक जटिलता है इसी

से इनके शब्दों के योग को प्रश्लिष्ट कहा जाता है।

(३) अश्लिष्ट योगात्मक—इसमें केवल प्रत्ययों का प्राधान्य रहता है और प्रत्ययों से ही सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इन वाक्यों में मूल शब्द और सम्बन्ध-तत्व को प्रकट करने के लिए प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। इसी कारण इन वाक्यों को 'पारदर्शक गठन वाले वाक्य' की संज्ञा से विभूषित किया जाता है।

(४) श्लिष्ट योगात्मक—ये विभक्ति प्रधान वाक्य कहे जाते हैं। विभक्तियों का प्रयोग अश्लिष्ट योगात्मक की भांति प्रत्यय रूप में होता है। पर दोनों में अन्तर यह है कि अश्लिष्ट में प्रत्यय स्पष्ट रहते हैं और श्लिष्ट में इनका स्पष्ट पता नहीं चलता है। जैसे राम+सु (प्रथमा, एक व०)=रामः (यहां गु का पता नहीं चलता है) इसी प्रकार कहीं-कहीं तो संयोग में प्रत्यय पूर्णतया लुप्त हो जाता है; यथा लता+सु=लता (सु का सर्वथा लोप हो गया है। वैयाकरणिक गठन की दृष्टि से वाक्य के तीन प्रकार हैं—(१) साधारण वाक्य, (२) संयुक्त वाक्य और (३) मिश्रित वाक्य।

भाव या अर्थ की दृष्टि से वाक्य के भेद—

(१) विधान सूचक—राम जाता है।
(२) निषेध सूचक—राम नहीं जाता है।
(३) आज्ञा सूचक—यह काम करो।
(४) प्रश्न सूचक—तुम कहाँ रहते हो?
(५) विस्मय सूचक—अरे! यह क्या हुआ।
(६) वह गया होगा।

क्रिया के आधार पर—(क) क्रियायुक्त वाक्य, (ख) क्रिया विहीन वाक्य (मुहावरे, लोकोक्ति तथा विज्ञापन आदि में ऐसे वाक्यों का प्रयोग होता है।)

वाक्य-गठन में परिवर्तन के कारण

(१) अन्य भाषा का प्रभाव—जब कोई भाषा अन्य भाषा से प्रभावित होती है तो कभी-कभी उसके वाक्य गठन में भी उस प्रभाव के फलस्वरूप परिवर्तन आ जाता है। हिन्दी में फारसी और अंग्रेजी के प्रभाव के कारण अनेक परिवर्तन आ गये हैं। 'कि' लगाकर वाक्य बनाने की परम्परा फारसी की देन है। नेहरू आदि की भाषा में अंग्रेजी के प्रभाव से क्रिया के बाद कर्म रखने की प्रवृत्ति मिलती है।

(२) ध्वनि-विकास के कारण विभक्तियों का घिस जाना—भाषा के विकास के साथ जब सम्बन्ध तत्व को स्पष्ट करने वाली विभक्तियाँ घिस जाती

हैं तो अर्थ की स्पष्टता के लिए सहायक शब्द (क्रिया परसर्ग आदि) जोड़ने पड़ते हैं। इसके कारण भाषा संयोगात्मकता से वियोगात्मकता की ओर बढ़ने लगती है। इससे वाक्य-रचना और शब्द-क्रम पर प्रभाव पड़ता है। वियोगात्मक भाषाओं में शब्द-क्रम या पद क्रम अधिकांशतः निश्चित होता है जबकि संयोगात्मक भाषा में नहीं होता। भारोपीय परिवार की अंग्रेजी और हिन्दी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

(३) **स्पष्टता या बल के लिये सहायक शब्दों का प्रयोग**—प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा में स्पष्टता या बल के लिए विभक्तियों के न घिसने पर भी सहायक शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा, जिसका परिणाम यह हुआ कि विभक्तियाँ धीरे-धीरे लुप्त हो गईं और वे शब्द परसर्ग के रूप में प्रयुक्त होने लगे।

(४) **बोलने वालों की मानसिक स्थिति में परिवर्तन**—अभिव्यंजना शैली तथा अलंकरण शैली के प्रभाव से वाक्य की गठन में भी एक प्रकार का परिवर्तन आ जाता है। उदाहरणार्थ युद्धकालीन व्याख्यानों तथा दीन दुःखी व्यक्ति के वाक्य में व्यंग्य तथा अलकरण की प्रचुरता न होकर सादगी अधिक होती है। जोर देने के लिए कभी-कभी पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति के दर्शन मिलते हैं।

प्रश्न ४७—स्पष्ट कीजिए—

(क) ध्वनि-यन्त्र। (ख) श्रवण ध्वनि और ध्वनिमात्र का अन्तर। (ग) क्लिक ध्वनियां। (घ) संकेत-ग्रह।

(क) **ध्वनि-यन्त्र**—'जिन अंगों या अवयवों से भाषा-ध्वनियों का उच्चारण किया जाता है, उन्हें ध्वनि-यन्त्र, उच्चारण-अवयव या वाग्यंत्र कहते हैं।' ध्वनि-अवयव निम्न हैं—

१. श्वास-नालिका, २. भोजन-नालिका, ३. स्वर-यन्त्र (कंठ-पिटक, ध्वनि-यन्त्र) ४. स्वर-यन्त्र मुख (काकल), ५. स्वर-तन्त्री, ६. स्वरयन्त्र-मुख आवरण (अभिकाकल), ७. नासिका विवर, ८. मुख-विवर, ९. अलिजिह्व (कौवा), १०. कण्ठ, ११. कोमल तालु, १२. मूर्द्धा, १३. कठोर तालु, १४. वर्त्स, १५. दाँत, १६. ओष्ठ, १७. जिह्वा, १८. जिह्वानोक, १९. जिह्वाग्र, २०. जिह्वा-मध्य, २१. जिह्वापश्च, २२. जिह्वामूल।

श्वास श्वासनालिका में होती-होती फेफड़ों में पहुँचती है और स्वच्छ होकर उसी मार्ग से बाहर निकल जाती है। भोजन-नालिका के विवर के साथ श्वास-नालिका की ओर झुकी एक छोटी सी जीभ है, जिसे अभिकाकल कहते है। भोजन या पानी जब मुँह-मार्ग से भोजन-नालिका के मुख के पास आता

है, तो यह अभिकाकल नीचे की ओर झुककर श्वास-नालिका को बन्द कर देता है और भोजन या पानी आगे सरक कर भोजन-नालिका में चला जाता है। श्वास-नालिका के ऊपरी भाग में अभिकाकल के नीचे ध्वनि उत्पन्न करने वाला प्रधान अवयव होता है जिसे ध्वनि-यन्त्र या स्वर-यन्त्र कहते हैं। बाहर गले में जो उभरी घाँटी दिखाई देती है, यह वही है। स्वर-यंत्र में पतली झिल्ली के बने दो लचीले पर्दे या कपाट होते हैं उन्हें स्वर-तन्त्री या स्वर-रज्जु कहते हैं। ध्वनियाँ उत्पन्न करने के लिए स्वरतन्त्रियाँ एक दूसरे के समीप आती हैं और दूर हटती है। इस प्रकार अनेक प्रकार की स्थितियाँ उत्पन्न होकर अनेक विभिन्न ध्वनियों की उत्पत्ति होती है। इनमें घोष, अघोष, अल्पप्राण तथा महाप्राण ध्वनियां उच्चरित होती हैं। जीभ के स्वरूप के मांस का छोटा सा भाग उस स्थान पर होता है जहाँ से नासिका-विवर और मुख-विवर के रास्ते फूटते हैं, इसे कौवा या अलिजिह्व कहते हैं। कौवा की मध्य स्थिति से अनुनासिक वर्णों तथा इसके नासिका-विवर को रोकने पर साधारण वर्णों का उच्चारण होता है। मुख विवर के ऊपर की ओर तालु है जिसके कण्ठ-स्थान और दाँतों के बीच में क्रम से चार भाग हैं—१. कोमल तालु, २. मूर्द्धा, ३. कठोर तालु तथा ४. वर्त्स। जिह्वा के विभिन्न भागों का इनसे स्पर्श कराकर विभिन्न ध्वनियाँ उच्चरित की जाती हैं। मुख-विवर के निचले भाग में जिह्वा है। बोलने में वायु अवरोध या विशेष आकृति का गूंज-विवर बनाने के लिए इसका प्रयोग करते हैं। जिह्वा के पांच भाग हैं—मूल, पश्च, मध्य, अग्र तथा नोक। जिह्वा दाँत या होंठ से मिल कर विभिन्न ध्वनियों का निर्माण करते हैं। यह संक्षिप्त रूप से ध्वनि यन्त्र का कार्य है।

(ख) **भाषण-ध्वनि और ध्वनिमात्र का अन्तर**—भाषा ध्वनि संकेतों का समूह मात्र है। ध्वनि से ध्वनिमात्र, भाषण ध्वनि और वर्ण अर्थात् ध्वनि सामान्य तीनों का अर्थ लिया जाता है। वर्ण का सामान्य अर्थ वर्णमाल से है। भाषण अवयवों द्वारा उत्पन्न निश्चित श्रवण गुण वाली ध्वनि भाषण ध्वनि है। ध्वनि में किसी भी गुण के कारण किंचित भी विकार उत्पन्न होता है तो वह क्रिया-ध्वनि एक अन्य प्रकार की होती है और दूसरी ही ध्वनि कही जाती है। अनेक भाषाओं में इस प्रकार की भाषण ध्वनि बहुत अधिक होती हैं, पर उन सभी के लिए पृथक्-पृथक् लिपि संकेत नहीं होते हैं क्योंकि कई ध्वनियाँ सम्बद्ध भाषण में विशेष स्थान में ही प्रयुक्त होती हैं। प्रायः ऐसी

अनेक भाषण-ध्वनियों के लिए एक ध्वान संकेत का व्यवहार होता है। ऐसी सजातीय ध्वनियों के कुल को ध्वनिमात्र अथवा ध्वनि-श्रेणी कहते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से ध्वनि मात्र किसी भाषा-विशेष की ऐसी सम्बन्धी ध्वनियों को कहा जाता है, जिन ध्वनियों का स्थान एक सम्बद्ध भाषण में अन्य कोई ध्वनि नहीं ले सकती। भाषण ध्वनि और ध्वनिमात्र में अन्तर यही है कि ध्वनिमात्र अनेक स्थानों में सामान्य रूप से व्यवहृत होती है पर भाषण-ध्वनि उक्ति वैचित्र्य और पृथक् सत्ता रहती है। एक भाषण-ध्वनि के स्थान-विशेष में अन्य भाषण-ध्वनि नहीं आ सकती है। भाषण-ध्वनियों का विशेष प्रयोजन प्रयोगात्मक और परीक्षात्मक ध्वनि-शिक्षा में ही होता है। भाषण-ध्वनियों (Alloph
संध्वनि भी कहा जाता है।

उदाहरणार्थ—जल्दी, माल्टा, कल और तिलक में पृथक्-पृथक् 'ल' ध्वनियाँ हैं। भाषा-विदों ने परीक्षा कर यह निश्चय किया है कि पहला 'ल' दन्त्य है, दूसरा 'ल' ईषत् मूर्धन्य है, तीसरे में 'ल' महाप्राण है तथा चौथे में 'ल' दन्त-मूल या वर्त्स है। अतः चारों में प्रायः ल का उच्चारण एक-सा नहीं है। ये सब एक 'ल' ध्वनिमात्र की भिन्न-भिन्न भाषण-ध्वनियां हैं। अंग्रेजी में King और queen में भी एक 'क' ध्वनिमात्र है, पर पहले में 'क' तालव्य है और दूसरे में शुद्ध कण्ठ्य है। भाषण-ध्वनि और ध्वनिमात्र पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। ध्वनिमात्र (Phoneme) को ध्वनिग्राम या ध्वनि-श्रेणी कहते हैं।

(ग) क्लिक ध्वनियाँ—स्वाँस को भीतर खींचते समय जिन ध्वनियों का उच्चारण किया जाता है वे क्लिक(Click)ध्वनियाँ कहलाती हैं। इन्हें अन्तर्मुखी द्विस्पर्श या अन्तःस्फोट द्विस्पर्श भी कहा गया है। इसकी दो प्रमुख विशेषताएं हैं—(क) मुँह में दो स्थानों पर स्पर्श या अवरोध, (ख)हवा का बाहर से भीतर जाना। इनके उच्चारण में जीभ तथा मांसपेशियाँ कुछ कड़ी तथा खिंची हुई रहती हैं। अफ्रीका में विशेषतः बुशमैन परिवार की भाषाओं में इनका प्राधान्य है। कुछ विद्वानों के अनुसार सभी ध्वनियों का क्लिक उच्चारण हो सकता है। इन ध्वनियों का उच्चारण साधारण स्पर्शों की भाँति ऊँचे स्वर से नहीं हो सकता, उनकी लहरें ध्वनियंत्र में भीतर ही बनेंगी बाहर नहीं।

भारोपीय भाषाओं में भी क्लिक ध्वनियों की स्थिति पाई जाती है। कहा जाता है कि प्रागैतिहासिक काल में इन ध्वनियों की प्रधानता थी। धीरे-धीरे अब ये लुप्त हो गईं। अब एक ध्वनि सर्वव्यापक रूप से एक ही अर्थ में उच्चरित होती है। यह ध्वनि 'चुम्बन' की है जिसका अर्थ प्यार होता है। यह भी एक

प्रकार की क्लिक-ध्वनि है। भारोपीय परिवार की अनेक भाषाओं में संतोष, घृणा, क्रोध, दुःख आदि भावों के व्यक्त करने के लिए क्लिक ध्वनियों का अब भी प्रयोग होता है। अंग्रेजी में 'हम प्यार करते हैं' के लिए एक शब्द 'केरोम' का केरोम्प (Karomp) हो गया। फ्रेंच में संदेह तथा आश्चर्यवाचक क्लिक ध्वनि 'त' है। हिन्दी भाषा में दुःख या कष्ट प्रकट करने के लिए 'सी' ध्वनि उच्चरित होती है। च्-च्-च्-च् तथा टिक्-टिक् भी इसी प्रकार की ध्वनियाँ हैं।

क्लिक के प्रमुखतः छः भेद किये गये हैं—तथा कहीं-कहीं उनके चिह्न भी निर्धारित हैं—१. मूर्धन्य !, २. दन्त्य ।, ३. तालव्य +, ४. पार्श्विक ॥, ५. वर्त्स्य ‡, ६. ओष्ठ्य* । जैसे—ami=ढीला करना मूर्धन्य है। इन ध्वनियों के भी घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, अनुनासिक, अननुनासिक आदि दोनों रूप हो सकते हैं, संयुक्त ध्वनि में दो ध्वनि एक से मिलती हैं, यथा—चक्का (क्+क)। क्लिक ध्वनियाँ, बुशमैन, जूलू, बाँटू, होटें टोट तथा अमरीका की भाषाओं में प्रयुक्त होती हैं।

(घ) **संकेत-ग्रह**—बालक अनेक व्यक्तियों को बोलते और व्यवहृत अक्षरों का अनुभव करता है और स्वयं ही विभिन्न शब्दों के अर्थ समझ लेता है। शिशु के शब्द-ग्रहण की प्रक्रिया के द्वारा संकेत ज्ञान का उसे स्वयं ही आभास हो जाता है। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति के गाय लाने के आदेश पर अन्य उस पशु को लाता है। बालक उसकी इस क्रिया से गाय शब्द का अर्थ संकेत द्वारा ग्रहण करता है। इसी को संकेत-ग्रह कहते हैं। पहले बालक व्यवहार द्वारा पूरे वाक्य का अर्थ ग्रहण करता है और धीरे-धीरे अलग-अलग शब्द का अर्थ समझता है। संकेत के सात ग्राहक होते हैं। ये कोश, व्याकरण, आप्तोपदेश, वाक्यशेष, विवृत्ति, सन्निधि और उपमान आदि हैं। व्यवहार ही इन सबमें व्यापक है। गुरुजन बालक को व्यवहार द्वारा कई शब्द समझा देते हैं। जिसे वह ग्रहण कर लेता है। बच्चा प्रकृति प्रत्यय आदि का ज्ञान व्याकरण से संकेत ग्रहण कर करता है। बच्चा उपमान से विभिन्न प्रकार की कल्पनाएँ कर लेता है। वह गाय को पहिचानता है और गाय शब्द को सुनकर वह गाय जैसे एक पशु की कल्पना स्वयं ही कर लेता है। इसी प्रकार देव, किन्नर, गंधर्व आदि की कल्पना प्रत्यक्ष वस्तु के सादृश्य के अनुमान से करता है। वाक्य शेष की पद्धति पर वह किसी भी संदेह का निवारण कर लेता है। जैसे, गंगा शब्द नदी और लड़की के लिए प्रयुक्त हो सकता है, परन्तु वाक्य में प्रयुक्त होने पर इसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। 'गंगा की धारा वेगवती है।' तथा 'गंगा पाठशाला जाती है।' में क्रमशः

नदी और लड़की का बोध होता है। इस प्रकार वाक्य शेष से संकेत ग्रहण होता है।

सिद्ध पदों की सन्निधि में भी संकेत-ज्ञान प्राप्त किया जाता है। जैसे 'मधुप कमल पर मँडरा रहे हैं' वाक्य से पाठक मधुप शब्द का अर्थ सहज में ही भौंरा समझ लेता है। अस्पष्ट शब्दों का अर्थ विवृत्ति (=खोलना) के संकेत ग्रहण से समझ लिया जाता है। विवृत्तियाँ व्याख्या करते समय शिक्षक रसाल आदि शब्द का अर्थ पूर्व-ज्ञान, पर्यायवाची शब्द या वस्तु के प्रत्यक्ष दर्शन से समझा देता है। उसी भाषा या अन्य परिचित भाषा में अनुवाद करने या समझने का नाम ही विवृत्ति है। संकेत-ग्रह का ज्ञान व्यावहारिक रूप से प्रयोक्ता पर निर्भर करता है। अर्थबोध वास्तव में होता है शब्दशक्ति के ज्ञान से परन्तु, संकेत ही उस सम्बन्ध का परिचायक होता है।

प्रश्न ४८—ध्वनि-नियमों के विरुद्ध सादृश्य का क्या अर्थ है? उसके प्रभाव और विस्तार की उदाहरण-सहित व्याख्या कीजिए।

(दि० वि० १६६०, ६२)

सरलता की ओर मानव-मस्तिष्क का झुकाव नैसर्गिक रूप से होता है। मानव किसी शब्द को अधिक सुगम तथा चिरस्थायी बनाने के लिए किसी पुराने शब्द के वजन पर उसे ढाल लेता है। इस प्रकार दोनों शब्दों में रूप की दृष्टि से समानता हो जाती है। दोनों में यह रूप-सादृश्य ही प्रयत्न-लाघव की एक सरणि है। जैसे द्वादश के सादृश्य पर 'एकदश' को 'एकादश' बना दिया। सेंतीस और सेंतालीस के सादृश्य पर पैंतीस और पैंतालीस शब्द बने। सादृश्य-गत पद्धति से बने शब्दों को स्मरण करने में सुविधा रहती है। अनुमान है कि भाषा के आदि काल में रूपों की विभिन्नता अधिक रही होगी। धीरे-धीरे सादृश्य के कारण यह विभिन्नता दूर होती गई। पहले इसको मिथ्या सादृश्य की संज्ञा से बोधित किया जाता था बाद में सभी सादृश्य मिथ्या होते हैं इस कारण केवल सादृश्य ही प्रचलित रह गया।

सादृश्य (Analogy) की व्यापकता

सादृश्य को शब्द-विकार का एक कारण मानना एक भ्रान्ति है। कारण तो सरलता, सुविधा या मुख है, सादृश्य तो इसका एक साधन मात्र है। मुझ (=मह्यं) का उकार तुझ (=तुभ्यं) के सादृश्य से है। पर यह याद करने की सुविधा के लिए ऐसा माना गया। अतः सादृश्य किसी परिवर्तन का कारण नहीं है।

सादृश्य की गति—सादृश्य का प्रयोग प्रायः सभी भाषाओं में मिलता है।

संस्कृत में द्विवचन का प्रयोग युग्म शब्दों के लिए होता था—जैसे पितरौ, पादौ, कर्णौं आदि। बाद में विलोम युग्म तथा द्वन्द्व समास में भी सादृश्य के आधार पर इसका प्रयोग चल निकला, यथा—लाभालाभौ, सिंह-शृगालौ आदि।

अंग्रेजी में Shall और will के रूप Should और would के सादृश्य पर can का could हो गया। असम्भावित रूप से could में l का आगम हो गया। विद्यार्थी या नए सीखतर अधिकांश रूपों का निर्माण सादृश्य के आधार पर कर लेते हैं। जैसे नया छात्र Box से Boxes को देखकर उसी सादृश्य पर Ox से Oxes कर देता है जबकि शुद्ध रूप Oxen है। इसी प्रकार मर से मरा, धर से धरा के आधार पर कर से करा और बैठिए, लिखिए को देखकर करिए कह उठता है यद्यपि परिनिष्ठित रूप 'किया' और कीजिए' है।

सादृश्य के विस्तार के प्रधान कारण—सुविधा या सरलता ही सादृश्य का प्राण है।

(क) अभिव्यंजना की कठिनाई या एक भाव के लिए दो विभिन्न शब्दों की जटिलता से बचने के लिए जनमस्तिष्क एक से रूप बना लेता है, जैसे पूर्वीय या पौरस्त के रहने पर भी पाश्चात्य के सादृश्य पर पौरस्त्य की रचना की गई।

(ख) रूप की अनिलघुता से या अधिक स्पष्टता लाने के लिए रूप बना लिए जाते हैं, यथा ism के आधार पर Socialism और जर्मन ard के आधार पर Coward आदि रूप सृष्ट हुए।

(ग) समानता या विपर्यय पर बल देने के लिए सादृश्य का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ संस्कृत में स्वसृ तथा मातृ का स्वसुः, मातुः रूपों के सादृश्य पर पति का इकारान्त होते हुए भी पत्युः रूप प्रचलित हो गया। इसी प्रकार आभ्यन्तर से भीतर के आधार पर बाह्य का 'बाहर' रूप बन गया। इसी विपर्यय पर बल देने के लिए निर्गुण के सादृश्य पर सगुण का सरगुण बन गया।

(घ) किसी प्राचीन या नवीन नियम की संगति बिठाने के लिए सादृश्य का सहारा लिया जाता है जैसे; 'इक' प्रत्यय से ऐतिहासिक के स्थान पर इतिहासिक भूगोलिक आदि शब्द भी इसी सादृश्य की भावना से प्रचलित होने लगे हैं।

(ङ) शीघ्रता, अशुद्धि और पाण्डित्य-प्रदर्शन आदि के कारण भी सादृश्य कार्य करता है। बच्चे तथा विभाषी लोग शीघ्रता, असावधानी और अज्ञानतावश अशुद्ध प्रयोग से भी सादृश्य के आधार पर कर लेते हैं। यथा—घोड़ों, लड़कों के सादृश्य पर अनेक बहुवचनान्त रूप का 'अनेकों' रूप प्रचलित हो

। सादृश्य के आधार पर पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना से कभी-कभी अशुद्ध रूप बन जाते हैं; जैसे सादृश्यता, वाहुल्यता, चातुर्यता आदि ।

ब्रील आदि विद्वान् सादृश्य का आरम्भ भाषा के आरम्भ के कुछ ही समय बाद मानते हैं । सादृश्य मानव की एक सहज ग्राह्य प्रवृत्ति है और भाषा के आदि काल से ही इसका कार्य प्रारम्भ हो गया होगा । प्रायः व्याकरण के समस्त नियम सादृश्य के कार्य करने के उपरान्त ही समानता देखकर बनाये गये होंगे ।

सादृश्य का प्रभाव—सादृश्य के प्रभाव का निम्न रूप से विवेचन किया जा सकता है ।

(१) सादृश्य नियम-विरुद्ध अपवादों को दूर कर नियम-बद्धता लाता है । अंग्रेजी की बली क्रियाएँ निर्बल होकर शनैः शनैः एक रूप होती जा रही हैं ।

(२) सादृश्य के आधार पर एक भाषा दूसरी भाषा पर प्रभाव डालती है; जैसे नेहरू तथा जैनेन्द्र की हिन्दी पर अंग्रेजी वाक्य-गठन का स्पष्ट प्रभाव दृष्टि-गोचर होता है ।

(३) दो जातियों के मिश्रण तथा दो सभ्यताओं के सम्पर्क में सादृश्य के आधार पर ही भाषा विकसित होती है, विदेशी शब्दों को आत्मसात् कर लेती है ।

(४) सादृश्य से भाषा आसान और सहज ग्राह्य बन जाती है ।

ध्वनि-नियमों के विरुद्ध सादृश्य का अर्थ—किसी भाषा के ध्वनि-नियम उस भाषा पर ही पूर्ण रूप से घटित नहीं हो पाते हैं । एक काल में ही लागू किये गये नियमों के ही अनेक अपवाद मिलते हैं । जैसे ग्रिम तथा वर्नर के ध्वनि-नियम तथा संशोधन के उपरान्त उसमें अनेक अपवाद मिलते हैं । इन अपवादों का सबसे प्रमुख कारण सादृश्य के आधार पर बने देशी तथा विदेशी शब्द होते हैं । अधिकांश रूप में सादृश्य नियम-विरुद्ध अपवादों को दूर कर नियम-बद्धता तथा समान-रूपता लाता है । पर कभी-कभी इस प्रकार बने रूपों पर ध्वनि-नियम भी व्यापक रूप से कार्य नहीं कर पाते हैं ।

सादृश्य का क्षेत्र—भाषा-विज्ञान के अध्ययन की चारों ही शाखाओं में भाषा के विकास के सादृश्य का प्रधान हाथ है । रूप और ध्वनि में सादृश्य का क्षेत्र अर्थ और वाक्य से अधिक व्यापक है

प्रश्न ४६—'यूरोप में संस्कृत की खोज ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की नींव डाली ।' समीक्षा कीजिए । **(दि० वि० १९५५)**

जिस प्रकार भारत में भाषा सम्बन्धी आधुनिक अध्ययन यूरोपीय विद्वानों

के संसर्ग से आरम्भ हुआ उसी प्रकार यूरोप में वैज्ञानिक अध्ययन का आरम्भ भारतीय विद्वानों के ससर्ग से हुआ। यूरोपीय विद्वान भारत में संस्कृत सीखकर ही वैज्ञानिक तथा तुलनात्मक अध्ययन में सफल हो सके। उन्होंने संस्कृत के महत्व को समझने का प्रयत्न किया था। अनेक भाषाओं की तुलना और प्राचीन भारोपीय भाषा के निर्धारण में संस्कृत का गौरव महान् है। ध्वनियों की दृष्टि से संस्कृत प्राचीन भारत यूरोपीय की प्रकृति को अधिक सुरक्षित रख सकी है। भारोपीय परिवार की किसी भी शाखा के प्राचीनतम रूप के अध्येता के लिए चाहे वह ग्रीक हो या लैटिन या गॉथिक, स्लाविक या प्राचीन फारसी संस्कृत की आवश्यक प्रकृति का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। यूरोपीय विद्वानों ने इसी दृष्टिकोण से संस्कृत का अध्ययन किया। इतना ही नहीं उन्होंने यह भी अनुभव किया कि भाषा-शास्त्र के सामान्य नियमों के ज्ञान के लिए भी संस्कृत का थोड़ा-बहुत परिचय अपेक्षित है। १८वीं शती के अन्त से लेकर आज तक भाषा-शास्त्र के विकास का इतिहास संस्कृत के अध्ययन से अनुस्यूत रहा है तथा भाषा-शास्त्र के इतिहास को समझने के लिए संस्कृत का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। एकमात्र सस्कृत के परिचय ने ही यूरोप में भाषा-विज्ञान को जन्म दिया यह कहना अतिशयोक्ति न होगा।

भाषा-विज्ञान के जन्म में संस्कृत का प्रमुख हाथ रहा है और १९वीं शती के आरम्भ मे यूरोप में विकसित तुलनात्मक व्याकरण (Comparative Grammar, Philology) की प्रणाली की आधारशिला रखी गई। जैसा कि यूरोप में संस्कृत के परिचय के विषय में विख्यात है, यूरोपीय विद्वानों ने इसे पाकर, जैसे भाषा सम्बन्धी पुराने यूरोपीय विचारों में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया। प्राचीन काल में यूरोपीय विद्वान यूरोप तथा एशिया की भाषाओं को हिब्रू से उत्पन्न मानते थे। जब से यूरोपीय विद्वानों को संस्कृत का पता लगा तब से वे इस भ्रान्त धारणा को छोड़कर भाषा-शास्त्र की वैज्ञानिक दिशा की ओर बढ़ने लगे। सर्वप्रथम कोर्दो (Coeurdoux) नामक फ्रेंच पादरी ने सन् १७६७ में फ्रेंच इन्स्टिट्यूट के पास भारत से एक लेख भेजा था, जिसमें उसने संस्कृत तथा लैटिन की समानताओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया था। उसने सस्कृत अस् धातु के वर्तमान रूपों का उदाहरण देते हुए लैटिन के रूपों से उसकी तुलना की थी। कोर्दो का लेख ४० वर्ष बाद छपने के कारण इसका श्रेय न मिल सका। अतः यूरोपीय जगत को संस्कृत का परिचय देने का श्रेय सर विलियम जोन्स को है। १७८६ में रॉयल एशियाटिक सोसायटी की आधार-

शिला रखते हुए आपने संस्कृत के महत्त्व की घोषणा की और इसे ग्रीक से भी अधिक पूर्ण और लैटिन से अधिक समृद्ध बताया। इसके पश्चात् अन्य यूरोपीय विद्वानों का ध्यान इस ओर अग्रसर हुआ।

१९वीं शती के आरम्भ में भारोपीय तुलनात्मक व्याकरण को अग्रसर करने वाली सर्वप्रथम पुस्तक श्लेगेल की (भारत की भाषा तथा ज्ञान सम्पत्ति पर) लिखी गई थी। इस पुस्तक के अन्तर्गत श्लेगेल का प्रमुख ध्येय संस्कृत साहित्यिक संपत्ति की ओर संकेत करना तथा उसपर विचार प्रकट करना था। इसी कारण जर्मनी में संस्कृत का प्रचार बढ़ा। संस्कृत को ही आधार बना कर श्लेगेल ने समस्त विश्व की भाषाओं को दो भागों में विभक्त किया था—(१) संस्कृत से सम्बद्ध भाषाएँ, तथा (२) अन्य भाषाएँ।

रास्क और ग्रिम ने भी भारोपीय परिवार की यूरोपीय भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया; किन्तु संस्कृत की परम्परा का उत्थान करने वाला फ्रेंज बॉप था। उसने १८१६ में अपने महत्त्वपूर्ण निबन्ध "संस्कृत भाषा की पद-रचना तथा ग्रीक लैटिन, फारसी और जर्मन भाषा की पद-रचना के साथ उसकी तुलना" को प्रकाशित कराया जो आज भी भारोपीय भाषा-शास्त्र का दीप-स्तम्भ माना जाता है। प्राचीन या आदिम भारोपीय भाषा के काल्पनिक रूप की प्रवतारणा या पुनर्निर्माण करने का श्रेय श्लेखर को ही दिया जाता है। नव्य वैयाकरण काल में भारोपीय तुलनात्मक व्याकरण का अत्यधिक अध्ययन होने लगा। ब्रगमैन, मैक्समूलर, ह्विटनी आदि अनेक विद्वानों ने संस्कृत के अध्ययन से प्राचीन भारोपीय के कई अपवाद रूपों को वैज्ञानिक सिद्ध किया। वाकेरनागेल ने संस्कृत भाषा का तुलनात्मक व्याकरण प्रस्तुत किया जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त ज्यूल ब्लॉख की "लांदो आर्यों" (L' Indo Aryen) भी संस्कृत के तुलनात्मक अध्ययन में नया कदम है। यह ग्रंथ वैदिक संस्कृत तथा अवेस्ता से लेकर आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं तक बड़ा सुन्दर तथा महत्त्वपूर्ण परिचयात्मक अध्ययन है। आज भी संस्कृत के भाषा-शास्त्रीय महत्त्व का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि यूरोप के विश्वविद्यालयों में भाषा-शास्त्रीय अध्ययन में प्रवृत्त एक गवेषक के लिए कम से कम संस्कृत का सामान्य परिचय तो आवश्यक हो ही जाता है। अतः यह कथन सत्य है कि यूरोप में संस्कृत की खोज ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की नींव डाली।

प्रश्न ५०—मूल भारोपीय भाषाओं और संस्कृत में अपश्रुति (Vowel Gradation) की स्थिति पर तर्क उपस्थित कीजिए।

(दि० वि० १९५६, ५८, ५९, ६२)

अथवा

अपश्रुति या स्वरक्रम (Ablaut) पर संस्कृत का संदर्भ देते हुए एक लेख लिखिये। क्या पाणिनि की गुण, वृद्धि और सम्प्रसारण भाषावेत्ताओं की दृष्टि से उचित है ?

अपश्रुति—अपश्रुति या स्वरक्रम को विद्वानों ने स्वराघात (Accent) पर आश्रित माना है। इस ध्वनि-प्रवृत्ति ने प्रमुखतः भारोपीय भाषाओं के रचना-काल के अधिकांश भाग पर प्रभाव डाला है। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि शब्द के व्यंजन तो प्रायः ज्यों के त्यों रहते हैं किन्तु स्वरों (विशेषतः आन्तरिक स्वर) में परिवर्तन के कारण अर्थ बदल जाता है। जैसे चलना, चलाना। कभी-कभी कुछ अंश भी आदि अन्त में जुड़ जाते हैं। जैसे अंग्रेजी में choose, chose, chosen। सम्बन्धित शब्द या शब्दांशों के मध्य घटित होने वाला स्वर-परिवर्तन दो प्रकार का है—(अ) मात्रिक (Quantitative) तथा (आ) गुणीय (Qualitative)।

(क) **मात्रिक अपश्रुति**—मात्रा का अर्थ है ह्रस्व, दीर्घ आदि। जब स्वर प्रकृतितः वही रहे, केवल उसकी मात्रा-परिवर्तित हो जाय तो मात्रिक अपश्रुति होती है। जैसे संस्कृत में भरद्वाज और भारद्वाज या वसुदेव या वासुदेव। संस्कृत वैय्याकरणों ने इसी को गुण वृद्धि कहा है। यहाँ आधार शून्य श्रेणी (Zero Grade) को माना गया। परन्तु अब भाषा-मनीषी संस्कृत, ग्रीक आदि भाषाओं के अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि मूल या आधार श्रेणी गुण है, तथा गुण का प्रवर्द्धित (Lengthened या Prolonged) रूप वृद्धि तथा प्रह्रासित (reduced) या निर्बलीभूत (weak) रूप को शून्य मानते हैं। अ, ए, ओ के निर्बल रूप को शून्य; अ, ए, ओ को गुण और आ, ऐ, औ को वृद्धि कहा गया है। इन दोनों की बलाघात युक्त तथा बलाघातहीन और अनुस्वार रहित आदि उपभेद हैं।

१. **गुण-वृद्धि श्रेणियां**—वैय्याकरणों ने उदात्त तथा उच्च श्रेणी के अक्षर ए, ओ, अर्, अल् को एक मूलभूत श्रेणी में रखा है और उसे गुण कहा गया है तथा ये क्रमशः अनुदात्त तथा नीच श्रेणी के अक्षर इ, उ, ऋ, लृ से अन्तःपरिवर्तित होते रहते हैं। गुण अक्षरों के अतिरिक्त, कभी-कभी ऐ, औ, आर् (आल् नहीं होता) हो जाते हैं जिनको व्याकरण के मनीषियों ने वृद्धि की संज्ञा दी है तथा जो गुण अक्षरों का प्रवर्द्धित या दीर्घीभूत रूप कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए वैदिक संस्कृत में—

एमि : इमं :, आप्नोमि : आप्नुमं, वर्धय, : वृधाय, ददर्श : ददृशिमं।

२. सम्प्रसारण श्रेणियां—इससे उदात्त उच्च कोटि के अक्षर य्, व्, र्, (गुण रूप में ए, ओ, अर्,) अनुदात्त निम्न कोटि के स्वर इ, उ, ऋ में परस्पर परिवर्तित हो जाते हैं। जैसे यष्टवे, यज्ञ : इष्टं, वक्तवे : उक्त ग्रभे : गृहीत। इसी प्रकार सं० स्वप्न : ग्रीक में हुप्नोस् (hupnos) हो जाता है। अन्य उदाहरण श्वन् : शुनं :, राजि : ऋजु, प्रथति : पृथु, वक्षस् : उक्षां।

उपर्युक्त संस्कृत में गुण वृद्धि और सम्प्रसारण से ज्ञात होता है कि स्वराघात के विपर्यय से स्वर में एक प्रकार से अभिश्रुति के प्रभाव से अर्थ-परिवर्तन की शक्ति आ जाती है। इससे ज्ञात होता है कि भारतीय पाणिनि आदि वैयाकरण अपश्रुति की शक्ति से भली-भाँति परिचित थे। उपर्युक्त श्रेणियों के अतिरिक्त आ, ए, ओ और इ, उ, ऋ की अति लघु रूप में अनेक श्रेणियां प्रचलित थीं जिनमें से अनेक का उदाहरण मेक्डोनल के वैदिक व्याकरण में उपलब्ध हो जाता है।

मात्रिक अपश्रुति के कुछ अन्य उदाहरण—

सामान्य श्रेणी	दीर्घीभूत	शून्य श्रेणी
सदस् (सीठ)	सादयति (बैठता है)	सेदुः (वे बैठे)
दम्नोति (घायल करता है)	अदाम्य (घायल न हो सके)	अद्भुत (विचित्र)
ग्रीक Poda	Pos.	

(ख) गणीय अपश्रुति—गुणीय अपश्रुति में स्वर, मात्रा और गुण की दृष्टि से परिवर्तित हो जाता है, जैसे पश्च के स्थान पर अग्र या इसी प्रकार अन्य रूप से भी। उदाहरणार्थ लैटिन Tego (मैं ढकता हूँ) से Toga (ढक्कन), रूसी Vezu (ले जाता हू) और Voz (गाड़ी या बोझा), अंग्रेजी में sing, sang, sung, song अरबी में किताब (पुस्तक), कुतुब (पुस्तकें), कातिब (लिखने वाला)। हिन्दी में मेल, मिला, मिली, मिले और करना, करनी, कराना।

कभी-कभी एक ही शब्द में गुणीय और मात्रिक अपश्रुति के लक्षण दिखाई देते हैं; जैसे दशरथ से दाशरथि (इसमें 'द' से 'दा' में मात्रिक भेद है और थ से 'थि' में गुणीय।)

अपश्रुति के कारण

भारोपीय परि[illegible] भाषाओं के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला गया कि अपश्रुति का मूल [illegible] संगीतात्मक और बलात्मक स्वराघात है। अत्यन्त प्राचीन काल में जो मात्रिक परिवर्तन हुए उनका कारण तो बलात्मक स्वरा-

घात था और जो गुणीय परिवर्तन हुए उनका कारण संगीतात्मक स्वराघात था। अंग्रेजी, रूसी, हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में प्रायः केवल गुणीय अपश्रुति है। उनका कारण आधुनिक न होकर प्राचीन परम्परा का विकास मात्र है। यों हिन्दी आदि भाषा में इन दोनों स्वराघात के कारण स्वरों में दीर्घ या ह्रस्वता का आभास मिलता है किन्तु अर्थ-परिवर्तन से सम्बन्ध नहीं है, जहां है वहाँ किसी रूप में गुणीय परिवर्तन भी हो गया है।

प्रश्न ५१ -- परिचयात्मक टिप्पणियां लिखिये—

बान्टू भाषा, द्रविड़ भाषा, मुण्डा भाषाएं, स्लाव भाषाएं, पैशाची, अपभ्रंश, बिहारी भाषा, मध्य पहाड़ी, उच्च हिन्दी, रेख़्ता, सर विलियम जोन्स, यॉकोब ग्रिम, फान्त्स बॉप, रुडल्फ़ रॉथ, फ्रेडरिख, मैक्समूलर, जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन, डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी, शौरसेनी, शतम् तथा केन्टुम् समुदाय, हरियानी छत्तीसगढ़ी, उर्दू, दक्खिनी, हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दुस्तानी, व्रज, अवधी, खड़ी बोली, यास्क, पाणिनि, कात्यायन।

बान्टू भाषा—ये भाषाए बान्टू इसलिए कही जाती हैं कि इसकी भाषाओं में आदमी के लिए साधारण ध्वनि-परिवर्तनों के साथ 'बान्टू' प्रचलित है। इन भाषाओं का प्रसार जंजीबार द्वीप तथा मध्य और दक्षि अफ्रीका के वृहद् भाग में हैं। जजीवार की 'स्वाहिली' भाषा के अ रि अन्य भाषाओं में प्रायः साहित्य नहीं हैं। संयुक्त व्यंजनों के कम प्रयोग हो से ये भाषाएँ श्रुति मधुर और सभी स्वरान्त हैं। उच्चारण प्रणाली कुछ संगीता त्मक-सी है। बाँटू परिवार में लगभग डेढ़ सौ भाषाएँ हैं; जिनमें प्रमुख भाषाओं का वर्गीकरण अधोलिखित है—

बान्टू परिवार—
- [पूर्वी वर्ग (काफिर, जूलू किसु, अहिली, किकॉवा इत्यादि)
- [मध्य वर्ग (सेचुना, सेसुतो, सेरोलांग, तेकेजा इत्यादि)
- [पश्चिमी वर्ग (हरेरो, बुन्दा, काँगो, इसुबु, दुअल्ला आदि)

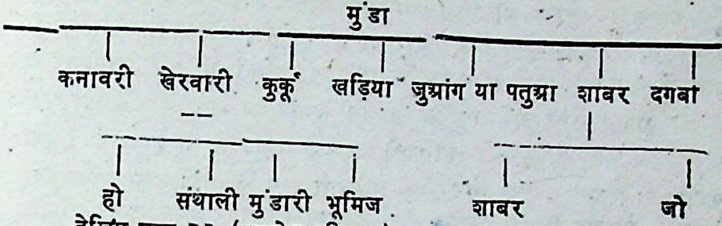
शेष के लिए देखिये प्रश्न ११—(अफ्रीका खण्ड)

द्रविड़ भाषा—यह द्रविड़ परिवार की प्रमुख तथा सर्वोन्नत भाषा है। इस का विभाजन निम्न रूप से किया जा सकता है—

द्राविड़——
- [तामिल——
  - [तामिल
  - [मलयालम
- [कन्नड
- [तुलु
- [कुडागू या कुर्गी
- [टुडा——
  - [टुडा
  - [कोटा

'तमिल' भाषा उत्तरी लंका एवं मद्रास नगर के उत्तर से लेकर कुमारी अन्तरीप तक बोली जाती है। इसका वाङ्मय अति उन्नत और विशाल है। इसमें भाषा के परिनिष्ठित रूप दो हैं—(क) संस्कृतनिष्ठ 'शेन' शिष्ट समुदाय की तथा (ख) कोडुन (=ग्रामीण) बोल-चाल की भाषा है। इसकी साहित्यिक शैली 'मणिप्रवाल' संस्कृत बहुला है। इरुल, कोरव, कसुव, कैकाड़ी तथा बुरगंडी आदि इसकी प्रमुख बोलियां हैं। मलयालम तमिल से ९वीं शती से पृथक् हुई। यह बंगलौर के दक्षिण में मालाबार तट तथा लक्षद्वीप में बोली जाती है। यह भी संस्कृतनिष्ठ है। 'मोपाला' में आर्य शब्द कम हैं। 'यरव' कुर्ग की प्रमुख बोली है। इसका पर्याप्त लिखित साहित्य है। 'कन्नड' मैसूर, मद्रास के प० भाग, हैदराबाद तथा बम्बई के कुछ भूभाग में बोली जाती है। यह सबसे प्राचीन मानी जाती है। भाषा तमिल और लिपि तेलगू के निकट है। इसमें पर्याप्त साहित्य तथा ४वीं-५वीं शती के प्राचीन लेख उपलब्ध हैं। जैन, लिंगायत, शैव और वैष्णवों का धार्मिक साहित्य इसमें सुरक्षित है। इसकी प्रमुख बोलियां बडगा, गोलारी, कुरुम्बा हैं। पुराना वाङ्मय संस्कृत से प्रभावित है। तुलु भाषा कुर्ग और बम्बई प्रान्त की सीमा पर एक लघु क्षेत्र में प्रयुक्त होती है: साहित्य का अभाव है तथा दो प्रमुख बोलियां कोरगा और 'बेलरा' हैं। कोडगु कुर्ग की भाषा है। टोडा और कोटा भाषाएँ नीलगिरि के जंगली लोगों की बोली है।

मुंडा भाषाएँ—आग्नेय परिवार की मुंडा भाषाओं का प्रधान क्षेत्र भारत है। इसे पहले कोल (=सूअर) भाषा कहा जाता था, मैक्समूलर ने एकमुंडारी के आधार पर मुंडा (=मुखिया) नाम दिया। मुंडा भाषा-भाषी लोग आर्य और द्रविड़ लोगों के पूर्व भारत में आये थे और चारों ओर फैले थे। बाद में आने वालों ने इन्हें मारकर भगा दिया। 'कनावरी' का क्षेत्र शिमला के निकटवर्ती है। विंध्याचल और पूर्वी भाग के क्षेत्र में खेरवारी बोली जाती है। संथाली और मुंडारी इसकी प्रमुख बोलियां हैं। कुर्कू मालवा के आसपास तथा मध्य प्रान्त और मेवाड़ में बोली जाती है। खड़िया (रांची के पास), जुआंग (केंदूझर और ढेंकानाल में), शावरी और दगवा (आंध्र की सीमा पर) सभी समाप्तप्राय है। शावरी शिकारियों की भाषा 'जो' कहलाती है। जुआंग भाषा असभ्य और नागों की भाषा है। विभाजन इस प्रकार है—



देखिए प्रश्न २३ (आग्नेय परिवार)

स्लाव भाषाएँ—ये भारोपीय परिवार के सतम् वर्ग की भाषाएं हैं। स्लावोनिक उपशाखा को पुनः तीन भागों में विभक्त किया जाता है :—दक्षिणी स्लावोनिक पश्चिम स्लावोनिक तथा पूर्वी स्लावोनिक। स्लावोनिक उपशाखाओं की भाषाएं बल्गेरिया, जेकोस्लेवाकिया, पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, यूक्रेन तथा रूस में बोली जाती हैं। इन तीनों भागों में से मध्यकालीन प्रकृति प्राचीन चर्च स्लावोनिक या 'प्राचीन बल्गेरियन" का विशेष महत्व है। इसमें ईसा की नवीं शती से लेकर १२वीं शती तक अत्यधिक महत्वपूर्ण साहित्य उपलब्ध है। इस उपशाखा की आधुनिक भाषाएं बल्गेरियन, सर्बो-क्रोट तथा स्लोवेन हैं। पश्चिमी उपशाखा की मध्यकालीन भाषा 'पोलेबियन' थी, किन्तु इसका साहित्य उपलब्ध नहीं होता। ऐसी शाखाएँ जेक, स्लोवाक, पोलिश तथा सोर्बियन हैं। यह पूर्वी जर्मनी में लगभग दस लाख आदमियों द्वारा बोली जाती है, तथा इस शाखा की सबसे बडी भाषा है। पूर्वी स्लावोनिक की आधुनिक भाषाएँ (बड़ी) रूसी, सफेद रूसी, यूक्रेनियम (या छोटी रूसी) हैं। रूसी रूस देश की राष्ट्रीय भाषा है। सफेद रूसी पोलैण्ड के कुछ भाग में बोली जाती है तथा छोटी रूसी यूक्रेन में। सोवियत की स्थापना होने से बाद रूस की अन्य सभी भाषाएँ जो अब तक हीन अवस्था में थीं, साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध होती जा रही हैं।

पैशाची—भारोपीय भाषा कुल के भारत ईरानी शाखा का एक अंग पैशाची कहा जाता है जिसका क्षेत्र काश्मीर देश है। ये भाषाएँ काश्मीर से लेकर पामीर के पठार के दक्षिण भाग तक बोली जाती हैं। इसके अन्तर्गत शीना, चित्रारि आदि असभ्य बोलियाँ और काश्मीरी साहित्यक बोली है। काश्मीरी बोली पर आधुनिक फारसी अरबी का बहुत प्रभाव पड़ा है, क्योंकि वहाँ की जनता अधिकांश मुस्लिम है। विदेशी प्रभाव के कारण उसका मूलरूप सर्वथा आच्छन्न हो गया। आज काश्मीरी अपने मूलरूप में बहुत कम मिलती है। उसकी भाषा और लिपि दोनों ही उर्दू हो गई हैं।

अपभ्रंश—भारत की प्राचीनतम भाषा वैदिक संस्कृत थी। उसी का परिवर्तित रूप क्रमशः संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश हुआ। देश के भिन्न-भिन्न भू-भाग में अपभ्रंश अपने-अपने प्रान्तीय नाम से प्रचलित थीं। पश्चिमोत्तर में कैकेयी अपभ्रंश थी जो आधुनिक पश्चिमी पंजाब की भाषा थी। ब्राचड़ अपभ्रंश सिंध की भाषा थी। शौरसेनी अपभ्रंश मध्यप्रदेश की भाषा थी। पूर्वी पंजाब, राजस्थान, मध्य भारत का पश्चिमी भाग, पश्चिमी उत्तर प्रदेश इसी भाषा के अन्तर्गत थे। राजस्थान और गुजरात की नागर अपभ्रंश थी। अर्द्धमागधी अवध, बुन्देलखण्ड और मध्य प्रदेश की बोली थी। मागधी अपभ्रंश का क्षेत्र बिहार, बंगाल, आसाम और उड़ीसा थे। दक्षिण में महाराष्ट्रीय अपभ्रंश बोली जाती थी इन्हीं अपभ्रंशों से आधुनिक आर्यभाषाओं की उत्पत्ति हुई है। विशेष विवरण के लिए देखिए प्रश्न २६ (अपभ्रंश भाषाएँ)।

लहँदा—पश्चिमी मूल भाषा का नाम लहँदा है। पैशाची या केकय अपभ्रंश से पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान) तथा पूर्वी पश्चिमोत्तर प्रदेश की भाषा पश्चिमी पंजाबी या लहँदा का विकास हुआ। इस पर दरद भाषाओं का प्रभाव अधिक पड़ा है। अटक, डेरा गाजी खाँ, रावलपिंडी, लायलपुर आदि में यह बोली प्रयुक्त होती थी। ग्राम-गीतों के अतिरिक्त इसमें कोई साहित्य नहीं है। इसकी अपनी लिपि लंडा है पर यह फारसी लिपि में लिखी जाती है। इसकी चार बोलियाँ लहंदा, मुल्तानी, पोढवास और धन्नी हैं। इसे डिलाही, जटकी, हिन्दीकी या ऊच्ची भी कहते हैं।

बिहारी भाषा—बिहारी-मैथिली, मगही तथा भोजपुरी के वर्ग को कहा जाता है और ये बिहार तथा उत्तरप्रदेश में बोली जाती हैं। इनका उद्भव मागधी अपभ्रंश से हुआ है। मैथिली गंगा के उत्तर तिरहुत और मिथिला की बोली है, मगही गंगा के दक्षिण बिहार की बोली है तथा भोजपुरी बनारस, गाजीपुर तथा बलिया की बोली है। साहित्य केवल मैथिली में है। विद्यापति इसके सिरमौर हैं। लिपि बिहारी तथा महाजनी है। हिन्दी से यह अधिक सन्निकट है।

मध्य पहाड़ी—ये भाषाएं खश अपभ्रंश से निकली हैं। मध्य पहाड़ी के गढ़वाली और कमायूँनी दो रूप हैं। उनमें आधुनिक साहित्य भी कुछ उपलब्ध होता है। लिपि देवनागरी है।

उच्च हिन्दी—यह खड़ी बोली का वह रूप है जो साहित्यिक कहा जाता है। इस भाषा में संस्कृत के तत्सम और अर्द्धतत्सम शब्दों का व्यवहार होता

है, यह उच्च हिन्दी कहलाती है। यूरोपीय विद्वान् इसी को उच्च हिन्दी अथवा नागरी कहते हैं। प्रायः शिक्षित हिन्दू इसी भाषा का प्रयोग करते हैं। इसी हिन्दी में वर्तमान युग का साहित्य निर्मित हो रहा है और यही राष्ट्रभाषा के सिंहासन को भी विभूषित कर रही है।

रेख्ता—फारसी शब्दों के अधिक मिश्रण के कारण कविता में प्रयुक्त उर्दू को रेख्ता (मिश्रित) कहते हैं। इसका व्यवहार मुगलकाल के उत्तरार्द्ध में दिल्ली तथा लखनऊ के दरबारी मुसलमानी कवियों ने किया। अतः मुसलमानों ने उर्दू के इस उन्नत और साहित्यिक रूप को 'रेख्ता' नाम दिया। डा० श्याम-सुन्दरदास ने "रेख्ता' का अर्थ 'निराला' या 'पड़ना' किया है। सम्भवतः मुसल-मानों की इसी गिरी या पड़ी बोली के रेख्ता नाम का विरोध सूचित करने के लिए दिल्ली, मेरठ प्रान्त की भाषा का नाम 'खड़ी बोली' पड गया हो।

सरयम विलि जोंस (१७४६-१७९६)—जोंस साहब कलकत्ता हाइकोर्ट में चीफ जस्टिस थे। यहां आपने संस्कृत का अध्ययन कर यूरोपीय भाषाओं में एक साम्य सूत्र देखा। १७९६ में रॉयल एशियाटिक सोसायटी की स्थापना की और संस्कृत के महत्व की घोषणा की और इसे ग्रीक तथा लैटिन से भी श्रेष्ठ बताया। इस घोषणा पश्चात् यूरोपीय विद्वानों का ध्यान संस्कृत की ओर आकर्षित हुआ।

योकोव ग्रिम (१८८५-१८६३)—इनका जन्म जर्मनी में एम वकील के घर हुआ था। प्राचीन जर्मन भाषा का इन्होंने अध्ययन किया तथा सगोत्रीय भाषाओं में इसकी तुलना की। ग्रिम की सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तक उनका देवभाषा व्याकरण (Deutsche Grammatik) है। यह जर्मन भाषा का व्याकरण १८१९ में प्रकाशित हुआ। इसके दूसरे संस्करण में ध्वनि-प्रकरण में एक नवीनता थी तथा उसमें वर्ण-परिवर्तन का विवेचन किया गया है, जिसे बाद में ग्रिम-नियम कहा जाने लगा था। जीवन के अन्तिम चरण में ग्रिम बर्लिन में अध्यापक थे और अन्त तक भाषा-विज्ञान सम्बन्धी कार्य करते रहे थे।

फान्त्स बॉप—इन्होंने पेरिस वे जाकर संस्कृत का अध्ययन किया। बॉप तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के पिता कहे जाते हैं। १९वीं सदी के दूसरे चरण में इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'तुलनात्मक व्याकरण' प्रकाशित हुई। तुलनात्मक व्याकरण की प्रथम पुस्तक यही है। विद्वान् लेखक ने संस्कृत, जेंद, अर्मीनियन, ग्रीक, लैटिन, लिथुआनियन, प्राचीन स्लावियन, गॉथी तथा जर्मन का तुलना-त्मक व्याकरण दिया है। ये संस्कृत, ग्रीक, लैटिन का मूल स्रोत एक मानते

थे। बॉप ने संस्कृत तथा ग्रीक भाषाओं के स्वराघात पर प्रकाश डाला है।

रुडल्फ राथ (१८२१-१८९५)—ये संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान् तथा भाषा-शास्त्र-वेत्ता थे। इन्होंने भाषा-शास्त्री ओटो बालटिक के साथ St. Petersburg Dictionary नामक संस्कृत का एक बहुत बड़ा कोश तैयार किया। इस कोश की विशेषता यह है कि प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति और धातु तक दी गई है।

फ्रेड्रिख मैक्समूलर (१८२३-१९००)—भाषा-विज्ञान को अधिक लोकप्रिय बनाने का कार्य मैक्समूलर ने किया। इनकी शैली इतनी रोचक थी कि बहुत से लेखक उससे प्रभावित होकर भाषा-विज्ञान की ओर उन्मुख हुए। १८६१ में इनके अनेक व्याख्यान प्रकाशित हुए जो अनेक व्यक्तियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बने। मैक्समूलर का सबसे बड़ा कार्य भाषा का उद्गम और विकास, विकास के कारण, भाषा की प्रकृति और वर्गीकरण है। ये प्रधानतः साहित्यिक और दार्शनिक व्यक्ति थे। भारतीय भाषा, साहित्य एवं दर्शन को विश्व में उच्च पद पर आसीन करने वाले वही थे। अर्थ-विचार, आर्यों का मूल स्थान तथा नागरी लिपि का प्रचार ये तीन कार्य जो उपेक्षित थे, इनके द्वारा ख्याति को प्राप्त हुए।

जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन—ये बिहार में काम करते थे। भाषा के सम्बन्ध में इनके अतुल ज्ञान का पता इसी से लग सकता है कि सौ भाषाओं का इन्हें पूर्ण ज्ञान था। इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण' ११ जिल्दों में प्रकाशित हुआ है जिसको इन्होंने ३३ वर्ष के कठोर परिश्रम के बाद लिखा। आज तक विश्व के किसी भी देश में भाषाओं की ऐसी पैमाइश नहीं हुई है। आरम्भ में बहुत विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण भूमिका है। जिसमें व्याकरण सहित भारतीय आर्य-भाषाओं का प्रमाणिक इतिहास है। इनकी अन्य कृति 'बिहारी भाषाओं सात व्याकरण' (१८८३-८७), 'पिशाच भाषा' (१९०६), 'कश्मीरी'— दो भाग (१९११) और 'कशमीरी कोश'—चार भाग (१९२४) हैं।

डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी—चैटर्जी वर्तमान समय में भारत के ही नहीं एशिया के सबसे बड़े भाषा-विज्ञान-वेत्ता हैं। 'बंगला भाषा की उत्पत्ति और विकास' इनकी प्रसिद्ध पुस्तक है। इस पुस्तक को वर्तमान भारतीय आर्य-भाषाओं का विश्वकोश कहा गया है, क्योंकि इसकी भूमिका में लगभग सभी भारतीय आर्य-भाषाओं पर प्रामाणिक सामग्री मिल जाती है। डा० चैटर्जी ने 'भाषातत्वेर भूमिका' में भाषा-विज्ञान के सामान्य सिद्धान्तों पर तथा बंगला के

व्याकरण पर भी महत्वपूर्ण कार्य किया है 'बंगला ध्वनि' पर भी इन्होंने विचार प्रकट किये हैं। मूल भारोपीय-भाषा के सम्बन्ध में भी इनका नाम उल्लेख्य है। इनकी 'भारतीय आर्य-भाषा और हिन्दी' भी एक हिन्दी भाषा के ऊपर प्रमुख ग्रन्थ है।

प्रसंग रूप में देखिये—

शौरसेनी—प्रश्न २६ (प्राकृतों के भेद)।
शतम् तथा केन्टुम् समुदाय—प्रश्न ०२ (विभाजन)।
हरियानी—इसे बाँगरू कहते हैं। प्रश्न २९ (बाँगरू)।
छत्तीसगढ़ी – प्रश्न २९।
उर्दू—प्रश्न ३०।
दक्खिनी—प्रश्न ४२।
हिन्दी प्रश्न ३०।
हिन्दवी—प्रश्न ४२।
हिन्दुस्तानी—प्रश्न ३०
व्रज—प्रश्न ०९।
अवधी – प्रश्न २९।
खड़ी बोली—प्रश्न ४१।
यास्क, पाणिनि, कात्यायन—प्रश्न .४

प्रश्न ५२—हिन्दी के राष्ट्रभाषा, राजभाषा, साहित्यिक भाषा तथा मातृभाषा के पहलुओं पर संक्षिप्त तुलनात्मक टिप्पणी लिखिये।

जैसा कि हिन्दी के विवेचन से ज्ञात हो चुका है हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है। राष्ट्रभाषा एक व्यापक शब्द है। राष्ट्र-भाषा उस व्यापक तथा परिनिष्ठित भाषा को कहा जा सकता है, जो समस्त देश में पढ़ाई-लिखाई के काम आ सके या देश का प्रत्येक कार्य चाहे वह जनता से सम्बन्धित हो चाहे सरकार से, उसमें सुगमता से चल सके। हिन्दी आज इसी राष्ट्रभाषा का स्थान लेने जा रही है, क्योंकि हिन्दी भारत के अधिकांश व्यक्तियों की भाषा है। आजकल भारत में अगर किसी भाषा में अंग्रेजी का स्थान ग्रहण करने की सामर्थ्य है तो वह हिन्दी ही है। प्रतिदिन हिन्दी का शब्द-भण्डार विस्तृत हो रहा है तथा इसका क्षेत्र व्यापक होता जा रहा है। उत्तर भारत का तो एक दो भाषा को छोड़कर वह प्रतिनिधित्व करती है। राज-कार्यों या प्रशासनीय कार्यों में प्रयुक्त होने वाली भाषा राजभाषा कहलाती है।

अभी पूर्ण रूप से हिन्दी राजभाषा नहीं बनी है। राजभाषा के रूप में इसका प्रयोग उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार तथा किंचित् रूप से पंजाब और मध्य प्रदेश में होता है। आशा है कुछ समय उपरान्त इसके प्रचार और प्रसार होने पर इसे राजभाषा घोषित कर दिया जाएगा। राजभाषा होने पर सम्भवतः इसका बोल-चाल तथा अन्य सभी कार्यों में प्रयोग अखण्ड भारत में सामूहिक रूप से होने लगेगा।

हिन्दी भाषा का साहित्यिक रूप दिन-प्रतिदिन प्रौढ़ तथा समृद्धिशाली होता जा रहा है। वाङ्मय के किसी भी क्षेत्र में कोई भी ऐसा कोना नहीं रहा है जहाँ हिन्दी भाषा का प्रवेश न हुआ हो। पत्र-पत्रिकाएँ, समाचारपत्र, नाटक, उपन्यास, काव्य, कहानी आदि सभी साहित्यिक विधाओं में इसका सशक्त रूप देखने को मिलता है। साहित्य के दृष्टिकोण से हिन्दी पर्याप्त मात्रा में आत्म-निर्भर हो चुकी है। अतः सभी प्रान्तीय भाषाओं में साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं अपितु सर्वांगीण दृष्टि से यह राजरानी भाषा है।

मातृभाषा उसे कहते हैं जो समाज तथा परिवार में बोली जाती हो। एक शिशु बचपन से ही अपने माता-पिता तथा समाज में जिस भाषा को सीखता है, बोलता है तथा स्वाभाविक रूप से उसके भावाभिव्यक्ति का साधन है, वह उसकी मातृभाषा है। अतः संक्षेप में मातृभूमि से सम्बन्धित भाषा ही मातृभाषा है। अधिकांश रूप में हिन्दी ही भारतीयों की मातृ-भाषा है। इसका बोलचाल का रूप हमारे दैनिक व्यवहार में आता है तथा साहित्यिक रूप में संस्कृत तत्सम शब्दों से युक्त खड़ी बोली का रूप है। खड़ी बोली पहिले केवल एक बोली के रूप में थी लेकिन आज विकसित होकर वह समूचे भारत की राजभाषा तथा राष्ट्रभाषा के रूप में वर्तमान है।

हिन्दी भाषा अधिक व्यापक तथा समर्थ हो गई है। अनेक भाषाओं के प्रचलित रूप भी इसी में समा कर हिन्दी के अपने हो गये हैं। अतः इसका शब्द-भाण्डार अप्रत्याशित गति से बढ़ता जा रहा है। पहिले हिन्दी एक साहित्यिक भाषा थी और अब राजभाषा होकर राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन होने जा रही है। यह निश्चय नहीं कि एक साहित्यिक भाषा ही राजभाषा हो और एक राजभाषा ही राष्ट्र-भाषा हो। प्रारम्भ में अंग्रेजी एक विदेशी भाषा थी परन्तु अंग्रेजों के शासन-काल में राजभाषा हुई और इतनी व्यापक हो गई

कि आज एक प्रकार से राष्ट्रभाषा के रूप में रही है। परन्तु हिन्दी एक साहित्यिक भाषा, राजभाषा और राष्ट्रभाषा की सामर्थ्य रखती है।

प्रश्न ५३—टिप्पणी लिखिए।

अभिश्रुति, स्फुट वाक्य, मूर्द्धन्यीकरण, व्युत्पत्ति शास्त्र के नियम, भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज, वेदों में प्राकृत-तत्व, आदिम भारोपीय भाषा के स्वर, चित्र-लिपि, सूत्रलिपि, ब्राह्मी लिपि, प्रत्यय, विभक्ति, नाद, स्वांस, तालव्य नियम, अर्थ-विज्ञान, उच्चारण-अवयव, ध्वनि-ग्राम, स्वर-भक्ति तथा आगम।

अभिश्रुति—(Umlaut या Vowel mutation)—यह नाम ग्रिम का दिया हुआ है। इसका सामान्य अर्थ है शब्द के किसी आन्तरिक स्वर में बाद के अक्षर में आने वाले किसी अन्य स्वर (अन्य गुण वाला मात्रा वाला नहीं) के कारण परिवर्तन। कुछ विद्वान् यह परिवर्तन कभी-कभी अन्य स्वर, अर्द्ध स्वर और व्यंजन के कारण भी मानते हैं। अभिश्रुति जर्मन की एक विशेषता है। इसमें कभी तो एक स्वर दूसरे के पूर्णतः अनुरूप हो जाता है और कभी उसकी प्रकृति के समान। जैसे प्राचीन gudini : पुरानी अंग्रेजी gyden (देवी)। यहाँ i ने u को प्रभावित करके y कर दिया। डा० चैटर्जी के अनुसार बंगला में भी यह प्रवृत्ति है, जैसे मध्य बंगाली हारिया, आधु० बंगाली हेरे (=खोकर अभिश्रुति में प्रभावित करने वाला स्वर भी समाप्त हो जाता है। पश्चगामी समीकरण से इसमें यही भेद है।

स्फुट वाक्य (Articulate Speech)—मानव-समाज संसर्ग के बिना नहीं रह सकता है। अपने विचार को साथी से कहने के लिए कभी-कभी वह स्फुट वाक्यों का प्रयोग करता है। भावभंगिमा के साथ वह इन स्फुट वाक्यों का प्रयोग भावाभिव्यक्ति के लिए करता है।

मूर्द्धन्यीकरण (Cerebralization)—मूर्द्धन्य संस्कृत ध्वनियों में अधिक महत्वशील है क्योंकि ये ध्वनियाँ अन्य भारोपीय परिवार की भाषाओं में यहाँ तक कि अवेस्ता में नहीं पाई जाती हैं। संस्कृत में इन ध्वनियों के विषय में कुछ नियम हैं। नियम के अनुसार दन्त्य 'न' मूर्द्धन्य 'ण्' में परिवर्तित हो जाता है जब न के पूर्व ऋ, र्, ष्, वर्ण हों; जैसे—ऊर्ण, ऋण, कीर्ण आदि। दन्त्य ऊष्म ध्वनि 'स्' भी इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ओ के बाद मूर्द्धन्य ऊष्म 'ष्'

ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है यथा—करोषि, रामेषु, मातृषु आदि। इसे ही मूर्द्धन्यीकरण कहते हैं।

व्युत्पत्ति-शास्त्र के नियम (Laws of Etymology)—व्युत्पत्ति।शास्त्र शब्द-विज्ञान का एक प्रमुख अंग है। इसमें ध्वनि-विज्ञान, रूप-विज्ञान तथा अर्थ-विज्ञान का सामूहिक प्रयोग है, जिसके आधार पर किसी शब्द का मूल खोजा जाता है। व्युत्पत्ति से अर्थ है मूल शब्द का अर्थ तथा रूप, किस भाषा से सम्बन्ध और किन परिस्थितियों और कारणों से उसमें ध्वनि या अर्थ सम्बन्धी परिवर्तन हुए—इसका यथार्थ लेखा-जोखा किया जाता है। यूनानी शब्द 'एटिमालाजी' का अर्थ यथार्थ लेखा-जोखा (etumos=यथार्थ, logos=लेखा-जोखा) है। संस्कृत में इस शास्त्र को निरुक्त कहा जाता है।

व्युत्पत्ति करने के नियम कुछ इस प्रकार हैं—

(१) जिस शब्द की व्युत्पत्ति देनी हो उसके जीवन का पता लगाकर और उस पर कालक्रमानुसार विचार करके उसके प्रयत्नतम रूप, अर्थ एवं प्रयोग को निश्चित कर लेना चाहिए। (२) दो भाषाओं में एक ध्वनि तथा एक अर्थ के शब्द पाकर और बिना छान-बीन किये दोनों को सम्बद्ध नहीं मानना चाहिए जैसे भोजपुरी के नियर (सं० निकट) और अं० का 'नीअर' (Near नार्स 'नेर' से) में पर्याप्त ध्वनि और अर्थ साम्य होते हुए दोनों असम्बद्ध हैं। (३) किसी शब्द को किसी शब्द (प्राचीन या नवीन) से सम्बद्ध या व्युत्पन्न सिद्ध करने के लिए अर्थ पर विचार करना भी समुचित है तथा अर्थ-परिवर्तन के किसी कारण (भौगोलिक, ऐतिहासिक, सामाजिक नियम या रूढ़ि) की भी खोज कर लेनी चाहिए। (४) शब्दों के किसी ध्वनि-विकार (लोप-आगम आदि) के मुख-सुख मादृश, स्वराघात आदि कारण पर भी व्युत्पत्ति की दृष्टि से विचार किया जाता है। (५) भाषा के विकास के साथ शब्द उच्चारण की दृष्टि से सरल तथा लघु होते जाते हैं। यों इस सिद्धान्त के अपवाद भी मिल सकते हैं। (६) अन्य भाषा से उधार लिये गये शब्दों की सम्भावना पर ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से विचार अपेक्षित है। (७) सम्भवतः देखने में कोई शब्द विदेशी ज्ञात हो पर यथार्थतः वह अपनी प्राचीन भाषा से विकसित हुआ हो और विदेशी भाषा में चला गया हो या विदेशी भाषा से लौट कर आधुनिक काल में आ गया हो। ऐसी अवस्था में शब्द विदेशी कहा जाएगा चाहे उसका मूल देशी है।

जैसे अंग्रेजी शब्द "शैंपू" का मूल हिन्दी शब्द 'चांपना' से है, पर अंग्रेजी माना जाता है। (८) दो भाषाओं के शब्दों में अर्थ और ध्वनि की दृष्टि से साम्य होने से पर अनिश्चित दशा में एक परिवार और वर्ग के जानने पर उसकी व्युत्पत्ति के लिए आदि जननी मूल भाषा का समान शब्द ले लेना चाहिए। जैसे सं० पितृ, अं० फादर, हिन्दी पिता आदि।

भाषा पर आधारित प्रागैतिहासिक खोज (Linguistic Palaentology)—भाषा विज्ञान की यह शाखा इतिहास, सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस खोज से इतिहास के उस अन्धयुग पर जिसके सम्बन्ध में कोई सामग्री प्राप्त नहीं, भाषा के सहारे प्रकाश डाला जाता है। इसमें किसी भाषा के प्राचीन शब्दों को लेकर उस कुल की अन्य भाषाओं के प्राचीन शब्दों की तुलना के आधार पर, उन शब्दों का सम्यक् विश्लेषण कर उनके सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक पक्षों पर विचार किया जाता है। जानवरों के नाम, साथ साथ ही प्रकृति, पर्वत, नदी, पेड़-पौधों तथा ऋतु से सम्बन्धित शब्दों के आधार पर उसके यथार्थ स्वरूप की सम्भावना पर विचार तथा अनुमान किया जाता है। क्रिया 'शब्दों' से उनके सामाजिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। इसमें मानव-विज्ञान, पुरातत्व (Archeology), भूगर्भ विद्या (Geology) भूगोल तथा इतिहास से सहायता लेनी पड़ती है।

वेदों में प्राकृत-तत्व (Prakritism in Veda)—स्वाभाविक रूप से सारल्य प्रवृत्ति भाषा के विकास की जान है। यही सरलता की भावना भाषा के आदिकाल से चली आ रही है। दूसरे शब्दों में भाषा के सम्बन्ध में इसे हम प्राकृत-तत्व भी कह सकते हैं। क्योंकि सामान्य लोगों मे सहज रूप में बोली जाने वाली भाषा प्राकृत कही जाती है। इसका विशेष गुण सहज-वचन-व्यापार है। प्राकृत वैयाकरण अधिकतर यही मानते हैं कि प्राकृत भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं। दूसरी ओर आधुनिक विद्वान् इस मत से सन्तुष्ट नहीं, क्योंकि वे यह मानते हैं कि प्राकृत संस्कृत से उत्पन्न न होकर वैदिक काल की बोलियों से विकसित हुई हैं। यह प्राकृत तत्व वैदिक युग की भाषा में वर्तमान था। जैसा कि पिशेल ने दिया है। कुछ वैयाकरण इसका विश्लेषण 'प्राक्+कृत' अर्थात् पहले से बनी हुई करते हैं और इस रूप में संस्कृत के पहिले की मानते हैं। यदि हम संस्कृत शब्द का रूढ़ अर्थ न लेकर वैदिक काल की समस्त वैभाषिक प्रवृत्तियों के अन्तस्

में निहित एकरूपता वाला अर्थ लें, तो सारी समस्या सुलझ जाएगी। इसी प्राकृत-तत्व के कारण वैदिक व्याकरण और लौकिक व्याकरण में पर्याप्त अन्तर है। एक शब्द के वैदिक में संस्कृत की तुलना में अनेक रूप मिलते हैं। वैदिक संस्कृत में 'पावक' का स्त्रीलिंग 'पावका' पाया जाता है जब कि पाणिनि व्याकरण के अनुसार 'पाविका' होना चाहिए। इसमें भी सारल्य की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। लौकिक संस्कृत में कई ऐसे भी शब्द आ गये हैं जो प्राकृत रूप थे और संस्कृत माने जाने लगे। जैसे वट (∠वृत), लांछन (∠लक्षण), भट्टारक (∠भर्त्ता); मनोरथ (∠मनोऽर्थ) डा० चैटर्जी के अनुसार ये तीन प्राकृत शब्द मारिष(∠सं० मादृशः, प्रा० मारिस=मित्र), इंगाल(∠अंगार), मैरेय (∠मदिरेय सं०)=शराब का प्रयोग लौकिक संस्कृत में बहुत पाया जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक काल में उच्चारण सौकर्य के कारण संस्कृत ध्वनियों के प्राकृत उच्चारण का विकास होने लगा और इसलिए वेद-मन्त्रों के उच्चारण को सुरक्षित करने के लिए प्रातिशाख्य ग्रन्थों और शिक्षाओं का निर्माण हुआ। प्राकृतों की इन वैभाषिक प्रवृत्तियों का विकास ब्राह्मण काल में स्पष्टतः परिलक्षित होने लगा था। यह विभाषा उन लोगों की थी जो आर्य धर्म वैदिक धर्म में विश्वास नहीं रखते थे। इन्हीं को वैदिक साहित्य में "व्रात्य" नाम से अभिहित किया गया है। इन लोगों को वैदिक ध्वनियों में प्रायः ऋ, ऐ, औ, र, स, ष, तथा संयुक्त ध्वनियों के उच्चारण में बड़ी कठिनता प्रतीत होती थी। अतः प्राकृत भाषाएँ प्रायः लौकिक संस्कृत से उत्पन्न न हो कर वेदों में प्राकृत तत्त्वों का विकसित रूप है।

आदिम भारोपीय भाषा के स्वर—ये हैं —

मूल स्वर (क) अति ह्रस्व अ (उदासीन स्वर), (ख) ह्रस्व अ, एँ, ओं, (ग) दीर्घ आ, ए, ओ।

संयुक्त स्वर · इनकी संख्या लगभग छत्तीस थी जो उपयुक्त ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के साथ इ, ऋ, लृ, उ, न्, म् के मिलने से बनते थे, जैसे—अइ, अऋ, आल् तथा आउ आदि।

स्टर्टेवन्ट तथा और भी दूसरे विद्वान् आदिम भारोपीय भाषा के पहिले भी आदिम भारत हित्ताइत (Proto Indo-hittite) भाषा की कल्पना करते हैं। यह भाषा कल्पित आ० भारोपीय की बहिन मानी जाती है। संक्षेप में इसकी

स्वर-ध्वनियाँ निम्न हैं—

स्वर : एँ (e), ए (e), ओं (o), ओ (o), तथा (ə) (अ) (यह स्वरहीन (unaccented) ऐं e का रूप था)। विद्वानों के मतानुसार इन पाँचों स्वरध्वनियों का मूल एं (e) ध्वनि ही थी, सब उसी से विकसित हुए थे।

चित्र-लिपि—मिस्र आदि देशों में चित्र-लिपि से भाव-व्यक्तिकरण की परिपाटी प्रचलित थी। पत्थर, हड्डी काठ, सींघ, हाथी दाँत, पेड़ की छाल, जानवरों की खाल तथा मिट्टी के वर्तन आदि पर ये चित्र बनाये जाते थे। मेसोपोटामिया तथा सुमेरु जाति में नरम ईंटों पर कीलों द्वारा चित्र बनते थे। ईरान के बादशाह, दारा (३२० ई० पू०) के पुराने कीलाक्षर लेख प्राप्त होते हैं। ये चित्र इस प्रकार से थे, जैसे दौड़ते हुए बछड़े के पास पानी का चित्र होने से प्यास के भाव को प्रकट किया जाता है। अस्थिपंजर शेष व्यक्ति के चित्र से दुर्भिक्ष का भाव प्रकट किया जाता था।

सूत्रलिपि—प्राचीन काल में सूत्र, रस्सी तथा पेड़ों की छाल आदि में गाँठ दी जाती थी। किसी बात को याद करने की प्रवृत्ति की भी यह लिपि द्योतक है। आज भी स्मरण के लिए लोग रूमाल आदि में गाँठ देते हैं। पुरु में क्वीपु नाम की डोरियाँ होती हैं। इन रंगों अथवा धागों से इनमें कुछ बाँधकर विविध प्रकार की स्मृतियों और अर्थों का संकेत मिल जाता है। जैसे सफेद डोरी शांति तथा लाल क्रांति का प्रतीक है। ये सकेत उत्तरी अमेरिका की जातियों में प्रचलित हैं।

ब्राह्मी-लिपि—यह लिपि भारत की राष्ट्रीय लिपि थी। कुछ विद्वान इस लिपि की उत्पत्ति ग्रीक, फनीसी, असीरी कीलाक्षर तथा सामी के किसी भी रूप से मानते हैं। वास्तव में ब्राह्मी लिपि भारतवर्ष का मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीन सर्वाङ्ग सुन्दरता से चाहे इसका कर्ता ब्रह्मा माना गया हो या साक्षर समाज तथा ब्राह्मणों की लिपि होने से ब्राह्मी कहलाई हो परन्तु इसको विदेशी लिपि के रूप में कोई ठोस प्रमाण नहीं मिला है। भारतीय विद्वानों ने भी इस मत का समर्थन किया है। ई० पू० ५०० से ३५० ई० तक प्रायः ब्राह्मी का प्रचार रहा। बाद में इससे अनेक लिपियों का जन्म हुआ। जैसे गुप्त लिपि, कुटिल लिपि, नागरी और शारदा लिपि, ग्रन्थ कलिंग, तामिल लिपि आदि।

प्रत्यय—प्रत्यय उस अक्षर या अक्षर-समूह को कहते हैं जो शब्द-रचना के निमित्त शब्द के आगे जोड़ा जाता है। जैसे—'बूढ़ा' के आगे 'पा' जोड़ने से बुढ़ापा इसमें 'पा' प्रत्यय है। ये दो प्रकार के होते हैं—१. कृदन्त या प्रधान, धातु प्रत्यय, २. तद्धित या गौण अथवा अधातु प्रत्यय। कृदन्त का उदाहरण √मन धातु से 'ति' से मति बना है। तद्धित में मति शब्द से 'मान' जोड़कर मतिमान बनाया। अतः प्रथम का सम्बन्ध धातुओं से तथा दूसरों का सुप् पदों से है।

विभक्ति—संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण के विभिन्न रूपों में कारक आदि चिह्न या भेद बताने वाले चिह्नों को विभक्ति कहते हैं। विभक्ति सदा शब्दों के अन्त में आती है। जैसे रावण में 'एण' प्रत्यय से तृतीया या करण विभक्ति का बोध होता है।

नाद—कंठ-पिटक में स्थिर स्वर-तंत्रियाँ दो होठों के समान होती हैं। उनके बीच के अवकाश को काकल कहते हैं। वे स्वर की भाँति कभी एक दूसरे से अलग रहती हैं, कभी इतनी मिल जाती हैं कि हवा का निकलना असम्भव हो जाता है पर जब हवा ऐसी स्थिति में धक्का देकर बाहर निकलती है तब ध्वनि उत्पन्न होती है उसे 'नाद' कहा जाता है।

श्वास—यह नाद का विपरीत रूप है। जब स्वर-तंत्रियाँ एक-दूसरे से दूर रहती हैं और हवा उनमें से होकर बाहर निकलती है तब जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह श्वास कहलाती है।

प्रसंग के लिए देखिए—

तालव्य नियम—प्रश्न २१।
अर्थ विज्ञान—प्रश्न ३।
उच्चारण अवयव—प्रश्न ४७ (ध्वनियंत्र, क्योंकि उच्चारण अवयव ध्वनियंत्र को ही कहते हैं।)
ध्वनि ग्राम (ध्वनि मात्र)—प्रश्न ४७।
स्वरभक्ति, आगम—प्रश्न १६।

———

प्रमुख साहित्यिक प्रकाशन

1. कबीर ग्रंथावली : डॉ. पुष्पपाल सिंह — 80.00
2. जायसी ग्रंथावली : डॉ. श्रीनिवास शर्मा — 100.00
3. विद्यापति पदावली : डॉ. कृष्णदेव शर्मा — 50.00
4. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र : डॉ. देशराज सिंह भाटी — 50.00
5. भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र : डॉ. सत्यदेव चौधरी — 80.00
6. रसखान ग्रंथावली : डॉ. देशराज सिंह भाटी — 50.00
7. रहीम ग्रंथावली : डॉ. देशराज सिंह भाटी — 50.00
8. केशव और उनकी रामचन्द्रिका : डॉ. देशराज सिंह भाटी — 50.00
9. सूरदास और उनका भ्रमरगीत : डॉ. श्रीनिवास शर्मा — 60.00
10. सूरसागर सटीक : डॉ. देवेन्द्र आर्य — 60.00
11. बृहत् साहित्यिक निबन्ध : डॉ. रामसागर त्रिपाठी — 150.00
12. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ : डॉ. शिवकुमार शर्मा — 100.00
13. साकेत की टीका : डॉ. ब्रजभूषण शर्मा — 50.00
14. हिन्दी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि : प्रो. सुरेश अग्रवाल — [illegible]
15. हिन्दी के आधुनिक प्रतिनिधि कवि : प्रो. सुरेश अग्रवाल — [illegible]
16. विनय पत्रिका : डॉ. सुरेश अग्रवाल — 40.00
17. साहित्यिक निबन्ध : डॉ. शान्तिस्वरूप गुप्त — 100.00
18. अशोक निबन्ध सागर : डॉ. विजय कुमार — 30.00
19. कामायनी सटीक (भाष्य) : डॉ. शिवप्रसाद शास्त्री — 60.00
20. हिन्दी भाषा का इतिहास : डॉ. कृष्ण भावुक — 40.00
21. गोदान पुनर्मूल्यांकन : डॉ. राजपाल शर्मा — 50.00
22. हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ. श्रीनिवास शर्मा — 100.00
23. पाश्चात्य काव्यशास्त्र : डॉ. शान्तिस्वरूप गुप्त — 60.00
24. भारतीय काव्यशास्त्र : डॉ. सुरेश अग्रवाल — 60.00
25. अयोध्या काण्ड : डॉ. सतीश कुमार — 60.00
26. बिहारी सतसई भाष्य : डॉ. देशराज सिंह भाटी — 30.00
27. दिनकर और उनकी उर्वशी : डॉ. देशराज सिंह भाटी — 50.00
28. संस्कृत निबन्ध रत्नावली : डॉ. रामचन्द्र वर्मा — 30.00
29. हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल : डॉ. श्रीनिवास शर्मा — 50.00
30. भाषा विज्ञान : डॉ. डी.डी. शर्मा — 70.00
31. उत्तर काण्ड सटीक : डॉ. शिवप्रसाद शास्त्री — 50.00
32. पत्रकारिता के सिद्धांत : डॉ. रमेशचन्द्र त्रिपाठी — 60.00
33. अशोक मानक विशाल हिन्दी शब्दकोश : डॉ. शिवप्रसाद शास्त्री — 300.00
34. अशोक मानक हिन्दी शब्दकोश : डॉ. शिवप्रसाद शास्त्री — 250.00
35. अशोक पॉकेट हिन्दी शब्दकोश : डॉ. शिवप्रसाद शास्त्री — 80.00
36. Ashok Standard Illustrated English-Hindi Dictionary — 225.00
37. Ashok Concise English-Hindi Dictionary — 85.00
38. Ashok Pocket English-Hindi Dictionary — 35.00
39. Ashok Standard Illustrated Hindi-English Dictionary — [illegible]
40. Ashok Medical Dictionary — [illegible]